वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४४ : कि० १ जनवरी-मार्च १९९१

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	अध्यात्म-पद	१
२.	बारहवीं शताब्दी में जैन जातियों का भविष्य —डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	२
३.	गोल्लाराष्ट्र व गोल्लापुर के श्रावक —श्री यशवंतकुमार मलैया	[illegible]
४.	आ० कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण —डा० कमलेशकुमार जैन	१०
५.	नियमसार का विशिष्ट संस्करण प्रस्तावित —डा० रिषभचन्द जैन फौजदार	१२
६.	जैन संस्कृति और साहित्य के पोषक० —डा० गंगाराम गर्ग	१५
७.	धवल पुस्तक ४ का शुद्धि पत्र —पं० जवाहरलाल जैन भिण्डर	१८
८.	जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर —डा० हेमन्तकुमार जैन	२१
९.	निमित्ताधीन दृष्टि —श्री बाबूलाल जैन कलकत्ता वाले	२३
१०.	जरा-सोचिए—संपादक	३१

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

राजधानी में जैन समाज द्वारा : न्याय-प्रतिष्ठा-समारोह

न्यायमूर्ति श्री मिलापचन्द जैन का सम्मान

२४ फरवरी। "भारत की न्याय-प्रणाली जैनधर्म के सिद्धान्तों पर आधारित है।" उक्त उद्गार उच्च न्यायालय के पीठासीन मुख्य न्यायाधीश न्यामूर्ति श्री मिलापचन्द जैन ने दिल्ली जैन समाज के तत्त्वावधान में आयोजित अपने स्वागत सम्मान के अवसर पर प्रकट किये। यह आयोजन वीर सेवा मन्दिर के सदस्यों की ओर से दरियागंज स्थित जैन सीनियर सैकेण्डरी स्कूल के प्रांगण में हुआ। यह पहला अवसर है जब दिल्ली उच्च न्यायालय में किसी जैन ने मुख्य न्यायाधीश के पद को सुशोभित किया है।

इस अवसर पर आचार्य श्री विद्यानन्द जी का आशीर्वाद श्री विमल प्रसाद जैन द्वारा पढ़कर सुनाया गया। समाज के वयोवृद्ध कार्यकर्ता रा. सा. श्री जोती प्रसाद जैन ने माल्यार्पण करके न्यायमूर्ति श्री मिलापचन्द जैन का स्वागत किया। वरिष्ठ पत्रकार एवं समाज के लोकप्रिय नेता श्री अक्षयकुमार जैन ने स्वागत भाषण पढ़ा। समारोह में पूर्व न्यायमूर्ति श्री यू. एन. भछावत, श्री जे. डी. जैन, श्री ज्ञानचन्द जैन व श्री सौभाग्यमल जैन विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित थे। दिल्ली उच्च न्यायालय के वर्तमान न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री सागरचन्द जैन के साथ-साथ दिल्ली-स्थित सभी जैन न्यायाधीशों का इस अवसर पर स्वागत किया गया। समारोह की अध्यक्षता पूर्व न्यायमूर्ति श्री मांगीलाल जैन ने की। दिल्ली जैन समाज के अध्यक्ष श्री प्रेमचन्द जैन, वीर सेवा मन्दिर के पूर्व अध्यक्ष साहू श्री अशोककुमार जैन, पूर्व निगम पार्षद श्री प्रकाशचन्द जैन, जैन कोआपरेटिव बैंक के चेयरमैन श्री महेन्द्रकुमार जैन व श्री शीलचन्द जौहरी ने न्यायमूर्ति श्री मिलापचन्द जैन का स्वागत पारंपरिक ढंग से किया। श्री बाबूलाल जैन ने "अनेकांत" के अंक भेंट किये।

समारोह का शुभारम्भ पं० जुगलकिशोर मुख्तार (संस्थापक वीर सेवा मन्दिर) द्वारा रचित मेरी भावना के पाठ से हुआ। इसे जैन सीनियर सेकेण्डरी स्कूल के बच्चों ने सस्वर गाकर प्रस्तुत किया। मंगलाचरण श्रीमती अनीता जैन ने किया और श्री ताराचन्द प्रेमी ने कविता पाठ किया। वीर सेवा मन्दिर के अध्यक्ष श्री शान्तिलाल जैन ने अतिथियों का आभार प्रकट किया। समारोह का संचालन संस्था के महासचिव श्री सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन) ने किया। समारोह में दिल्ली जैन समाज के कई सौ गणमान्य नेताओं-कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त बाहर के भी बहुत से प्रमुख जैन उपस्थित थे। समारोह के पश्चात् सभी अतिथियों का सामूहिक प्रीतिभोज सम्पन्न हुआ और अतिथियों को वीर सेवा मन्दिर का साहित्य भेंट किया गया। श्री भारतभूषण जैन ऐडवोकेट व श्री नन्हेंमल जैन ने अतिथियों की अगवानी की।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

ओम् अर्हम्

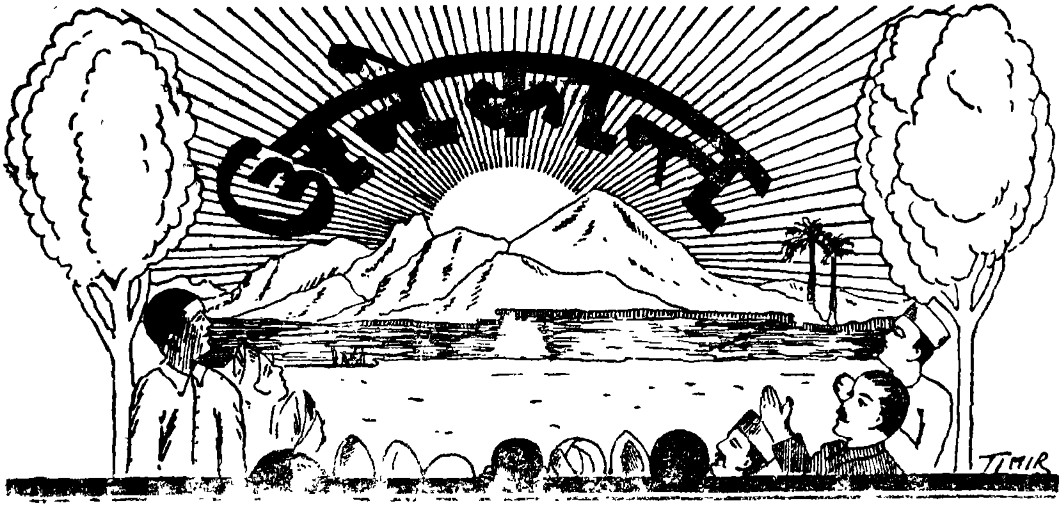

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४४ किरण १ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०४८ | जनवरी-मार्च १९९१

अध्यात्म-पद

चित चितके चिदेश कब, अशेष पर बमूं ।
दुखदा अपार विधि-दुचार-की, चमूं दमूं ।। चित० ।।
तजि पुण्य-पाप थाप आप, आप में रमूं ।
कब राग-आग शर्म-बाग-दाघनी शमूं ।। चित० ।।
दृग-ज्ञान-भान तैं मिथ्या अज्ञानतम दमूं ।
कब सर्व जीव प्राणिभूत, सत्त्व सौं छमूं ।। चित० ।।
जल-मल्ललिप्त-कल मुकल, सुबल्ल परिनमुं ।
दलकें त्रिशल्लमल्ल कब, अटल्लपद पमूं ।। चित० ।।
कब ध्याय अज-अमर को फिर न भव विपिन भमूं ।
जिन पूर कौल 'दौल' को यह हेतु हौं नमूं ।। चित० ।।

—कविवर दौलतराम कृत

भावार्थ—हे जिन वह कौन-सा क्षण होगा जब मैं संपूर्ण विभावों का वमन करूँगा और दुखदायी अष्टकर्मों की सेना का दमन करूँगा। पुन्य-पाप को छोड़कर आतम में लीन होऊँगा और कब सुखरूपी बाग को जलाने वाली राग-रूपी अग्नि का शमन करूँगा। सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूपी सूर्य से मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी अंधेरे का दमन करूँगा और समस्त जीवों से क्षमा-भाव धारण करूँगा। मलीनता से युक्त जड़ शरीर का शुक्ल ध्यान के बल से कब छोडूंगा और कब मिथ्या-माया-निदान शल्यों को छोड़ मोक्ष पद पाऊँगा। मैं मोक्ष को पाकर कब भव-वन में नहीं घूमूंगा? हे जिन, मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी हो इसलिए मैं नमन करता हूँ। □□

१२वीं शताब्दी में जैन जातियों का भविष्य

□ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

दिगम्बर जैन समाज में ८४ जातियाँ मानी जाती हैं। प्राचीन जैन कवियों ने जब जातियों की संख्या और नाम गिनाये तो उन्होने भी उसे ८४ नामों तक ही सीमित रखा। लेकिन जब मैंने खण्डेलवाल जैन समाज का वृहद् इतिहास[1] लिखने के लिए जैन जातियों के नामों की खोज प्रारम्भ की तो पता चला कि प्रत्येक कवि की सूची में कुछ प्रमुख जातियों के नाम तो एक-दूसरे से मिलते हैं लेकिन अधिकांश नाम ऐसे हैं जिनको दूसरे विद्वानों ने नहीं गिनाये है। इस प्रकार जैन जातियों के नामों की सख्या बढ़ते-बढ़ते २३७ तक जा पहुची।[2] इस सम्बन्ध में और भी खोज की आवश्यकता है। हो सकता है इस संख्या में और भी वृद्धि हो जावे। लेकिन यह भी आश्चर्य है कि संस्कृत विद्वानो ने जातियों के नामों को गिनाने वाली किसी कृति की रचना नहीं की।

महाकवि ब्रह्म जिनदास प्रथम हिन्दी कवि हैं जिन्होंने १५वी शताब्दी मे चौरासी जाति जयमाल लिखी।[3] इसके पश्चात् कविवर विनोदीलाल एवं पं० बखतराम शाह का नाम आता है जिन्होंने फूलमाल पच्चीसी में इन जातियों के नामो को गिनाया। बखतराम साह ने इन बुद्धि विलास मे जातियो के नामों को गिनाकर महत्वपूर्ण कार्य किया।[4] ब्र० जिनदास ने जिन ८४ जातियों का नामोल्लेख किया है उनमे विनोदीलाल के गिनाये हुए नामों में केवल २८ जातियो के नाम मिलते हैं। उन जातियो के नाम ऐसे हैं जिनका उल्लेख केवल ब्रह्म जिनदास ने ही किया है। विनोदीलाल ८४ जातियों के नामों के स्थान पर केवल ६७ जातियो के नाम ही गिना सके हैं। इसी तरह बखत-राम साह द्वारा ८४ जातियो के पूरे नाम गिनाने पर भी ४६ जातियो के नाम तो ऐसे है जिनको न तो ब्रह्म जिन-दास गिना सके है और न विनोदीलाल ने गिनाये हैं। वे तो हूंबड जाति जैसी प्रसिद्ध जाति का नाम भी भूल गये। उन्होंने यह भी लिखा है कि ८४ जातियों के नामों को उन्होंने ५-७ पोथियों को देखने के पश्चात् लिखे हैं। यदि इसमें कहीं भूल हो तो पाठक गण उसे सुधार सकते हैं :—

पोथी पांच सात को देखि, करि विचार यह कीनों लेख।
या मे भूल्य चूक्यो होत, ताहि सुधारी लेहु भवि जोय॥६००

इसी तरह सन् १९१४ में एक जैन डाइरेक्टरी का प्रकाशन[5] हुआ था। उसमे जैन जातियों के ८७ नाम गिनाये है और प्रत्येक जाति की संख्या भी लिखी है जिसके अनुसार जैन समाज की पूरी संख्या ४५०५८४ लिखी है। लेकिन यह सख्या सही प्रतीत नही होती क्योंकि सन् १९०१ की जनगणना में समस्त जैनों की संख्या १३,३४,१८८ आई थी इसलिए इस दृष्टि से भी दिगम्बर जैन समाज की सख्या ७ लाख से कम नहीं होनी चाहिए। जैन डाइरेक्टरी मे गिनाई गई ८७ जातियों मे से नूतन जैन, बडेले, धवल जैन, भवसागर, इन्द्र जैन, पुरोहित, क्षत्रिय, नगर, मिश्र जैन, संकवाल, गांधी जैसे नाम वाली जातियों को गिनाया गया है जिनमें प्रत्येक की संख्या ५० से भी कम है। नगर जाति की संख्या केवल ८ बताई गई है इसी तरह दूसरी जातियाँ भी हैं।

हम यह कह सकते हैं कि दिगम्बर जैनों में ८४ जातियाँ मानने की परम्परा रही है किन्तु उनके नामों में समानता नही रही। क्षेत्र और प्रदेश के अनुसार जातियाँ बनती बिगड़ती रही हैं। इसके अतिरिक्त और भी ऐसी बहुत-सी जैन जातियां थीं जिनके अस्तित्व का आज पता भी नहीं लगता। मेडतवाल जाति पहिले दिगम्बर जैन जाति थी। बारां (राजस्थान) में नगर के बाहर जो नसियां है उसमें सवत् १२२४ की लेख वाली प्रतिमा को किसी मेडतवाल बन्धुओं ने प्रतिष्ठित कराई थी।[6] ब्रह्म जिनदास एवं बखतराम साह दोनों ने मेडतवाल जाति का

नामोल्लेख किया है लेकिन आज जितने भी मेडतवाल हैं प्रायः सभी वैष्णव धर्मानुयायी हैं। इसी तरह और भी बहुत सी जातियां हैं जो या तो लुप्त हो गई या अन्य धर्मावलम्बी बन गई

दक्षिण भारत में चतुर्थ, पंचम, कासार, बोगार जैसी जातियों का नामोल्लेख तो हुआ है लेकिन वहाँ और भी कितनी ही कट्टर दिगम्बर धर्मानुयायी जातियां हैं जिनका डाइरेक्टरी में अथवा अन्य जाति जयमाल में उल्लेख नही हुआ। ऐसी जातियों मे उपाध्याय जाति का नाम लिया जा सकता है जिसका किसी भी कवि ने उल्लेख नहीं किया इसी तरह खरौआ, मिठौआ, बरैय्या जैसी वर्तमान में उपलब्ध होने वाली जातियों का भी उल्लेख नहीं मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न तो प्राचीन काल में और न वर्तमान युग मे अर्थात् २०वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक हम यह पता नही लगा सके कि दि० जैन समाज में जातियों की संख्या कितनी है और उनकी सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति क्या है। हमारी समाज में तीन अखिल भारतीय संस्थायें हैं लेकिन किसी भी सभा के कार्यालय मे दिगम्बर जैन समाज की सम्पूर्ण जातियों के नाम नहीं मिलेंगे। इसलिए हिन्दी कवियों ने भी उनको जितनी जातियों के नाम मिले उनका अपनी कृति मे नामोल्लेख कर दिया।

वर्तमान मे उत्तरी भारत में खण्डेलवाल, अग्रवाल, परवार, जैसवाल, गोलापूर्व, गोलालारे, गोलसिंगारे, बघेरवाल, हुंबड, नरसिंहपुरा, नागदा, पल्लीवाल, पद्मावती पुरवाल तथा दक्षिण भारत में चतुर्थ, पंचम एवं सेतवाल जैसी जातियां प्रमुख जातियां हैं। ये सभी जातियां सुरक्षित रहें तथा जाति-बंधन शिथिल नहीं जाने पावे। इसलिए २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सभी जातियो द्वारा अपनी-अपनी जातीय महासभायें स्थापित की गई जिससे उनके माध्यम से अपनी जाति पर नियंत्रण रखा जा सके। इसी दृष्टि से खण्डेलवाल जैन महासभा, दिगम्बर जैन अग्रवाल महासभा, परवार महासभा, जैसवाल महासभा, बघेरवाल महासभा, पल्लीवाल महासभा जैसी जाति गत महासभायें स्थापित की गई। इन जातीय सभाओं का उद्देश्य जातीय सुधारों को लागू कराना, बाल विवाह, वृद्ध विवाह अनमेल विवाह निषेध के प्रस्ताव पास करना, विवाहों मे वेश्या नृत्य बन्द करना, फिजूल खर्ची कम करना शिक्षा के विद्यालय खुलवाना, बोर्डिंग हाऊस खुलवाने जैसे प्रस्ताव पास किये जाने लगे थे लेकिन धीरे-धीरे ये सभाये भी लड़ाई-झगड़े का प्लेट फार्म बन गई जिससे लोगो मे जातीय महासभाओं के प्रति उदासीनता छा गई। खण्डेलवाल जैन महासभा सन् १६३२ मे स्थापित हुई थी और केवल २० वर्ष चलने के पश्चात् बन्द हो गई। यही स्थिति दिगम्बर जैन अग्रवाल महासभा की हुई। लेकिन छोटी-छोटी जातियो की सभायें आज भी चल रही है। बघेरवाल महासभा, पल्लीवाल महासभा, जैसवाल महासभा जैसे नाम आज भी सुने जाते है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने से वह अपनी समाज में घूमना अधिक पसन्द करता है। अपनी-अपनी जातियो मे उसको मान-सम्मान अधिक मिलता है। विवाह शादी के लिए उसे अधिक नही घूमना पड़ता। छोटी अर्थात् कम सख्या वाली जातियो की सभाओ का जीवित रहने का भी एक प्रमुख कारण है।

जातीय सभाओं की स्थापना दि० जैन महासभा के सन् १६३० में स्वीकृति प्रस्ताव के आधार पर की गई। उस समय महासभा ही एक मात्र अखिल भारतीय स्तर की संस्था थी। लेकिन वर्तमान में अखिल भारतीय स्तर की तीन सामाजिक संस्थायें हैं जातियो की सुरक्षा एवं संवर्धन के सम्बन्ध में जिनके विचारों में साम्यता अथवा समानता नही है। महासभा जातियों का वही प्राचीन स्वरूप रखने के पक्ष में है वह अन्तर्जातीय विवाहो का कट्टर विरोध करती है। हमारे अधिकांश आचार्य एवं मुनिगण भी इसी विचार का समर्थन करते है दूसरी ओर परिषद् एव महासमिति अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन देती है। विचारों की इस टकराहट का जातियों की सुरक्षा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है जिसको स्वीकार करने मे किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि २१वी शताब्दी में इन जातियों का क्या भविष्य होगा ? क्या उनका स्वरूप ऐसा ही बना रहेगा या फिर उसमें परिवर्तन आवेगा। यदि परिवर्तन

आवेगा तो फिर उसका रूप क्या होगा। हमारा सामाजिक स्वरूप कैसा होगा। यह सब गहन चिन्तन का विषय है जिस पर प्रस्तुत निबंध मे विचार किया जावेगा। वैसे २१वी शताब्दी लगने मे अभी १० वर्ष शेष हैं तथा २१वीं शताब्दी पूरे होने में १०० वर्ष लगेंगे इसलिए ११० वर्षों मे हमारी ५ पीढियां निकल जावेगी और जैसी इन पीढ़ियो की शोध होगी जातियों के अस्तित्व पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ेगा।

१. समाज मे उच्च शिक्षा का और अधिक प्रचार होगा। प्रजातत्र होने के कारण सबको उच्च शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर मिलेगा। मेडिकल, इंजीनियरिंग, छोटे-बड़े उद्योगों मे, व्यापारिक संगठन, राज्य एव केन्द्र सरकार की नौकरियों मे उच्च अधिकारी, विदेशो मे परिभ्रमण, भोग-विलास ऐश आराम की सामग्री मे सीमातीत वृद्धि, खान-पान मे बदलाव, जैसे साधन हमें प्राप्त होगे। ये सब चिन्ह अथवा कारण भविष्य मे जातियो के स्वरूप मे बदलाव की अपेक्षा रखते है।

२. दूसरा कारण युवकों मे जैनत्व के प्रति आस्था होने के उपरान्त भी जाति बंधन को वे अभी दबी जबान मे स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण जैन एक हैं। एक ही उनकी संस्कृति है इसलिए उनकी कौन-सी जाति है उनका क्या गोत्र है। मा कौन से गोत्र की है इन सब बातो की ओर ये जाने में हिचकिचाहट करने लगे है। युवको के ये विचार भी जाति बधन पर बुरा असर डालने वाले है। और २१वी शताब्दी मे जातियो के स्वरूप पर प्रश्न चिन्ह लगाते है।

३. जैन समाज पहिले गांवो में अधिक संख्या में था तथा नगरो मे कम रहना पसन्द किया जाता था लेकिन वर्तमान मे छोटे-छोटे गांव उजड़ने लगे है। वहां के जैन बन्धु रोजगार की तलाश के लिए शहरो की ओर दौड रहे है इसलिए आज कलकत्ता, बम्बई, देहली, जयपुर, इन्दौर, जबलपुर, सागर, कानपुर जैसे बड़े नगरों में जैन जनसख्या बहुत बढ गई है। नगरों एवं महानगरों मे रहने के कारण हम स्वच्छन्द मनोवृत्ति के हो गये है। खानपान, रहन-सहन, धार्मिक कट्टरता, एक दूसरे की लाज-शर्म सब पर बुरा प्रभाव पड़ने लगता है। छोटे-छोटे गांवों में एक दूसरे को देखकर असामाजिक कार्य करने में डर लगने लगता है जबकि शहरों मे वह डर निकल जाता है। और ये सब कारण भी हमारे जातीय बंधन पर बुरा प्रभाव डाल सकते है।

४. जातीय बंधन का मुख्य लाभ विवाह शादी के नियमों का पालन करना है। गरीब अमीर सभी एक दूसरे के साथ जुड़ जाते हैं। गरीब की लड़की स्वजातीय अमीर के घर चली जाती है और अमीर की लड़की का सबंध गरीब युवक के साथ हो जाता है लेकिन अब हमारे युवको मे पैसे के प्रति आकर्षण है। ऊंचा से ऊंचा दहेज लेना चाहते है इसके अतिरिक्त सुन्दर से सुन्दर लडकी की तलाश की जाती है। इसलिए उसे जहां भी अधिक पैसा मिले अथवा सुन्दतम लड़की मिले वहीं वह अपनी जातीय सीमाओं को तोड़कर भी विवाह करना चाहने लगा है। हमारी इस मनोवृत्ति मे भी दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है और इस मनोवृत्ति के कारण भी जातीय स्वरूप कितना सुरक्षित रह सकेगा यह चिन्तनीय विषय है।

५. धनाढ्य, उच्चाधिकारी, विदेशो में भ्रमण करने वाले अथवा विदेशों में रहने वाले जैन बंधु जाति बंधन को अच्छा नही मानते। वर्तमान मे जितने भी जातीय सीमाओ को तोड़ने के उदाहरण ऐसे घरों में अधिक मिलेंगे। हमारी इस मनोवृत्ति मे धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है। २१वी शताब्दी में यह हमारी जाति प्रथा पर कितना प्रभाव जमा सकेगी यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

६. लेकिन इतना होने पर भी समाज की छोटी जातियों पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ेगा क्योंकि वहां जातीय सभाओ का समाज पर कन्ट्रोल बना रहेगा और उस जाति के व्यक्ति अपनी जातीय सीमाओं को तोड़ने में आगे आना नही चाहेगे।

७. यह भी सही है कि जातियां कभी समाप्त नहीं होंगी। जब समस्त हिन्दू समाज मे जातियां हैं और वहां भी जातीय सीमाओ मे रहना अच्छा समझा जाता है तो फिर जैन समाज मे भी जातिया पूर्ववत चलती रहेगी।

(शेष पृ० ६ पर)

गोल्लाराष्ट्र व गोल्लापुर के श्रावक

□ यशवंत कुमार मलैया

विद्वानों का यह अनुमान रहा है कि तीन जैन जातियाँ गोलापूर्व (गोल्लापूर्व), गोलालारे, गोलाराडे व गोलसिंघारे (गोलश्रृंगार) किसी एक ही स्थान से उत्पन्न हुई हैं।[1] इनके अलावा गोलापूर्व नाम की एक बड़ी ब्राह्मण जाति भी है। गोल्लादेश का कुछ जैन ग्रन्थों मे व शिलालेखों मे भी उल्लेख है। इस स्थान के बारे मे विद्वानो के अलग-अलग मत रहे है।

१. खटौरा (बुंदेलखड) के निवासी नवलसाह चदेरिया ने १७६८ ई० मे वर्धमान पुराण की रचना की थी। इसमे गोलापूर्व जाति की उत्पत्ति गोयलगढ से बताई गई है, जिसे विद्वानो ने ग्वालियर माना है[2]। वर्धमानपुराण में दी गई अन्य बातें ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण पाई गई हैं।

२. नाथूरामजी प्रेमी ने इस विषय में लिखा था कि सूरत के पास गोलाराडे नाम की एक जाति रहती है। उनके अनुमान से यही जाति बुंदेलखंड मे आकर गोलालारे कहलाई। अत: गोल्ला स्थान सूरत के पास कही होना चाहिए[3]।

३. स्व० परमानन्दजी शास्त्री का मत था कि गुना जिले मे गोलाकोट नाम के स्थान से गोलापूर्व जाति की उत्पत्ति हुई[4]।

४. सन् १९४० में प्रकाशित गोलापूर्व डाइरेक्टरी के लेखक न्यायतीर्थ मोहनलालजी का अनुमान था कि गोलापूर्व जाति तत्कालीन ओरछा स्टेट से निकली है।

५. रामजीतजी जैन ने इन जातियों की उत्पत्ति की सम्भावना श्रवणबेल्गोला से बताई है[5]।

जिस प्रकार गुर्जर जाति के कारण गुजरात, मालवगण के कारण मालवा आदि नाम हुए, उसी प्रकार गोल्ला जाति का राज्य होने से गोल्ला देश हुआ होगा। गोल्ला संस्कृत के गोप या गोपाल एवं हिन्दी के ग्वाल, गावला आदि का ही रूपांतर है[6]। दक्षिण भारत की कई ग्वाल जातियाँ आज भी गोल्ला कहलाती है[7]। महाभारत मे गोपराष्ट्र नाम के एक जनपद का उल्लेख है। गोपराष्ट्र मे बसने से ही गोलाराडे जाति का नाम हुआ होगा[8]। गोपराष्ट्र में राष्ट्र शब्द होने से किसी किसी ने अनुमान किया है कि यह महाराष्ट्र के आसपास होना चाहिए, पर इसका कोई अन्य आधार नही है[10]।

गोल्ला देश की स्थिति के निर्धारण के लिए ये तथ्य विचारणीय हैं—

१. गोलालारे जाति का "पाट" भिंड कहा गया है[11]। गोलालारे भिंड जिले के पावई नाम के स्थान के प्राचीन निवासी माने गये है। सन् १९१४ में गोलालारा की सबसे अधिक जनसंख्या ललितपुर के बाद भिंड मे ही थी। गोलालारे जाति की वृद्धश्रेणी खरौआ कहलाई। १८वीं सदी तक यह स्वतन्त्र जाति बन गई। खरौआ व गोलसिंघारे जातियो का अधिकतर निवास भदावर क्षेत्र में (भिंड इटावा के आसपास) रहा है। मिठौआ गोलालारे यहाँ से ही आकर बुंदेलखड मे बसे हैं[12]।

२. गोलापूर्व ब्राह्मण आगरा इटावा आदि जिलों में बसते है। इनकी जनसंख्या कुछ लाख बताई गई है[13]। इन्हे सनाढ्य ब्राह्मणों की शाखा माना गया है[14]। सनाढ्य ब्राह्मणों का निवास भी इसी क्षेत्र के आसपास है[15]।

३. श्रवणबेल्गोला के ३ लेखो मे व कर्णाटक मे ही पाये एक अन्य लेख मे किन्ही गोल्लाचार्य की शिष्य परपरा में हुए कुछ जैन मुनियों का उल्लेख है। यह कहा गया है कि ये दीक्षा के पूर्व गोल्लादेश के राजा थे। इन्हे 'नूत्न चंदिल्ल" (अर्थात् चन्देल) वश का कहा गया है[16]। चन्देलों की राजधानी महोबा खजुराहो मे थी व उनके राज्य का विस्तार ग्वालियर और विदिशा तक रहा था[17]।

४. सातवी शताब्दी मे उद्योतनसूरि द्वारा लिखे कुव-

लयमालाकहा मे कई देशभाषाओं के नाम दिये हैं। इनमें गोल्ला के अलावा ये देश गिनाये गये हैं—ताजिक, टक्क, कीर, सिंधु, मरु, मध्यदेश, अन्तर्वेद, कोशल, मगध, गुर्जर, मालव, महाराष्ट्र, आंध्र व कर्णाटक[१८]। गोल्ला देश को छोड़कर अन्य सभी देशों की पहिचान आसानी से की जा सकती है। यदि इन देशो को व आदिवासी क्षेत्रों को निकाल दिया जाये, तो भारत के बीचों-बीच एक बड़ा भूखण्ड बचता है। मथुरा से विदिशा तक इस भूखण्ड में बोले जाने वाली भाषा ब्रज या बुंदेली कहलाती है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ब्रज व बुंदेली बोलियाँ एक ही हैं। अतः गोल्ला देश-भाषा ब्रज-बुंदेली का ही पुरोना रूप होना चाहिए[१९]।

५. वर्तमान गुजरात प्राचीन गुजरात के दक्षिण मे है। प्राचीन गुजरात के श्रीमाल आदि स्थान अब राजस्थान मे हैं[२०]। प्राचीन मालव जनपद भी वर्तमान मालवा के उत्तर मे था[२१]। प्राचीन चेदि यमुना के निकट था[२२]। कलचुरियों के राज्यकाल तक यह दक्षिण की ओर खिसक कर वर्तमान रीवां, जबलपुर आदि स्थानों तक आ गया। कोशल के निवासियों के दक्षिण में आकर बसने से दक्षिण कोसल बना[२३]। इससे पता चलता है कि उत्तर भारत मे दक्षिण की ओर आकर बसने की प्रक्रिया चलती रही है।

६. वर्तमान ब्रज-बुंदेली भाषी क्षेत्र मे अनेक स्थानों परवाल जाति अब भी बड़ी संख्या में बसती है[२४]।

उपरोक्त बातों से पता चलता है कि प्राचीन गोल्लाराष्ट्र या गोल्लादेश मथुरा, ग्वालियर के आसपास कही था। कालांतर में यह दक्षिण की ओर विदिशा के आसपास तक फैल गया। नवमीं शती के मध्य मे चंदेलों का उदय हुआ। चदेल जयशक्ति या जेजा के नाम पर उनका राज्यक्षेत्र जेजाभुक्ति या जैजाकभुक्ति कहलाया[२५]। कालान्तर मे जहाँ-जहाँ बुदेलो का राज्य हआ, वह क्षेत्र बुंदेलखड कहलाया। चन्देलो की राजधानी पूर्वी कोने में होने से पश्चिमी भाग अधीनस्थ सामंतों के शासन में रहा। ग्वालियर के कच्छपघात काफी समय तक चन्देलों के अधीनस्थ थे। दुधई विषय मे ग्यारहवी शती के आरम्भ मे सामत देवलब्धि का शासन था जो चन्देल राजा यशोवर्मन का पौत्र था। कीर्तिगिरि (देवगढ़) का किला कीर्तिवर्मन आमात्य वत्सराज ने १०८९ ई० में बनवाया[२६]।

मथुरा से विदिशा तक का प्रदेश जैनो के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। ईस्वी पूर्व पहली-दूसरी शदी से चौथी सदी ई० तक यह क्षेत्र दिगम्बरो व श्वेताम्बरो दोनों का ही केन्द्र था[२७]। इस काल की कई मूर्तियाँ मथुरा और विदिशा के आसपास पाई गयी हैं। कई जैन जातियाँ इसी क्षेत्र से अलग-अलग समय पर निकली हैं या यहां विकसित हुई हैं। इनमे लमेंचू, बुढ़ेले[२८], गोलालारे, खरौआ[२९], माथुर, गोलापूर्व, गोलासिंघारे, जैसवाल[३०], धाकड़, पद्मावतीपुरवाल[३१], बरैया[३२], गृहपति, परवार एवं भोजक ब्राह्मण शामिल हैं। सम्भवतः इसी कारण से जैन ग्रन्थों व लेखों मे इस क्षेत्र के लिए एक विशेष नाम गोल्लादेश का प्रयोग किया गया था।

हमारी गणना से चन्देल राजा देववर्मन ही गोल्लाचार्य हुए। यह अलग विस्तार से विवेचन की बात है[३३]। देववर्मन को सिंहासन पर बैठे कुछ ही वर्ष हुए थे जब कलचुरि राजा लक्ष्मीकर्ण ने आक्रमण करके चन्देल राज्य के प्रमुख भाग पर अधिकार कर लिया[३४]। सम्भवतः देववर्मन के पुत्र की युद्ध में मृत्यु हुई[३५]। देववर्मन ने उद्विग्न होकर राज्य त्याग कर दिया व उसके छोटे भाई कीर्तिवर्मन को राज्य मिला। गोपाल नाम के सामंत की मदद से कीर्तिवर्मन ने चन्देल राज्य पुनः स्थापित किया। चंदेल राज्य की वंशावलियों मे कही भी देववर्मन का नाम नहीं है, उसका नाम केवल उसके ही दो लेखों मे प्राप्त हुआ है[३६]।

गोलापूर्व नाम में "पूर्व" शब्द का क्या अर्थ है? इसे किसी-किसी ने पूर्व दिशा सम्बन्धी व किसी-किसी ने पूर्व काल सम्बन्धी माना जाता है। यहाँ पर ये बातें विचार योग्य हैं।

१. मध्यमिका नगरी (राजस्थान) एक के सं० ४८१ के लेख में "मालवपूर्व्वायां" शब्द हैं, परन्तु यहां पर मंतव्य मालवों के सवत के अनुसार है[३७]।

२. नवलसाह चन्देरिया ने ८४ जातियों की सूची लिखी है जिसमे अजुध्यापूर्व जाति का उल्लेख है[३८]। संभवतः यही अब अयोध्यावासी कहलाते हैं। वर्तमान शताब्दी

के आरम्भ तक इनमें कुछ जैन थे[३९]। ये बुन्देलखंड के वासी हैं। आहार के कुछ चन्देलकालीन लेखों में अवध-पुरान्वय या अवध्यापुरान्वय का उल्लेख है[४०]। अवध्यापुर या अयोध्यापूर्व एक ही होना चाहिए।

३. डोभकुंड के १०८८ ई० के लेख में जैसवाल जाति के प्रतिष्ठापक को "जायसपुरविनिर्गत" वंश का कहा गया है। जैसवाल जायस नगर से निकले माने गये है[४१]।

अतः गोल्लापूर्व का अर्थ गोल्लापुर या ग्वालपुर नगर के निवासी होना चाहिए। यह नगर कहाँ है ?

"ग्वालियर" शब्द में "ग्वाल" गोप या गोल्ला का ही रूपांतर है। परन्तु इस शब्द के उत्तरार्ध की उत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। पुस्तकों व शिलालेखों में इसे गोपाद्रि, गोपाचल आदि कहा गया है। सन् १४९५ में कवि मानिक ने इसे ग्वालियर ही लिखा था। कश्मीर में जैनुलब्दीन के दरबार में जीवाज (१५वी सदी) ने इसे गोपालपुर लिखा था[४२]। प्राकृत में अक्सर 'प' का 'व' होता है, अपभ्रंश में 'व' का भी रूपांतर हो जाता है। मुसलमान लेखकों ने इसे गालेयूर लिखा है। यह ग्वालपुर का रूपांतर लगता है। ग्वालियर शब्द ग्वालखेट का भी रूपांतर हो सकता है जो ग्वालपुर का समानार्थी है।

एक-दो अपवादो को छोड़कर उत्तर भारत की जैन जातियो के लेख ग्यारहवी सदी के उत्तरार्ध या बारहवी सदी के पूर्वार्ध से ही मिलना शुरू होते हैं[४३]। दक्षिण भारत मे भी जैन श्रेष्ठियो के लेख ग्यारहवीं सदी से ही मिलना शुरू होते है[४४]। दसवीं शताब्दी मे भारत का अरब चीनी व्यापारियों के माध्यम से समुद्री व्यापार बढ़ गया। राजपूतों के स्थायी राज्य हो जाने मे आवागमन सुरक्षित हुआ। बडी सख्या में व्यापारी, जैन साधु व ब्राह्मण भारत मे दूर दूर की यात्रा करने लगे। बडी सख्या में जैन प्रतिष्ठायें होने लगी एवं साक्षरता फैलने से अधिक मूर्ति-लेख लिखे जाने लगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि नवमी-दसवी शताब्दी मे चन्देलों का राज्य सुदृढ हो जाने से वहा गृहपति व गोला-पूर्व जातियाँ जाकर बस गईं। गोलापूर्व धसान नदी के किनारे जाकर बसे। गोलापूर्वों के प्राचीनतम लेखों में कुछ को छोड़कर बाकी सब इसी क्षेत्र मे पाये गये हैं[४५]। गोलापूर्वों में बहुत से गोत्र जिन ग्रामों के नाम पर बने हैं वे सब धसान नदी के पास ही हैं। वर्तमान रूप में गोला-पूर्व जाति का विकास यही से हुआ है। कुछ लेखकों के मत से प्राचीन दशार्ण जनपद यही है[४६]।

बुन्देलखंड (जेजाभुक्ति) में रहने वाली जैन जातियों में गृहपति व गोलापूर्व प्राचीनतम हैं। इनके पूर्व इस क्षेत्र में जैन विरल ही रहे होंगे। अत: गोलापूर्व यहाँ आने के पहले ही जैन धर्म के पालक रहे होना चाहिए। ग्वालियर के आसपास कही भी जैन लेखों में गोलापूर्व जाति का उल्लेख नहीं है। सम्भवत: मूर्ति लेखों में जाति नाम के उल्लेख की परम्परा प्रचलित होने से पहले ही ये ग्वालियर क्षेत्र छोड चुके थे।

लगभग सभी जैन जातियों की उत्पत्ति खास-खास नगरों व उनके आसपास के क्षेत्र से हुई है[४७]। एक ही स्थान मे रहने वाले सभी जैन अपने समुदाय को एक ही जाति मानें, इसमें कम से कम ३-४ सौ वर्ष अवश्य लगे होंगे। रामजीत जैन एडवोकेट की पुस्तक "गोपाचल-सिद्धक्षेत्र" के अनुसार ग्वालियर में पायी गई जैन मूर्तियों में से कई सातवीं, आठवीं व नौवीं सदी की भी हैं[४८]। अत: यदि ग्वालियर से किसी जैन जाति का उद्भव हुआ हो तो इसमें आश्चर्य नहीं है।

वर्तमान मे ग्वालियर में जैन जातियो में से सर्वाधिक जैसवाल व उनके बाद वरहिया जाति के हैं[४९]। डोभकुंड के सन् १०८८ के लेख के अनुसार जैन मन्दिर के प्रति-ष्ठापक के पूर्वज जायस नगर से आकर बसे थे[५०]। सम्भव है यहाँ जैसवाल जाति का बसना दसवी सदी से शुरू हुआ हो। वरहिया जाति नरवर के निकट उरना नाम के स्थान से निकली प्रतीत होती है[५१]। सम्भव है कि ग्वालियर के प्राचीन जैन निवासी जो ग्वालियर मे ही रहे वे गोला-लारे जाति का भाग बने या अन्य जातियो में मिल गये। ग्वालियर के आसपास के क्षेत्र में केवल शिवपुरी जिले के झिरी व पोहरी ग्रामों मे गोलापूर्वों का प्राचीन काल से निवास रहा है[५२]।

गोलापूर्व, गोलालारे व गोलसिंघारे इन तीनों जातियों मे ईक्ष्वाकु जाति से उत्पन्न होने की श्रुति रही है[५३]। गोलापूर्व व गोलालारे जातियों में कुछ गोत्रों के नाम

मिलते-जुलते हैं। सम्भव है तीनों का स्रोत एक ही रहा हो। अहार के बारहवी सदी के लेखों में गोलापूर्व व गोलालारे दोनों जातियों के स्वतंत्र उल्लेख है[३३]। सम्भव है ये नवमीं-दसवीं शती मे अलग-अलग हुई हो। गोलसिंघारे जाति का इतिहास ज्ञात नहीं हो सका है।

इस सम्बन्ध में कस्तूरचन्द जी सुमन का एक महत्वपूर्ण लेख पठनीय है। इस लेख में आपने गोलापूर्व जाति का उद्भव गोलाकोट से माना है। इस लेख[३५] मे अन्य मतो के बारे मे ऊहापोह की है एवं गोलापूर्व जाति के इतिहास व वर्तमान स्थिति के बारे मे विस्तार से वर्णन किया है।

सन्दर्भ-सूची

१. नाथूराम प्रेमी का मत—श्री अखिल भारतवर्षीय दि० जैन गोलापूर्व डायरेक्टरी, प्रकाशक—मोहनलाल जैन काव्यतीर्थ, सागर १९४०, पृ० क।

२. परमानन्द शास्त्री, जैन समाज की कुछ उपजातियाँ, अनेकांत, जून १९६९, पृ० ५०।

३. मुन्नालाल रांधेलीय का मत—गोलापूर्व डाइरेक्टरी पृ० झ।

४. गोलापूर्व डायरेक्टरी, पृ० ग।

५. परमानन्द शास्त्री, अनेकान्त, जून १८६९, पृ. ५०।

६. रामजीत जैन एडवोकेट, 'गोल्लादेश', अप्रकाशित लेख

७. यशवंत कुमार मलैया, 'गोल्लादेश व गोल्लाचार्य की पहिचान'।

८. एल. के. अनन्तकृष्ण अय्यर, The Mysore Tribes and Castes, पृ० १९७ २४२, भाग ३, १९३०।

९. सुदामा मिश्र, Janapad States in Aocient India, १९७३।

१०. वही।

११. फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, 'गोलापूर्वान्वय', डा० दरबारीलाल कोठिया अभिनंदन ग्रन्थ, १९८२।

१२. रामजीत जैन, 'गोलालारे-खरोआ उत्पत्ति', अ. लेख।

१३. गोलापूर्व डाइरेक्टरी, पृ० २००।

१४. हिन्दी विश्वकोष, सं० नगेन्द्रनाथ वसु १९२३।

१५. A Historical Atlas of South Asi.a Ed, J. E. Schwartzberg, 1978, P. 107.

१६. हीरालाल जैन; जैन शिलालेख संग्रह, प्र. भाग १८८८

१७. शिशिर कुमार मित्र, The Early Rulers of Khajuraho, Motilal Banarsidas, 1970.

१८. शारदा श्रीनिवासन, 'Dravidian Words in Desinamamala', Journal of the Oriental Institute, vxxi, No. 2, Sept. 1971, p. 114.

१९. यशवंत कुमार मलैया, 'गोलापूर्व जाति के परिप्रेक्ष्य मे', पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनंदन ग्रंथ, १९९०, पृ० १०३-१९०।

२०. The History and Cuiture of the Indian People, V.III, Bhartiya Vidya Bhavan, 1954, P. 63.

२१. वही, पृ० ९।

२२. The History and Culture of the Indian People, V.II, Bhartiya Vidya Bhavan, 1951, P. 9.

२३. J. Davson, A classic Dictionary of Hindu Mythology & Religion, 1982, P. 159.

२४. A Historical Atlas of South Asia, P. 108.

२५. शिशिर कुमार मित्र, पृ० ३२।

२६. वही।

२७. 'Jainism', in Encyclopedia Brittanica, , P. 275.

२८. झम्मनलाल जैन न्यायतीर्थ, श्री लवेचू दि. जैन समाज इतिहास, १९५१।

२९. रामजीत जैन, 'गोलालारे-खरौवा उत्पत्ति' अ. लेख।

३०. रामजीत जैन, जैसवाल जैन इतिहास, १९८८, प्र० जैसवाल जैन समाज, ग्वालियर।

३१. रामजीत जैन, 'पद्मावती पुरवाल', अप्र० लेख।

३२. रामजीत जैन, वरहियान्वय १९८७, प्र० लालमणि प्रसाद जैन, ग्वालियर।

३३. यशवंत कुमार मलैया, "गोलाचार्य कौन थे?", अप्रकाशित लेख।

३४. शिशिर कुमार मित्र, पृ० ९३।

३५. अयोध्याप्रसाद पाण्डेय, चन्देलकालीन बुन्देलखड का

इतिहास, १९६८, पृ० ७२।
३६. शिशिर कुमार मिश्र, पृ० ९१।
३७. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, भारतीय प्राचीन लिपि-माला, १९१८, पृ० १६६।
३८. नवलसाह चंदेरिया, बर्धमान पुराण,
३९. श्री अ० भा० दिगंबर जैन डायरेक्टरी, प्र० ठाकुरदास भगवानदास जवेरी, १९१४।
४०. गोविन्ददास जैन कोठिया न्यायतीर्थ, प्राचीन शिला-लेख, दि०जै०अ०क्षे० आहारजी, १९६२।
४१. रामजीत जैन, जैसवाल जैन इतिहास।
४२. रामजीत जैन, गोपाचल सिद्धक्षेत्र, प्र. महावीरपर-मागम सेवा समिति, ग्वालियर, १९८७, पृ० ६।
४३. यशवंत कुमार मलैया, 'वर्धमान पुराण के सोलहवें अधिकार पर विचार', अनेकांत जून १९७४ पृ. ५८-६
४४. Ram Bhushan Prasad Singh, Jainism in Early Medieval Karnatka, 1975, P. 113.
४५. यशवंत कुमार मलैया, 'कुवलयमालाकहा के आधार पर गोल्लादेश व गोल्लाचार्य की पहिचान', पं. जगन्-मोहनलाल शास्त्री साधुवाद ग्रंथ, १९८९, पृ. ४४७-५४
४६. A Historical Atlas of South Asia, P. 27.
४७. यशवंत कुमार मलैया, 'वर्धमान पुराण के सोलहवें अधिकार पर विचार', अनेकान्त अगस्त १९७४।
४८. रामजीत जैन, 'गोपाचल सिद्धक्षेत्र, प्र. महावीरापर-मागम सेवा समिति, ग्वालियर, १९८७ पृ. ६०।
४९. रामजीत जैन, जैसवाल जैन इतिहास, पृ. ६७।
५०. रामजीत जैन, वही, पृ० १७।
५१. रामजीत जैन, वरहियान्वय, पृ० ४२।
५२. गोलापूर्व डायरेक्टरी।
५३. यशवंत कुमार मलैया 'गोलापूर्व जाति पर विचार', अनेकांत जून ७२, पृ० ६८-७२।
५४ गोविन्ददास जैन कोठिया, न्यायतीर्थ, प्राचीन शिलालेख
५५. डा० कस्तूरचन्द सुमन, 'गोलापूर्वान्वय एक परिशीलन' सरस्वती-वरदपुत्र पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनंदन ग्रंथ, १९९०, पृ० ३२-५०।

—COLORADO STATE UNIVERSITY

(पृ० ४ का शेषांश)

हाँ १० प्रतिशत लोग जातीय सीमाओं को तोड़ सकते हैं।

८. २१वीं शताब्दी में यह भी हो सकता है कि जो व्यक्ति जातीय बंधन तोड़ना चाहेंगे उन सबकी एक और जाति बन जावे। उसका नामकरण क्या होगा यह तो मैं अभी कह नहीं सकता लेकिन उनको भी किसी समुदाय में तो रहना नहीं पड़ेगा। समुदाय से अलग तो वे भी नही जाना चाहेंगे।

अन्त में इतना ही कहना चाहूंगा कि २१वी शताब्दी में जातीय स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन नही होगा। जातियाँ उसी प्रकार बनी रहेंगी जैसी वर्तमान में हैं और जातीय सीमाओं में रहने से परिवार में सुख-शांति एव प्यार बना रहेगा। लेकिन इतना होने पर भी जातीय बंधन में शिथिलता अवश्य आयेगी इसमे किंचित भी शंका नहीं है। लेकिन यह शिथिलता १०१% से अधिक नहीं होगी। समाज में अधिकांश परिवार धर्मभीरु एवं जाति भीरु होते हैं इसलिए वे सीमाओं के बाहर जाना पसन्द नहीं करेंगे।

८६७ अमृत कलश
बाबत नगर, किसान मार्ग
टोंक रोड, जयपुर

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. जैन इतिहास प्रकाशन संस्थान, जयपुर द्वारा सन् १९८९ में प्रकाशित।
२. खण्डेलवाल जैन समाज का वृहद् इतिहास प्रथम खंड—पृ० सं० ...
३. देखिए—महाकवि ब्रह्म जिनदास-व्यक्तित्व एवं कृतित्व लेखक डा० प्रेमचन्द रावकां प्रकाशक श्री महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
४. राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जोधपुर द्वारा प्रकाशित।
५. दिगम्बर जैन डाइरेक्टरी, प्रकाशन वर्ष १९१४।
६. खंडेलवाल जैन समाज का वृहद् इतिहास, पृ. स. ४६।

आचार्य कुंदकुंद के ग्रंथों की पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण

□ डॉ० कमलेशकुमार जैन, जैनदर्शन प्राध्यापक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के अन्तर्गत प्राकृत भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे संस्कृत भाषा की तरह न तो राज-दरबारों की छत्र छाया में पलने का अवसर मिला और न ही इसे राजसत्ता की सुखानुभूति हो सकी। किन्तु जन-साधारण का जो स्नेह प्राकृत भाषा को उपलब्ध हुआ है, वह अवश्य ही श्लाघनीय है।

भगवान् महावीर से कई शताब्दियों पूर्व में प्राकृत भाषा जन साधारण द्वारा बोलचाल के रूप में प्रचलित रही है। अत: भगवान् महावीर ने अपने पुरुषार्थ से उपलब्ध तत्वज्ञान का सर्वसाधारण को लाभ पहुंचाने की दृष्टि से प्राकृत भाषा को ही उपदेश देने का माध्यम चुना। वे अपनी उपलब्धियों को किसी वर्ग विशेष तक सीमित नहीं रखना चाहते थे। शनैः शनैः विविध प्रान्तों और विविध प्रान्तीयजनों की बोलचाल की भाषा का विकास हुआ। फलस्वरूप प्राकृत के विविध रूप दृष्टिगोचर होने लगे।

जब लोगों की धारणा शक्ति क्षीण होने लगी तो भगवान् महावीर के उपदेशों को उनकी मूल भाषा प्राकृत में स्मृति के आधार पर लिपिबद्ध किया जाने लगा। दूसरे-दूसरे परवर्ती कई आचार्यों ने भी अपने भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए प्राकृत भाषा को ही माध्यम चुना। ऐसी स्थिति मे साहित्यारूढ़ प्राकृत को एक ढांचे में बांधने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अत: कालान्तर मे साहित्यारूढ प्राकृत भाषा को कुछ आचार्यों ने व्याकरण के नियमोपनियमों मे जकड़ कर अनुशासित किया और भाषा का प्रवाह रुक गया। प्राकृत भाषा एक स्वरूप के अन्तर्गत सीमित हो गई। जन साधारण द्वारा बोलचाल के रूप में प्रयुक्त होने के कारण यद्यपि इसका बाद में भी विकास हुआ, किन्तु वह नामान्तरों के माध्यम से प्राकृत भाषा से भिन्न विविध बोलियों आदि के रूप में जानी जाने लगी।

भगवान् महावीर की परम्परा में अनेक आचार्य हुए, जिसमें से कुछ आचार्यों ने भगवान् की मूल परम्परा का सम्यक् निर्वाह करने मे अपने को असमर्थ पाया। अत: उन्होंने उपदेशो के संकलन के समय अपने अभिप्रायों का भी उसमें सन्निवेश कर दिया, जिससे भगवान् के मूल उपदेश में विकृति आ गई। फलस्वरूप दूसरी परम्परा ने भगवान् के संकलित उपदेशो को मान्यता नही दी और अपनी ही धारणा शक्ति को मूर्तरूप देकर छन्दोबद्ध प्राकृत में ग्रन्थो का निर्माण किया तथा मूल आगमिक परम्पर को सुरक्षित रखा। ऐसे आचार्यों की परम्परा मे आचार्य कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है।

आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के उन कालजयी आचार्यों मे प्रथम हैं, जिन्होंने अध्यात्म विद्या को सर्वसाधारण की भाषा मे सर्वसाधारण जनों के लिए सुलभ किया है। यद्यपि उनके द्वारा निर्मित अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है तथापि उनके ग्रन्थों की हजारो प्राचीन पांडुलिपियां आज भी विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारो में पड़ी है और अपने समालोचनात्मक सम्पादन एवं प्रामाणिक अनुवाद की प्रतीक्षा कर रही है।

आचार्य कुन्दकुन्द के जिन उपलब्ध ग्रन्थों का प्रकाशन अनेक संस्थाओं/विद्वानो ने किया है, वह सन्तोषजनक नही कहा जा सकता है। कुछ प्रकाशनों को छोड़कर अद्यावधि आचार्य कुन्दकुन्द का जो साहित्य प्रकाश में आया है वह पाण्डुलिपियों का मात्र मुद्रित रूप है। उनके सम्पादन मे प्राचीन पाण्डुलिपियों का उपयोग प्राय: नहीं के बराबर हुआ है। जिससे लिपिकारो के प्रमादवश अथवा अज्ञानता के कारण हुई भूलों का अथवा कहीं-कहीं पाठकों द्वारा अपनी सुविधा के लिए पृष्ठो के किनारों पर लिखे गये

टिप्पणों का भी मूल में समावेश हो गया है। इससे यह ज्ञात करना मुश्किल हो गया है कि मूलपाठ कौन है? इसके अतिरिक्त व्याकरणप्रिय तथाकथित विद्वानों ने मूल पाठ के साथ छेड़खानी करके व्याकरण सम्मत शब्दरूपों का जामा पहिनाकर अमानत में खमानत कर डाली है। इस परिवर्तन से होने वाली हानियों की ओर उनका ध्यान नहीं गया। यह खेद का विषय है।

आज हिन्दुओ के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद एवं जैनों जैनो की एक परम्परा द्वारा स्वीकृत आचाराङ्ग की प्राचीनता उनकी भाषा के कारण ही सिद्ध की जाती है। आधुनिक युग में भाषा ही एक मात्र ऐसा मापदण्ड है जो ग्रन्थों की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता को सिद्ध कर सकता है।

किसी भी भाषा का व्याकरण तद्‌विषयक उपलब्ध साहित्य में प्रयुक्त शब्दरूपों के आधार पर किया जाता है। अर्थात् पहले उस भाषा का साहित्य होता है और बाद मे उस भाषा का व्याकरण। यही कारण कि मूल साहित्य मे कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, जो अर्वाचीन व्याकरण के नियमो से मेल नही खाता है। ऐसे प्रयोगों/शब्दरूपों को वैयाकरणों द्वारा व्याकरण के नियमों में न बांध पाने के कारण उन्हे आर्ष प्रयोग के नाम से सम्बोधित किया है। ऐसे भाषागत परिवर्तनों से ऐतिहासिक तथ्यों एवं प्राचीन संस्कृति का विनाश होगा। जिसे इतिहास कभी क्षमा नही करेगा।

आज आवश्यकता इस बात की है कि एक-एक आचार्य के समस्त ग्रन्थों का समालोचनात्मक सम्पादन देश-विदेश में उपलब्ध पाण्डुलिपियो के आधार पर किया जाये। सम्पादन की इस प्रक्रिया में मूल मे किसी भी प्रकार की विकृति न आये इस बात को ध्यान मे रखते हुए सम्पादन के विश्वजनीन मापदण्डो को अपनाना होगा।

उपर्युक्त प्रकार का मौलिक एव प्रामाणिक सम्पादन किसी व्यक्ति विशेष द्वारा सम्भव नही है। इस सम्पादन प्रक्रिया को मूर्त्तरूप देने के लिए अनेक विद्वानों का एक साथ सहयोग अपेक्षित है। यह एक टीमवर्क है। इस कार्य हेतु सर्वप्रथम देश-विदेश के प्राचीनतम ग्रन्थ-भण्डारो का सर्वेक्षण आवश्यक है, जिससे मूल प्रतियों की खोज की जा सके।

इस प्रकार क बृहद् आयोजनों के लिए बौद्धिकवर्ग का सहयोग तो अपेक्षित है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जैसी केन्द्रीय संस्थाओं के सहयोग से यह कार्य सहज सम्भव है। इसके लिए विश्वविद्यालयीय विद्वानों एवं विश्वविद्याय अनुदान आयोग—दोनो की ओर से प्रथम पदन्यास हो चुका है। इस क्रम मे सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्राकृत एव जैनागम विभागाध्यक्ष डा० गोकुलचन्द जैन के निर्देशन मे आचार्य कुन्दकुन्द के एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ नियमसार का समालोचनात्मक सम्पादन डा० ऋषभचन्द्र जैन फौजरार ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की एक योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ कर दिया है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने मेरे द्वारा प्रस्तावित एक योजना को भी स्वीकृति दी है, जिसका विषय है—"आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत-ग्रन्थों की प्राचीन पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण।" योजना को प्रस्तावित करने मे मुझे डा० गोकुलचन्द्र जैन का सहयोग मिला है। इस योजना के अन्तर्गत आचार्य कुन्दकुन्द के समस्त हस्तलिखित एव प्रकाशित ग्रन्थों की प्राचीन पाण्डुलिपियो की विस्तृत सूची तैयार की जायेगी। क्योंकि प्राचीन ग्रन्थो को प्रकाश में लाने के लिए सर्वेक्षण कार्यों का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए प्रस्तुत योजना के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्द के वर्तमान में ज्ञात तेइस प्राकृत-ग्रन्थों तथा उनकी उपलब्ध टीकाओं की प्राचीन पाण्डुलिपियों की जानकारी एक साथ प्राप्त हो सकेगी। वर्तमान में आचार्य कुन्दकुन्द के छपे ग्रन्थों में प्राचीन पाण्डुलिपियों का समुचित उपयोग न होने से सम्पादन विशेषज्ञ मनीषी प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने उक्त छपे हुए ग्रन्थों को मुद्रित पाण्डुलिपियाँ कहा है तथा समालोचनात्मक संस्करण तैयार करने की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो की देश-विदेश मे उपलब्ध समस्त प्राचीन पाण्डुलियो के सूचीकरण से आचार्य कुन्दकुन्द अथवा उनके ग्रन्थों पर कार्य कर रहे अनुसन्धान

(शेष पृ० १४ पर)

नियमसार का विशिष्ट संस्करण प्रस्तावित

□ डा० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार

आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् महावीर की श्रमण-परंपरा के ज्योतिर्धर आचार्य हैं। उनके उपलब्ध प्राकृत ग्रन्थों में श्रमण-परम्परा का सांस्कृतिक इतिहास सुरक्षित है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत भाषाओं के विविध रूप इन ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

विगत वर्षों मे आचार्य कुन्दकुन्द की ओर जैन समाज का ध्यान विशेष रूप से गया है। उनके नाम पर संस्थाएं बनीं हैं। ग्रंथों के प्रकाशन हुए हैं। साहित्य और प्रचार-प्रसार की सामग्री प्रकाशित हुई है। दिगम्बर जैन समाज की ओर से आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि समारोह मनाने के भी अनेक आयोजन हुए। इस सबके बाद भी किसी भी सामाजिक संस्था की ओर से आचार्य कुन्दकुन्द विषयक उच्च अनुसन्धान और उनके प्राकृत ग्रन्थों के शुद्ध और प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करने की योजना प्रकाश मे नहीं आयी। अब तक जो भी सस्करण प्रकाशित हुए हैं, वे प्रायः पूर्व प्रकाशनों के पुनर्मुद्रण मात्र है। मूल प्राकृत पाठ नये संस्करणो मे शुद्ध होने की अपेक्षा और अधिक त्रुटिपूर्ण होता गया है। एक भी ग्रन्थ में शब्द-कोश नहीं है। यही कारण है कि प्राकृत के प्रसिद्ध विद्वान स्व० डा० ए० एन० उपाध्ये ने इन सस्करणो को "मुद्रित पाण्डुलिपियाँ" (प्रिन्टेड मेनुस्क्रप्टस) कहा है। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे कुन्दकुन्द के प्रामाणिक सस्करणो की बात कहते रहे।

आचार्य कुन्दकुन्द विषयक उच्च अध्ययन अनुसन्धान को विगत वर्षों मे प्राकृत एवं जैन विद्या के वरिष्ठ विद्वान डा० गोकुलचन्द्र जैन ने एक नयी दिशा दी है। प्रामाणिक सस्करणो की बात को उन्होने अनेक प्रसंगों पर उठाया है। कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि वर्ष में उनके निर्देशन मे नियमसार तथा अष्टपाहुड पर संस्कृत विश्वविद्याल वाराणसी ने दो युवा विद्वानो मुझे तथा डा० महेन्द्रकुमार जैन को विद्यावारिधि की उपाधि प्रदान की है। उनके प्रयत्नों से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने विभिन्न योजनाएँ स्वीकृत की है। राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय स्तर पर कुन्दकुन्द विषयक अनुसंधान कार्य आरम्भ हो रहे हैं।

भारत तथा विदेशो मे आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत ग्रन्थो की शताधिक प्रतियां उपलब्ध हैं। अभी तक इनके सर्वेक्षण का प्रयत्न नही हुआ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की एक योजना के अन्तर्गत यह बहु प्रतीक्षित कार्य अब आरम्भ हो गया है। डा० कमलेशकुमार जैन प्राध्यापक जैन दर्शन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय यह महत्वपूर्ण कार्य कर रहे है।

नियमसार पर अनुसन्धान कार्य करते समायरमे ध्यान उसके अशुद्ध और त्रुटिपूर्ण प्राकृत पाठ पर गया। मूल प्राकृत पाठ अशुद्ध होने से उसका हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद भी अनेक स्थलो पर त्रुटिपूर्ण है। अशुद्ध पाठ के आधार पर भाषावैज्ञानिक अध्ययन कथमपि संभव नही है। डा० गोकुलचन्द्र जैन मुझे मेरे अनुसन्धान काल से ही नियमसार का एक शुद्ध और विशिष्ट सस्करण तैयार करने के लिए प्रेरित करते रहे हैं। सौभाग्य से इनके निर्देशन मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने नियमसार के सम्पादन की योजना स्वीकृत कर ली। उसके अनुसार सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के प्राकृत एवं जैनागम विभाग मे विभाग के अध्यक्ष डा० गोकुलचन्द्र जैन के निर्देशन में मैंने कार्य आरम्भ कर दिया है। इस कार्य में उन सभी का सहयोग वांछनीय है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के प्रति श्रद्धा भाव रखते है तथा जिनकी उच्च अनुसन्धान मे रुचि है।

नियमसार लगभग इस शताब्दी के आरम्भ में प्रकाश में आया। उस समय जो हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हुई उनके आधार पर इसका प्रकाशन भी किया गया। इधर

दशकों में इस ग्रन्थ के कई अन्य प्रकाशन भी हुए। इनमें से कुछ संस्करणों में प्राचीन पाण्डुलिपियों से मिलान करने की बात भी कही गयी है। अधिकांश प्रकाशन पूर्व संस्करणों के पुनर्मुद्रण मात्र है। अभी तक मेरी जानकारी मे नियमसार के निम्नलिखित प्रकाशन आये है :—

प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी :—

(१) मूल प्राकृत, सस्कृत छाया, पद्मप्रभमलधारिदेव कृत तात्पर्यवृति नामक संस्कृत टीका एवं ब्र० शीतलप्रसाद जी कृत हिन्दी भाषा टीका। प्रकाशक—हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९१६. यह नियमसार का पहला संस्करण है।

(२) क्रम संख्या एक का पुनर्मुद्रण श्री अजित प्रसाद जौहरी, कटरा खुशालराय, दिल्ली-६ ने वी०नि०सं० २४९८ में कराया है।

(३) मूल प्राकृत सस्कृत छाया, पद्मप्रभमलधारिदेव कृत तात्पर्यवृत्ति सस्कृत टीका एव हिन्दी अनुवाद तथा मूल गाथाओ का हिन्दी पद्यानुवाद। प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन एव प्रचार विभाग, कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर, सन् १९८४।

(४) मूल प्राकृत, पद्मप्रभमलधारिदेव रचित तात्पर्यवृत्ति नामक सस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद, सम्पादन, आर्यिका ज्ञानमती जी। प्रकाशक—दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, वी. नि. स. २५११।

(५) मूल प्राकृत, आर्यिका ज्ञानमती जी कृत स्याद्वाद चन्द्रिका सस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक—दि० जैन त्रिलोक शोध सस्थान, हस्तिनापुर, सन् १९८५।

प्राकृत-हिन्दी :

(६) मूल प्राकृत एवं ब्र० शीतलप्रसादजी कृत हिंदी टीका। प्रकाशक—विमलसागर जी महाराज, इन्दौर, वी० नि० सं० २४७६।

(७) कुन्दकुन्द भारती के अन्तर्गत आचार्य कुदकुद के सभी ग्रंथ मूल प्राकृत एव हिन्दी अनुवाद, सकलन-सम्पादन—प० पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक—श्रुतभण्डार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण, सन् १९७०।

(८) मूल प्राकृत एव हिन्दी अनुवाद, सम्पादक—पं० बलभद्र जैन, प्रकाशक—कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली, सन् १९८७।

प्राकृत-अंग्रेजी :

(९) मूल प्राकृत, सस्कृत छाया, अगरसेनकृत अंग्रेजी अनुवाद एवं अंग्रेजी टीका के साथ "दी सेक्रेड बुक्स आफ दी जैन्स" वाल्यूम-९, सेन्ट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ से प्रकाशित सन् १९३१।

प्राकृत-मराठी :

(१०) मूल प्राकृत एव मराठी अनुवाद, प० नरेन्द्र मिसीकर न्यायतीर्थ, प्रकाशक—गोपाल अम्बादास चवरे, कारजा, सन् १९६३।

प्राकृत-गुजराती :

(११) मूल प्राकृत गाथाएं, उनका गुजराती पद्यानुवाद, संस्कृत टीका और मूल संस्कृत टीका का गुजराती अनुवाद, गुजराती अनुवादक—प० हिम्मतलाल जेठालाल शाह, प्रकाशक—दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, सन् १९५१।

उक्त प्रकाशनों के अतिरिक्त यदि अन्य कोई सस्करण किसी विद्वान व स्वाध्यायी व्यक्ति की जानकारी म हो तो कृपया सूचना देने का कष्ट करे तथा उपलब्ध भी करायें। उनका व्यय विभाग की ओर से हम वहन करेंगे।

मुद्रित सस्करणों के अतिरिक्त सम्पादन के लिए मैं देश विदेश मे उपलब्ध ताड़पत्र तथा कागज पर लिखित हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ एकत्रित कर रहा हू। यदि किसी की जानकारी मे उपयोगी पाण्डुलिपियाँ हों तो उनकी सूचना दे तथा यदि उनके माध्यम से उसकी फोटो कापी प्राप्त हो सकती हो तो उपलब्ध करायें। इस पर होने वाला व्यय विभाग की ओर से हम वहन करेंगे।

नियमसार का प्रस्तावित सस्करण सम्पादन के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत मानकों के अनुसार सपादित किया जायेगा। इस सस्करण म मूल प्राकृत गाथाओं तथा पद्मप्रभमलधारिदेव कृत सस्कृत टीका का सम्पादन देश-विदेश मे उपलब्ध प्राचीन ताड़पत्रीय तथा हस्तलिखित

पाण्डुलिपियों के आधार पर किया जायेगा। सम्पादित पाठ के आधार पर हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद किये जायेंगे। पहली बार नियमसार का सम्पूर्ण शब्दकोश तैयार किया जा रहा है। नियमसार की कतिपय गाथायें कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों में भी यथावत् या किंचित् शब्द परिवर्तन के साथ प्राप्त होती हैं। प्राकृत के अन्य दिगम्बर तथा श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी कतिपय गाथाओं अथवा विषयों में साम्य प्राप्त होता है। तुलना के लिए उन्हें मूल के साथ सन्दर्भ उद्धृत किया जायेगा। उक्त सभी विषयों पर ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जायेगा। प्रस्तावना तथा परिशिष्टों में सभी सम्बद्ध महत्वपूर्ण विषयों का समावेश होगा। प्रस्तुत संस्करण को सर्वांगपूर्ण बनाने हेतु विद्वानों के सुझाव सादर आमंत्रित है।

रिसर्च एसोशिएट
प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२

(पृ० ११ का शेष)

कार्यों मे महत्त्वपूर्ण सहयोग मिल सकेगा, ऐसी आशा करनी चाहिए। इससे हमारे अतीत का गौरव मुखर होगा तथा हमारी सांस्कृतिक विरासत अक्षुण्ण रह सकेगी। ऐतिहासिक तथ्यों के प्रबल साक्षी भाषायी पुरावशेष भी अपनी कहानी स्वय कह सकेंगे और हमारी अगली पीढ़ी को एक शाश्वत रोशनी दे सकेंगे।

अद्यावधि जिन सूची-ग्रन्थों का मुद्रण हो चुका है और उनमें आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो की प्राचीन पाण्डुलिपियों का उल्लेख है अथवा जिन ग्रन्थ-भण्डारों/व्यक्तिगत संग्रहों मे आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो की हस्तलिखित प्राचीन पांडुलिपियाँ उपलब्ध है, उनके संचालको/मालिको तथा जिन विद्वानों ने सूचीकरण का कार्य किया है अथवा कर रहे हैं, उनसे भी निवेदन है कि वे उपर्युक्त सूचना मेरे पते पर देकर मेरा मार्गदर्शन करें। मैं उनका आभारी रहूंगा। इससे इस कार्य को निर्धारित समय में पूर्ण किया जा सकेगा। सूचना देने वाले सचालको/मालिकों विद्वानों द्वारा इस कार्य-सम्पादन मे जो भी व्यय होगा, उसे विश्वविद्यालय की ओर से मैं वहन करूंगा।

सम्पर्कसूत्र :
बी २/२४९, लेन नं० १४
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-२२१००५

अनेकान्त के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय।

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक।

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय।

मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

जैन संस्कृति और साहित्य के पोषक : पाण्डे लालचंद

□ डॉ० गंगाराम गर्ग

भरतपुर राज्य तथा जगरौटी क्षेत्र (करौली हिन्डौन) में साहित्य और अध्यात्म की ज्योति जगाने वाले पाण्डे लालचन्द ग्वालियर के प्रसिद्ध भट्टारक विश्वभूषण के प्रशिष्य और मुनि ब्रह्मसागर के शिष्य थे। अपने ग्रन्थ विमलनाथ पुराण की प्रशस्ति मे पाण्डे लालचंद ने अपना परिचय दिया है। उसके अनुसार यह बयाना हिन्डौन आने से पूर्व अपने गुरु ब्रह्मसागर के साथ बंगाल के शहर मकसूदाबाद (मुर्शिदाबाद) में जगतसेठ माणिकचंद के सान्निध्य में २० वर्ष तक रहे थे। इस स्थान से इन्होने सम्मेद शिखरजी की यात्रा तीन बार ससंघ की। जगतसेठ से बिदा होकर पांडे लालचंद ब्रह्मसागर मुनि के साथ गिरिनार पर्वत की यात्रा पर गुजरात भी गए। गिरिनार पर्वत से आकर तीन वर्ष सूरत बन्दरगाह पर रहे। सम्मेद शिखर और गिरिनार जैसे तीर्थों के समान महावीर जी को पुन्यभूमि मानकर पांडे लालचन्द हिन्डौन आए।

यात्रा करि गिरनार सिखर की अति सुखदायक !
पुनि आए हिन्डौन, जहां सब श्रावक लायक।
जिनमत कौ परभाव देखि, निज मत थिर कीनौ।
महावीर जिन चरण कमल कौ सरणौ लीनौ ॥

हीरापुरी (हिन्डौन) मे बसे पंडि लालचंद के मन में बयाना नगर की शोभा के प्रति आकर्षण जागा, तब उन्होंने इस शहर मे श्री चन्द्रप्रभु जिनालय को अपना साधना-स्थल बनाया—

सुख सौं रहत बहुत दिन भये, पांडे लाल बयानै गए।
देखि नगर की सोभा तबै, मन मैं हरष भयौ अति तबै।
चंद्रप्रभु जिनराज की, प्रतिमा परम पुनीत।
पूजा गोकुलदास नित, करै धर्म सो प्रीत।
देखि धरम को अधिक प्रकास तिहं थावक हम कीनौ बास।

विभिन्न नगरों में संभावित प्रावास-काल :

माघ कृष्ण ११ रविवार, सं० १८१६ में प्रतिलिपिकृत सकलकीर्ति की संस्कृत रचना 'चारित्र शुद्धि पूजा' की प्रशस्ति के आधार पर यह निश्चित है कि पांडे लालचंद बंगाल और गुजरात की यात्रा करते हुए संवत् १८१६ से पूर्व ही हिन्डौन में आ चुके थे। पांडे लालचंद ने चैत्र शुक्ल ११, रविवार, संवत् १७६६ में बयाना के चन्द्रप्रभु चैत्यालय में महाकवि द्यानतराय के धर्मविलास की प्रतिलिपि की ......"इति श्री धर्मविलास ग्रन्थ भाषा संपूर्ण। संवत् १७६६ वर्षे चैत्र मासे शुक्ल पक्षे एकादश्याम् रविबासरे बयाना मध्ये श्री चन्द्रप्रभ चैत्यालये श्री ब्रह्मसागर शिष्य पं० लालचंदेन लिखितोयं ग्रन्थ।" बयाना में ही कवि लालचंद ने माघ शुक्ला ५ शनिवार, संवत् १८१८ में अपनी कर्मोपदेशरत्नमाला भाषा' रचना लिखी। फागुन वदी ३, संवत् १८२१ में पांडे लालचन्द ने करौली में यशनंदि के 'धर्मचक्र पूजन विधान' की प्रतिलिपि की तथा करौली मे ही उन्होंने भादों वदी ३ को 'उत्तरपुराण भाषा' लिखी। वैसाख सुदी ७ सवत् १८३३ को पाण्डे लालचंद ने अपनी रचना 'वरांग चरित भाषा' करौली में ही लिखी। नथमल विलाला द्वारा रचित 'जीवन्धर चरित' की प्रशस्ति के आधार पर सिद्ध होता है कि संवत् १८३७ के लगभग पांडे लालचद करौली मे ही स्थायी तौर पर रहने लग गए थे—

नगर करौली के विषै श्री जिन गेह मझार।
लालचंद पडित रहै, विद्यावान उदार।

पाण्डे लालचद ने वैसाख शुक्ला ५, सवत् १८२७ को 'आत्मानुशासन भाषा' तथा कार्तिक शुक्ला ११, सं० १८२६ को 'ज्ञानार्णव भाषा' हिन्डौन में लिखी। यहीं पर उन्होंने संवत् १८२७ मे 'वरांग चरित्र भाषा' को लिखा।

पांडे लालचंद द्वारा लिखित मौलिक ग्रंथों और प्रतिलिपियों की प्रशस्ति के आधार पर स्पष्ट है कि संवत् १७६६ से संवत् १८३७ तक पांडे लालचंद बयाना, हिन्डौन और करौली मे आ-जाकर तथा कुछ समय रहकर ४१ वर्ष तक निरंतर जैन धर्म की ज्योति प्रज्वलित करते रहे। वृद्धावस्था मे वे करौली ही बस गए।

पाण्डे लालचन्द और महाकवि नथमल विलाला :

भरतपुर नरेश महाराजा सूरजमल के खजाने पर नौकरी करने वाले महाकवि नथमल विलाला ने 'नेमिनाथ को व्याहलो' (स० १८१६), अनन्त चतुर्दशी की कथा' (स० १८२४) 'जनगुण विलास' (स० १८२२) 'समवशरण मंगल' का आधा अंश (संवत् १८२४) भरतपुर मे ही लिखी। माघ शुक्ला गुरुवार, संवत् १८३७ मे अपना 'जीवंधर चरित' नथमल ने हिन्डौन में पूरा किया। ग्रंथ की प्रशस्ति के अनुसार आजीविका के प्रसग में हिन्डौन रहने लगे थे—

अन्नोदक के जोग बसाय, बसे बहुरि हीरापुर आय।
रच्यौ चरित्र तहां मन लाय, नथमल नै निज पर सुखदाय।

संवत् १८२७ मे लिखित 'वरांग चरित भाषा' मे पांडे लालचद ने नथमल विलाला का सहयोग स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि नथमल सवत् १८२७ से पूर्व ही हिन्डौन आ गए थे। पांडे लालचद और महाकवि नथमल विलाला दोनों ही महापुरुषों मे सारस्वत सहयोग था। नथमल विलाला ने 'सिद्धान्त सार भाषा' मे मध्यलोक का सार तो सुषराम पल्लीवाल के सहयोग से सवत् १८२४ मे भरतपुर के दीवान जी मदिर में सम्पन्न किया था किन्तु उसके अपूर्ण भाग अधोलोक और ऊर्द्धलोक के सार को विचारपूर्वक पांडे लालचद ने ही लिखा। नथमल कृत 'सिद्धान्त सार भाषा' अपर नाम 'समवशरण मंगल' की प्रशस्ति है—

"महावीर जिन यात्रा हेत, नथमल आए सघ समेत।
पाण्डे लालचद सौ कही, पूरन ग्रन्थ करो तुम सही।
नथमल बिच उर आनिकै, मर निज हेत विचारि।
श्री सिद्धान्त जु सार की, भाषा कीनी सार।
अधो लोक कौ कथन, अरु ऊरध लोक बिचारि।
भाषा पाण्डे लाल नैं, कीनी मति अनुसार।"

पाण्डे लालचन्द का शिष्य वर्ग : अग्रवाल, खंडेलवाल, पल्लीवाल और श्रीमाल चारों ही उपजातियों के श्रावक पाडे लालचन्द के निष्ठावान् शिष्य थे : संपतिराम राजोरिया के पुत्र मोतीराम (पल्लीवाल) ने बैसाख सुदि ६ संवत् १८३३ में पांडे लालचन्द से 'वरांग चरित भाषा' की प्रतिलिपि करवाई थी। मोतीराम सदावल से जाकर करौली बसे थे। पांडे लालचन्द की दो रचनाओं 'ज्ञानार्णव भाषा' और 'आत्मानुशासन भाषा' को लिखवाने का निवेदन करने वाले गोधू साह के पुत्र थानसिंह कासलीवाल थे। हृदयराम के पुत्र गूजरमल्ल गोयल ने 'आदिपुराण भाषा' तथा गूजरमल के पुत्र भीमसेन ने संस्कृत रचना 'धर्मचक्र पूजन विधान' की प्रतिलिपिया पाडे लालचन्द से लिखवाई थी। ये लोग बयाना छोड़कर करौली बसे थे। 'कर्मोपदेश रत्नमाला भाषा' की प्रशस्ति में पाडे लालचन्द ने लक्ष्मीदास के तीनों पुत्रों—राधेकृष्ण, दीपचन्द तथा भूधर को अपना प्रियपात्र लिखा है। करौली में चिलिया गोत्र के श्रीपाल जैन भौना राम के लिए पांडे लालचन्द ने बैसाख शुक्ला ७, संवत् १८१६ मे 'पुण्याश्रव कथा कोप भाषा' की प्रतिलिपि कराई।

पाण्डे लालचन्द का काव्य :

सुवाच्य और सुन्दर लिपि मे कई ग्रन्थो के प्रतिलिपि कर्ता, संस्कृत, प्राकृत के प्रकाण्ड पंडित, दार्शनिक, अध्यात्म-आख्याता, उदारमना गुरु पाडे लालचन्द अच्छे कवि भी थे। ब्रह्मचारी कृष्णदास रचित संस्कृत के विमलपुराण को कवि ने सवत् १८३७ मे भाषाबद्ध किया। भट्टारक वर्द्धमान का 'वराग चरित' तथा अन्य सस्कृत ग्रन्थ ज्ञानार्णव को पांडे लालचन्द ने सोरठा, दोहा, कुण्डलिया, सवैया, चौपाई, त्रिभगी, छप्पय, भुजंगी आदि विभिन्न छन्दों मे भाषाबद्ध किया। 'सिद्धान्तसार भाषा' का दो-तिहाई भाग तथा 'कर्मोपदेश रत्नमाला भाषा' लिखकर पांडे लालचन्द ने अपने सैद्धान्तिक ज्ञान तथा उसको काव्यमयी शैली में प्रस्तुत कर सकने की अपूर्व क्षमता का परिचय

दिया है। भाषा सरल तथा मधुर ब्रज है। नरक के कष्टों की चर्चा का एक कथन है—

निमिष मात्र ही सुख नहीं, नरक मांहि किहु काल।
हनहि परस्पर नारकीय, यह अनादि की चाल।३६
कहा कहै धनि यै उकति, धरि कैं नो शत कोठि।
तऊ नरक के दुक्ख की, कहत न आवै तोटि।
जो कहु पूरब वैर बे; भूलत कारण पाइ।
यदि करावै सुराधम, मारै तिनहि लराइ॥
—ज्ञानार्णव भाषा

वरांग चरित भाषा में 'वरांग' का सम्पूर्ण चारित्र बारह सर्गों में कहा गया है। 'वरांग' की वीरता के प्रसंग में युद्ध वर्णन भी है—

'छूटे धनुष तें तीछन तीर, भूतल छाय लियो वर वीर।
मानों प्रलयकाल घनघोर, जलधारा बरसत चहुं ओर।

श्रेष्ठ प्रबन्धकार होने के अतितिरिक्त पांडे लालचंद उत्तम भक्त भी थे। बड़ा तेरहपंथी मन्दिर जयपुर में प्राप्त पद संग्रह ९४६ में 'लाल' छाप से १५-२० पद संग्रहीत हैं। इन पदों में राजुल विरह के अतिरिक्त तीर्थंकर ऋषभदेव और भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति भी है—

कृपा म्हांसू कीज्यो जी, थे तारो जी जिनराज।
कभउ मान भंजन शिव रंजन, अधिक व्रत तुम धारा जी।
शिव सुखदाता करम नसाता, सब जीवन उगारा जी।
जुगल नाग प्रभु जलते उबारे, अबकी बेर हमारो जी।
'पारस' नाम तिहारो प्रभु जी, अष्ट करम [illegible] जारो जी।
'लाल' कहै विनती प्रभुजी सूं, शरण लेय उबारो जी॥

पाण्डे लालचन्द का गद्य :

आचार्य गुणभद्र कृत 'आत्मानुशासन' को पांडे लालचन्द ने गद्य मे लिखा है। गद्यकार ने पहले मूल श्लोक और फिर बाद मे उसकी बोधगम्य टीका लिखी है। हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक रूप निश्चित करने के लिए 'आत्मानुशासन भाषा' का यह उद्धरण दृष्टव्य है—

जगत के जीव पाप विषै प्रवीन है। कोईक शुभ परिणाम दीसै है, सोऊ भला कहियै है। अर जो शुभ अरु अशुभ दोऊ ही तजि करि केवल शुद्धोपयोग रूप आत्मस्वरूप विषै तल्लीन है तिनकी महिमा कौन कहि सकै। ते सत्पुरुषनि करि वदनीय है। पृ० १८७.

ऐतिहासिक महत्त्व :

पाण्डे लालचन्द के काव्य और गद्य की थोडी-सी चर्चा करने से पूर्व उनकी जीवनी का तथ्यपूर्ण वर्णन व्यपकता से करना ऐतिहासिक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पहली बात तो यह है कि भारतवर्ष के जैन समाज में आज सर्वाधिक मान्य क्षेत्र 'जगरोटी' आज से २५०-३०० वर्ष पूर्व भी सम्मानित था। तभी तो ब्रह्मसागर जैसे मुनि और पांडे लालचन्द २० वर्ष तक बंगाल और ३ वर्ष सूरत रहने के पश्चात् भी जगरौटी क्षेत्र में आए। पांडे लालचन्द ने ४०-५० वर्ष तक इसे ही अपना साधकस्थल बना लिया। पांडे लालचन्द की जीवनी से दूसरा तथ्यात्मक संकेत यह है कि इस क्षेत्र मे अग्रवाल, खंडेलवाल, पल्लीवाल तथा श्रीमाल सभी उपजातियो में दिगंबर आम्नाय को मानने वाले लोगों की पर्याप्त संख्या थी। पाण्डे लालचन्द द्वारा की गई विभिन्न रचनाओं की प्रतिलिपियो से यह भी स्पष्ट है कि जैन विद्या को ग्रन्थांकित करवाने तथा श्रद्धा भाव से उन्हे मन्दिरो में चढ़वाने का श्रावक समुदाय में बड़ा श्रद्धा भाव था। जिसके पूर्णत: लुप्त हो जाने के कारण जैन ग्रन्थों के अप्रकाशित रहने और दीमकों की भोज्य-सामग्री बने रहने की दुर्भाग्यपूर्ण समस्या बनी हुई है।

एसोसिएट प्रोफेसर
महारानी जया स्वायत्तशासी महाविद्यालय
भरतपुर (म० प्र०)

धवल पु० ४ का शुद्धिपत्र

निर्माता—जवाहरलाल मोतीलाल बकतावत; भीण्डर (राज०)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
चित्र संबंधी तृतीय पृ०	आ. नं १८	(पृ० ३५)	(पृ० ३५-३६)
शंका-समाधान पृ. १४	५	डेवढ़ा	डेढ़ा
विषय परिचय पृ १७	१	एक राजू के प्रतर या वर्ग प्रमाण है	एक राजू चौड़ा सात राजू लम्बा (आगत) और एक लाख योजन ऊँचा है। अथवा १४२८५$\frac{५}{७}$ योजन बाहल्यरूप जगत्प्रतर प्रमाण घनफल वाला है। [देखो—पृ० ३१, ३७, ४१, ४७, ६१ आदि।]
,, ,, १७	२	व्यास वाला वर्तुलाकार क्षेत्र	योजन व्यास वाला तथा एक लाख योजन ऊँचा वर्तुलाकार क्षेत्र [देखो-मूल पृ. ३१]
,, ,, १८	३१	और गमनागमन कर रहे हैं	× × × × ×
मूल पृ. १०	२८	अन्योन्य गुणिते	अन्योन्य गुणिते कृते
११	२६	घनागुलं।	घनांगुलम्।
११	२७	एकेकस्मिन्	एकैकस्मिन्
११	२७	गुणिता	गुणिता जाता
१३	२५	प्रमाण को	विस्तार को
१५	१८	अर्धमात्र	अर्द्ध-अर्द्ध मात्र
३४	२६	निष्कंभ उत्सेघ के	विष्कंभ आयाम के
३५	१९	उत्सेध के	उत्सेध उसके
४०	२८	$\left(\frac{१६८}{१०} \cdot \vert \frac{१}{२}\right)^{२}$	$\left(\frac{१६८}{१०} \times \frac{१}{२}\right)^{२}$
४१	१०	$\left(\frac{१६८^{२}}{२०} \geq ^{\circ}२ \times १६८$	$\left(\frac{१६८^{२}}{२०}\right) \times २ \times १६८$
४१	२०	पूर्वोक्त गुणकारो से	पूर्वोक्त "गुणकार गुणित अवगाहना गुणित राशि" से यानी पूर्वोक्त क्षेत्रों से
४१	२२	इन गुणकारों से	इन राशियों से
४३	२३	चाहिये।	चाहिए।
४६	१८-१९	सयत की उत्कृष्ट अवगाहना	संयत का उत्कृष्ट क्षेत्रफल
४६	२३	परिधि $\frac{५००}{९} \times १६ + १६$	परिधि $\left(\frac{५००}{९} \times १६\right) + १६$
४६	२४	$\frac{८८८१२०००}{३६६१२}$ धनुष।	$\frac{८८८२२०००}{३६६१२}$ वर्ग धनुष
४६	२५	$\frac{८८८१२०००}{३६६१२} \times \frac{९६}{१}$	$\frac{८८८२२०००}{३६१११२} \times \left(\frac{९६}{१}\right)^{२}$

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		$=\frac{\text{८५२५९५२०००}}{\text{३६६१२}}$ प्रत्तरांगुल	$=\frac{\text{८१८५८३५५२०००}}{\text{३६६१२}}$ प्रत्तरागुल
४९	१२	$\frac{\text{१०८}+\text{५००}}{\text{९६}}=$	$\frac{\text{१०८}\times\text{५००}}{\text{९६}}=$
५२	१४	२०००० हजार योजन	२०००० योजन
५२	१९	उत्तर और दक्षिण सम्बन्धी दोनों ही पार्श्वभागों मे	पूर्व व पश्चिम सम्बन्धी दोनो ही पार्श्व-भागों मे [देखो–त्रि. सा. पृ. १५० अनु० आ० विशुद्धमती जी]
५३	११	पूर्व और पश्चिम	दक्षिण और उत्तर
५३	१८-१९	पूर्व और पश्चिम में	दक्षिण और उत्तर मे [देखो त्रि.सा.पृ. १५० अनु. आ. विशुद्ध]
५४	८	उत्तर और दक्षिण मे पूर्व से पश्चिम तक	पूर्व और पश्चिम पार्श्वयुगलो में [देखो त्रि. सा. १३२, १३६]
५४	१३	$\text{१३}\times\text{७}=\text{९१};\ \text{९१}\times\text{१४}=\text{१२७४}$	$\text{१३}\times\text{७}=\text{९१};\ \text{१६}+\text{१२}=\text{२८};\ \text{२८}\div\text{२}=\text{१४};\ \text{९१}\times\text{१४}=\text{१२७४}$
५४	१७	पूर्व और पश्चिम	दक्षिण और उत्तर (त्रि. सा. १३४)
५४	२४-२५	पूर्व और पश्चिम मे	दक्षिण और उत्तर की अपेक्षा
५५	९	पूर्व और पश्चिम	दक्षिण व उत्तर[देखो-त्रि.मा. १३७ सं.टीका
५५	१८	$\div\frac{\text{७}}{\text{१}}$	$\div\frac{\text{४९}}{\text{१}}$
५५	२३	$\frac{\text{३१९८००००}}{\text{३४४}}+\frac{\text{१७८३६}}{\text{३४४}}$	$\frac{\text{३१९८००००}}{\text{३४३}}+\frac{\text{१७८३६}}{\text{३४३}}$
५८	१६	$\text{७}\times\text{४}+\text{३}\times\text{२४}+\text{६}=\text{७५०}$	$(\text{७}\times\text{४}\times\text{२४})+(\text{३}\times\text{२४})+\text{६}=\text{७५०}$
५८	१७	$\text{७५०}-\text{७२}=\frac{\text{६७८}}{\text{१२}}$	$\text{७५०}-\text{७२}=\text{६७८};\ \text{६७८}\div\text{१२}=\frac{\text{६७८}}{\text{१२}}$
६१	५	$\text{१३}\frac{\text{४}}{\text{७}}$	$\text{१३}\frac{\text{५}}{\text{७}}$
६२	११	छठवीं पृथिवी के	छठी पृथिवी के
६४	१६-१७	प्रति समय मे मरने वाली राशि को	प्रथम पृथ्वी के द्रव्य को (देखो-ध ७।२०२)
६४	२२	यह युक्ति से कहा है। वास्तव मे तो	× × × × ×
६४	२५	विग्रहगति में	विग्रहगति मे
६४	३०	मुखविस्तार से करना	मुखविस्तार से गुणित करना
७०	१४	संग्रहीत	संगृहीत
७०	२९	तिर्यञ्च पर्याप्त मिथ्यादृष्टि	तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि
७२	१३	तिर्यञ्च पर्याप्त जीव	तिर्यञ्च जीव
७२	१४	पर्याप्त जीव तिर्यग्लोक	जीव तिर्यग्लोक
७	२३	जीवराशि हुई,	जीवराशि है [उपपाद राशि का संचय एक समय मे होता है [देखो, ध. ७।३०७]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७७	२४	असख्यातगुणे	असंख्यातगुणे
७८	२१	इससे संख्यात	यहाँ से संख्यात
८०	२०	क्षेत्र के स्पर्श	क्षेत्र को स्पर्श
८५	२२-२३	उसका जो असंख्यातवाँ भाग अथवा संख्यातवां भाग लब्ध आवे उतनी	जो लब्ध आवे उसके असंख्यातवें अथवा संख्यातवें भागराशि
८६	१३	असंख्यात भाग को	असंख्यात बहुभाग को
६४	५	संखेज्जदिभागेण होज्ज ?	संखेज्जदिभागे ण होज्ज ? [नोट :–पृ. ६३ पर ११वी पक्ति मे जो कहा गया है कि "तिरियलोगस्स संखेज्जदिभागे" उस पर यह शका है]
६४	१६	भाग प्रमाण होना चाहिए ?	भाग क्षेत्र में नहीं होना चाहिए ?
१०४	२५	त्रसपर्याय राशि के	त्रस पर्याप्तराशि के
१२१	१५	बुद्धी का	बुद्धि का
१३७	१६	संज्ञी जीव	आहारक जीव
१४२	१	अजिवो	× × × × ×
१४२	२६	इस भव्यशरीर वाले के	इस भविष्यकाल में स्पर्शनविषयक शास्त्र के ज्ञायक के
१५३	२२	(१) $\frac{२२८}{२२८} = १$	(१) $\frac{२८८}{२८८} = १$
१५३	२२	(२) $\frac{५७६}{२२८} = २$	(२) $\frac{५७६}{२८८} = २$
१६२	१२	असख्यातवाँ	संख्यातवां
१६२	२६	वे उस गुणस्थान मे	एकेन्द्रियो में
१६३	६	उस गुणस्थान में	एकेन्द्रियों में
१६३	६	सासादन सम्यग्दृष्टियों में	सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान सहित
१६४	२६	सासादन गुणस्थानवर्ती उपपाद सबधी	सासादनगुणस्थानवर्ती जीवोका उपपाद सबंध
१६८	२२	$(\frac{३}{८} \times \frac{१^२}{२^२}) = \frac{२७}{२५६}$	$(\frac{३}{८} \times \frac{१}{२})^२ = \frac{२७}{२५६}$ वर्गराजू या प्रतरराजू
१६८	२३	व $\frac{७^१}{४६४^{\frac{२७}{१६}}}$	व $\frac{७^६}{४६४^{\frac{१६}{२७}}}$
१७५	१३	सूच्यंगुल के	"सूच्यंगुल के
१७६	१३	विपाकी ही है	विपाकी ही है"
१७६	१६	वे आकाश के प्रदेश के	वे देशोन आकाश के प्रदेश
१६१	२५	संख्यातवा	संख्यातवाँ
१६४	४	॥४॥	॥५॥
१६५	१३	२०१६, ८१७८।	२०१६, ८१२८ [देखो—मूल प्राकृत]
१६८	१०	संभ्या	संख्या

(क्रमशः)

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर

☐ डा० हेमन्त कुमार जैन

तीर्थंकर परम भट्टारक देवाधिदेव भगवान् महावीर को लाखों जनमानस उन्हे अंतिम चौबीसवां तीर्थंकर स्वीकार करते हैं। इतिहास उन्हें वीर पुरुष की तरह जानता है। जिस युग मे महावीर ने जन्म लिया था, उसी युग में उनके समकालीनों मे केशकबली, मक्खली, गोशाल पवुद्धकच्चायन, पूरणकश्यप, संजय वेलट्टिपुत्त और तथागत बुद्ध प्रभृति जैसी धार्मिक पुण्य विभूतिया थी। और विश्व के जाने माने महा-मानव ग्रीम मे महात्मा सुकरात, पारस मे महात्मा जरथुस्त तथा चीन मे लाओत्से और कन्फ्यूशियस आदि ने अपने-अपने क्षेत्र मे क्रान्ति ला दी थी। महावीर बुद्ध समकालीन थे।

बिहार राज्य मे आज से लगभग २५८७ वर्ष पूर्व वैशाली (वसाढ़ पटना से ३० मील उत्तर मे) एक समृद्ध-शाली राजधानी थी। इसके आस-पास ही कुण्डपुर या क्षत्रियकुण्ड के महाराजा सिद्धार्थ एवं उनकी महारानी त्रिशला (प्रियकारिणी) की कोख से भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। भगवान् महावीर का बाल्यावस्था का नाम वर्धमान था, एक बार भगवान् महावीर अपने साथियों के साथ मैदान में खेलने के लिए गये वहा खेलते समय एक साप आ गया, साप को देखकर उनके सभी साथी भाग गये, लेकिन वर्धमान निडर होकर वही खड़े रहे और साप को अपने वश मे कर लिया, इसी घटना के कारण सभी साथी उन्हे महावीर नाम से पुकारने लगे। जैन-दर्शन साहित्य मे उन्हें वीर, अतिवीर, सन्मतिवीर, महावीर और वर्धमान आदि नामों से भी जाना जाता है उनकी अपनी और अनेक विशेषताओ एव गुणो के कारण ज्ञातपुत्र, वैशालीय नामों से भी जाना जाता है। "भगवान् महावीर प्रव्रजित होने के बाद पार्श्वनाथ की निर्ग्रन्थ परम्परा मे दीक्षित हुए थे। इसलिए बौद्ध साहित्य में उनके लिए निर्ग्रन्थ (पाली निगण्ठ) नाम से ही सम्बोधित किया गया है वहां पर उन्हें ज्ञातपुत्र (पाली नातपुत्त) भी कहा गया है। क्योंकि वे ज्ञातृवशीय थे। बिहार की जथरिया जाति अब भी अपने-आप को महावीर का वशज मानती हैं।

महावीर ने तीस वर्ष की अवस्था मे राजकीय भोगोपभोगों का परित्याग कर दिया था, और आध्यात्मिक शांति की खोज के लिए मुनि दीक्षा धारण कर ली। महावीर दिगम्बर वेष धारण कर साधना और तपश्चरण में तल्लीन होकर बारह वर्ष तक कठोरतम यातनाओ के पश्चात् अपनी शारीरिक दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त कर सके। जिस समय महावीर ने घर त्याग किया था और बारह वर्ष वनवास के बाद सर्वप्रथम देशना (दिव्यध्वनि) राजगृही के समीप विपुलाचल पर्वत पर की थी। उस समय श्रेणिक बिम्बसार राजगृही का शासक था। लगातार ३० वर्ष तक वह मगध देश के विभिन्न इलाकों मे बुद्ध की तरह विहार करते रहे और जैन धर्म का प्रचार किया।

ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ७२ वर्ष की आयु मे पावापुर से निर्वाण हुए तभी से सम्पूर्ण भारतवर्ष में पावन दीपावली पर्व प्रचलित हुआ है।

"महावस्तु" मे लिखा है कि बुद्ध ने वैशाली के अलारा एव उड्डक में अपने प्रथम गुरू की खोज की थी और उनके निर्देशन मे जैन बन कर रहे।

भगवान् महावीर की माताजी चेतक वश से सबंधित थी, जो विदेह का सर्व शक्तिमान् लिच्छवि शासक था। जिसके इशारे मात्र से मल्लवशीय एव लिच्छवि लोग मर मिटने को तैयार रहते थे।

भगवान् महावीर ने बयालिस वर्ष की अवस्था तक सम्पूर्ण मनन-चिन्तन करके समाज के समक्ष कई उदाहरण

प्रस्तुत किये जिससे सम्पूर्ण समाज की आंखें खुल गयीं। जिससे समाज को एक नयी दिशा मिली।

महात्मा गांधी ने जो सत्य और अहिंसा की ज्योति जलाई थी, उसकी पृष्ठभूमि मे भगवान् महावीर और बुद्ध के नैतिक आदर्श रहे है।

भगवान् महावीर ने हमेशा पशुओ की हत्या और यज्ञ आदि धार्मिक कार्यों का निषेध किया था। प्राणियो की हिंसा करना पाप है इसलिए उन्होने अहिंसा का प्रचार किया और उन्होने अहिंसा के बारे मे इस प्रकार प्रकार महावाक्य कहे है—

समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्कर॥

अर्थात् सभी जीवो के प्रति चाहे वह शत्रु हो या मित्र समभाव रखना और जीव हिंसा का त्याग करना बहुत ही कठिन है।

सत्य होते हुए भी, कठोर वाणी बोलने वाले के लिए भगवान् महावीर ने हिंसा कहा है—

तहेव फरुसा भासा गुरुभूओव घाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स यागमो॥

अर्थात् दूसरो को दुःख देने वाली कठोर भाषा यदि सत्य भी हो तो उसे नही बोलना चाहिए, इससे पाप का आश्रव होता है। भगवान् महावीर ने सच्चे त्यागी का लक्षण बताते हुए लिखा है—

जे य कंते पिये भोए, लद्धे वि पिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, सेहुचाई ति वुच्चई॥
वत्थ गंधमलंकार, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुजति, सो चाई त्ति वुच्चई॥

अर्थात् जो सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी उसकी ओर से पीठ फेर लेता है और सामने आये हुए भोगो का त्याग कर देता है, वही त्यागी है। वस्त्र, गध, अलकार, स्त्री और शयन आदि वस्तुओं का जो लाचारी के कारण भोग नही कर सकता उसे त्यागी नही कहते। आगे भी कहते हैं--

जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहि लुप्पति पाणिणो।
सयमेव कडेहि गाहई, णो तस्स मुच्चेज्जडपुट्ठय॥

अर्थात् अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं। संसार में जितने भी प्राणी हैं सब अपने-अपने कार्यों के कारण दुःखी हैं। भगवान् महावीर ने बार-बार इसी बात को दुहराया है कि व्यक्ति को अपने कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। कहा भी गया है जो जैसा करे वो वैसा भरे। व्यक्ति जैसा विचार करेगा वह वैसा बन सकता है वह अपने भाग्य का विधाता स्वय है। इसलिए निर्ग्रन्थ प्रवचन में ईश्वर को जगत् का कर्त्ता स्वीकार नही किया गया है। तप आदि अच्छे कर्मों द्वारा आत्मविश्वास की सर्वोच्च अवस्था को ही ईश्वर बताया गया है। जैन धर्म की भारतीय दर्शन को यह बहुत बड़ी देन है। ऐसी स्थिति मे जो लोग जाति-पांति के भेद के कारण कर्म के बन्धन मे फसकर इंसान समझना ही छोड़ देते थे, उनके लिए भगवान महावीर का सिद्धान्त कितना प्रेरणादायक रहा होगा और उन्हे तत्कालीन ामती समाज के खिलाफ कितना संघर्ष करना पड़ा होगा। कर्म सिद्धान्त को ध्यान मे रखकर वेदों को मानने वाले ब्राह्मणों को लक्ष्य करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—

उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति; सायं च पायं उदगं फुसत्ता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धि, सिज्झिसु पाणा बहवे दगसि।

अर्थात् सुबह और शाम स्नान करने से यदि मोक्ष मिलता होता तो पानी मे रहने वाले सभी जीव-जन्तुओं को मोक्ष मिल जाना चाहिए। इसी को और स्पष्ट करते हुए आगे भी कहा गया है—

न वि मुंडिएण समणो न ओंकारेण बंभणो।
ण मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण ण तावसो॥

अर्थात् सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता ओम् का जाप करने से ब्राह्मण नही होता, जंगल मे रहने से मुनि नही होता और कुश के वस्त्र पहनने से तपस्वी नहीं होता। तो फिर किससे होता है—

कम्मुणा बभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होई, सुद्दो होइ उ कम्मुणा॥

अर्थात् कर्म (आचरण) से मनुष्य ब्राह्मण है और कर्म से ही क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है।

(शेष पृ० ३० पर)

निमित्ताधीन दृष्टि

□ श्री बाबूलाल जैन कलकत्ते वाले

[सम्पादकीय—पिछले वर्षों मे निमित्त की चर्चा विद्वानों के आग्रहवश काफी विवाद-ग्रस्त रही है काफी लोग पूजा-पाठ आदि जैसी क्रियाओ के करने से भी उदास हुए हैं। दीर्घकालीन पटाक्षेप के बाद लेखक ने पुनः इस विषय को छुआ है और आचार्यों के वाक्यो के प्रकाश मे सिद्ध किया है कि निमित्त अकर्ता है। हम लेखक की मान्यता को पुष्ट करते हुए पाठकों का ध्यान इधर भी खीचना उचित समझते हैं कि पाठक 'निमित्तकर्ता नहीं' इससे व्यवहार में ऐसा भाव ही लें कि अन्य द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के प्रति अकर्ता है फिर भी निमित्त के बिना भी कार्य नहीं होता अतः अनुकूल निमित्तों का अवलम्बन लेकर कल्याण करना चाहिए। आशा है पाठक उक्त लेख को इसी दृष्टि से हृदयगम करेंगे और धार्मिक आचार-विचार जैसे निमित्तो को कल्याणकारी मान उन्हें अपनाए रहेंगे और अध्यात्म पर जोर देने वाले निमित्त-अकर्तावादी हम सभी जन भी अपने परिग्रहरूप अकर्ता-निमित्तो के कृश करने मे उद्यत होगे तभी ऐसी चर्चाओ के फल मूर्तरूप लेगे। —संपादक]

निमित्त के बारे मे अनेकों प्रकार की चर्चा समय-समय हुई है, परन्तु ऐसा लगता है निमित्त को कर्त्ता मानने वाले अभी भी निमित्त को कर्त्ता मानते जा रहे हैं। प्रश्न अभी खड़ा हुआ ही है समाधान नही हो पा रहा है। समाधान होने के बाद अगर कोई सही बात को न माने तो उसकी खुशी है परन्तु समाधान इस ढंग का होना चाहिए जो न्याय, युक्ति तर्क से हमारे जीवन के हर स्थल पर सही उतरे। अगर वह सही उतरता है तो आगम से भी उसका मिलान बैठना ही होगा। आज इसके बारे मे कुछ विचार करते है, विद्वान लोग सही गलत का निर्णय करें। यह बात तो निश्चित ही है कि निमित्त कर्ता नही हो सकता। कर्त्ता की परिभाषा है कि जो परिणमन करे वह कर्त्ता। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का अथवा द्रव्य की पर्याय का परिणमन कराने वाला नही हो सकता। कोई अन्य द्रव्य को अथवा उसकी पर्याय का कर्त्ता माने तो दो द्रव्यों मे एकत्वपना होकर मिथ्यात्व की पुष्टि हो जाएगी। इसीलिए जैन शासन मे भगवान को कर्त्ता नही माना है। अगर कोई भगवान को कर्त्ता मानते है तो भगवानभी हमारी आत्मा के लिए अथवा अन्य पुद्गलादि के लिए अन्य द्रव्य हुआ और उनका भगवान कर्त्ता है तो वे भगवान के साथ एकत्वपने को प्राप्त हो जायेंगे। इस प्रकार भगवान के कर्त्तापने का निषेध के द्वारा समस्त निमित्तो के कर्त्तापने का निषेध किया गया है।

अगर निमित्त को कर्त्ता माना जाएगा तो जो कार्य निमित्त ने किया है अथवा निमित्त की वजह से किया गया है वह उसी के द्वारा मेटा जा सकता है। अगर राग की उत्पन्न कर्त्ता स्त्री है तो राग को मिटाने वाली भी वही होगी। उसकी इच्छा के बिना राग नही मिट सकता। अगर ऐसा माना जाएगा तो आत्मा की मोक्ष प्राप्ति अथवा स्वर्ग, नरक भी पराधीन हो जायेगा। राग की उत्पत्ति में भी आत्मा का कोई दोष नही होगा क्योकि राग का कर्त्ता कोई और होगा। जैसा आजकल कहते है कि ब्लेक के पैसे का आहार दे दिया इसलिए हम लोग शिथलाचारी हो गए। अब उनका ठीक होना गृहस्थो के आधीन है अगर गृहस्थ चाहेंगे तो उनका शिथलाचार मिटेगा, नही चाहेगे तो नही मिटेगा। परन्तु नरक निगोद में गृहस्थ नही जाएगा शिथलाचारी ही जाएगा ऐसा शायद वे नही मानते।'

अगर राग-द्वेष का कर्त्ता दूसरा है तो संसारी आत्माओं को राग द्वेष के अभाव करने का भी उपदेश नही देना चाहिए क्योंकि वे क्या कर सकते है संसार मे दूसरा द्रव्य तो रहेगा और वह जैसा करावेगा वैसा ही

करना पड़ेगा क्योंकि हमारे अच्छे-बुरे का कर्त्ता दूसरा ही है। उसी प्रकार क्योंकि हम भी अन्य के लिए पर हैं इसलिए उस पर का भला-बुरा भी हमारे हाथ मे है हम जैसा चाहेंगे वैसा उसका परिणमन करा देंगे। इसी का नाम अहंकार है। क्योंकि जब मैं पर का कर्त्ता हूं —हो सकता हूं पर मेरा कर्त्ता हो सकता है तब पर के कर्त्ता-पने का अहंकार मेरा भी नहीं मिट सकता और दूसरों का भी नहीं मिट सकता। इस प्रकार एक स्त्री सड़क पर जा रही है उसको पता भी नही है कि उसको कौन देख रहा है और देखने वाला रागी हो जाता है और कहता है इस स्त्री ने राग करा दिया। क्या यह सत्य है? यह तो वही बात हुई कि "अन्धेर नगरी चौपट राजा" अगर किसी की दीवाल गिर कर बकरी मर गयी तो दोष मसक बनाने वाले का है क्योंकि मसक बड़ी बन गई। क्या इसी का नाम जैनधर्म है, क्या यही जैनधर्म की दार्शनिक विचार-धारा है? क्या इसी के बल पर हम परमात्मा बनने की सोच रहे हैं?

फिर सवाल पैदा होता है कि अन्य द्रव्य कर्त्ता तो नहीं है परन्तु कराता तो है। इसलिए उसी का दोष है। इस विषय में भी आचार्यों का दृष्टिकोण स्पष्ट है कि हरेक वस्तु मे अपनी शक्तियां हैं। कोई द्रव्य अन्य वस्तु में कोई शक्ति उत्पन्न नही कर सकता। अगर किसी वस्तु में निज मे उसमें शक्ति नही है तो अन्य वस्तु के हजारो चेष्टा करने पर भी वह उस वस्तु मे कोई शक्ति पैदा नही कर सकती। अगर अन्य वस्तु अन्य वस्तु मे नई शक्तियाँ पैदा कर दे तो चेतना जड हो जाए और जड चेतन हो जाए। फिर सवाल पैदा होता है कि उस वस्तु मे शक्ति हो तो दूसरी वस्तु कुछ करती है अथवा दूसरे की वजह से कुछ होता है? यह सवाल ही अब उत्पन्न होने की जगह नहीं रहती क्योंकि वस्तु अपनी शक्ति रूप से परि-णमन कर रही है। फिर सवाल पैदा होता है कि फिर क्या निमित्त का कोई कार्य मे सहयोग है या नही। अगर नही है तो उसको निमित्त भी क्यो कहा जाता है? फिर निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध क्या है?

अगर निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध न हो तो संसार कायम नहीं होगा और निमित्त नैमैत्तिक को कर्त्ता कर्म मान लिया तो संसार का कभी अभाव नहीं होगा। आचार्यों ने परद्रव्य की पर्याय के साथ अन्य द्रव्य की पर्याय का कोई भी सम्बन्ध और सहयोग माना वह निमित्त नैमैत्तिक के दायरे में ही आता है कर्त्ता कर्म के दायरे में कोई भी सम्बन्ध किसी भी प्रकार का दूसरे के साथ नही हो सकता। निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध में उपा-दान और निमित्त स्वतंत्र होते हैं पराधीनता का सवाल नहीं होता। अब यह विचार करना है कि निमित्तका हमारे जीवन अथवा आत्मकल्याण में कोई सहयोग है या नहीं?

निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध दो द्रव्यों की पर्याय में होता है। दो द्रव्यों मे नहीं होता क्योंकि द्रव्य नित्य होता है अगर द्रव्यो में माना जाएगा तो द्रव्यों का नाश नहीं होने से निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध का भी नाश नहीं हो सकेगा।

निमित्त को तीन भागों मे बांटा जा सकता है (१) धर्म, अधर्म, आकाश, काल का निमित्तपना (२) बाकी सब, जिसमें बाहरी पदार्थ, पुद्गलादि, स्पर्श रस, गंध वर्ण अन्य आत्मा, देव, शास्त्र गुरु सभी आ जाते हैं—के साथ निमित्त-नैमित्तिक पना। (३) ससारी आत्मा का अष्ट प्रकार के कर्मों के साथ निमित्त नैमैत्तिकपना। इन तीनों का सामान्य स्वरूप एक ही प्रकार का होते हुए भी विशेष रूप मे विचार करने पर कुछ अन्तर है। जब जीव और पुद्गल अपनी क्रियावती शक्ति से एक जगह से दूसरी जगह जाते है तो धर्म द्रव्य स्वत: अपने आप निमित्त रूप रहता है वैसे ही ठहरते है तो अधर्म द्रव्य निमित्त रूप रहता है और जब आप अपनी परिणमन शक्ति से द्रव्य परिणमन करता है तो काल, द्रव्य निमित्त रहता है और अवगाहना मे आकाश द्रव्य है ही इसमे अनुकूल निमित्त के उपस्थित रहने वाली परिभाषा भी लागू हो जाती है।

दूसरे प्रकार के निमित्तपने मे मात्र अनुकूल उपस्थिति की ही बात नही है परन्तु उपादान जिस वस्तु की पर्याय का जिस कार्य के लिए अवलम्बन लेता है उस रूप वह आप ही परिणमन करता है। वह अवलम्बन चाहे बाहर में वस्तु की उपस्थिति मे हो अथवा अपने अन्तर मे वस्तु को विकल्पों में उपस्थित करके ले, पर का अवलम्बन वह

ही लेता है और जिस दृष्टिकोण से लेना है वह भी उसी पर निर्भर है तब वही रागरूप परिणमन करता है। सवाल पैदा होता है कि क्या इस प्रकार से निमित्त ने कुछ सहायता की? नहीं निमित्त ने कुछ सहायता नहीं की। परन्तु उपादान ने उसकी सहायता ली तब उपचार से कहा जाता है कि निमित्त ने सहायता की जोकि मात्र उपचार है; व्यवहार है। ऐसा मात्र निमित्त की प्रधानता दिखाने को, कहा जाता है। लौकिक व्यवहारीजनों की भाषा है। फिर सवाल है कि क्या निमित्त कार्य में सहायक होता है? उत्तर है सहायक नहीं होता परन्तु सहायता ली जाती है। वह कैसे? अगर हम सहायक न बनावे तो कार्य नही होगा इसलिए हमारे ऊपर ही सब दारमदार है। अब अच्छे निमित्त मिलाना और बुरे से बचने का क्या सवाल है और फिर निमित्त को अच्छा बुरा कहने का भी क्या प्रयोजन है? इस पर विचार करते है।

एक व्यक्ति एक चश्मा लगाता है। चश्मा नहीं दिखाता अगर चश्मा दिखावे तो पत्थर की मूर्ति को भी दिखा देवे। चश्मा से दिखता है ऐसा भी नही है अगर चश्मा से दिखे तो कोई आँख बंद कर चश्मा लगा ले उसको भी दिखने लगता। तब क्या कहा जावे? चश्मे का हमने अवलम्बन लिया और उस प्रकार से लिया जो देखने में सही प्रकार है और देखने के लिए लिया और चश्मा लगाकर हमने देखा। इसलिए चश्मे का अवलम्बन हमने लिया, देखने के लिए लिया और चश्मा लगाकर हमने देखा। तब यह कहा जाता है कि चश्मे ने दिखा दिया यह उपचार कथन है। चश्मा का लगाना हमारी कमी को बता रहा है कि हमारी आंख में कमजोरी है। फिर सवाल पैदा होता है कि चश्मे ने नही दिखाया, चश्मे से ही देखा परन्तु चश्मा बिना भी तो नही देखा जा सकता। यह बात सही है अगर आंखें कमजोर है तो देखने के लिए चश्मा बिना नही देखा जा सकता। यह समझ कर वह अपनी कमी को दूर कर दे तो चश्मे की जरूरत नहीं रहेगी। इसी प्रकार एक लकड़ी है हमसे चला नही जाता हम उसका सहारा लेते है और चलने के लिए लेते है। कंधे पर नही रख लेते हाथ मे उस प्रकार लेते हैं जिससे चलने में सहायक हो और उसका अवलम्बन लेकर हम चलते हैं। उसने सहयोग नही दिया हमने सहयोग लिया और हम ही चले। फिर अपनी शक्ति को बढ़ाते जाते हैं और उसका अवलम्बन छोडते जाते हैं जब पूर्ण विकास शक्ति का हो जाता है अवलम्बन छूट जाता है। किसी ने माचिस दी हम चाहें तो आग लगा सकते हैं, चाहे खाना पका सकते हैं यह सब हमारे पर निर्भर है लकडी से किसी को मार सकते हैं, आग मे जला सकते हैं; और सहारा लेकर चल भी सकते है। उसमें जो जो पर्याय योग्यता है उसमें से किसी कार्य के लिए अवलम्बन लिया जा सकता है।

देवशास्त्र गुरु का अवलम्बन हम लेते हैं। वहां बाहर में लेते हैं अथवा अपने उपयोग मे, ज्ञान में उनका अवलम्बन लेते हैं। पुण्य के लिए भी ले सकते हैं, भेद विज्ञान के लिए भी ले सकते है यह भी हमारे पर निर्भर करता है। फिर जिस अभिप्राय से लिया उस रूप का हमीं परिणमन करते है तब उपचार लागू पड़ता है कि भगवान की वजह से मार्ग मिल गया। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र मे सम्यक्दर्शनादि अथवा भेदविज्ञान रूपी कार्य के निमित्तपने की योग्यता नही है, मिथ्यात्वादि रूप या ससार-शरीर-भोगो के निमित्तपने की योग्यता है अतः उनका निषेध किया गया और सच्चे देवशास्त्र गुरु के सयोग का उपदेश दिया गया। हमारे मे इतनी सामर्थ्य नही है कि उस अवलम्बन के बिना अपने स्वभाव को देख सके। जब तक उसकी योग्यता नही बनती तब तक उनका अवलम्बन लेते है जब ऐसी योग्यता बना लेते हैं कि उनके बिना भी अपने आपको देख सके तब कोई दरकार नही रहती। परन्तु फिर भी जब स्वभाव से हटे तब फिर भावों के नीचे गिरने से रोकने को फिर उनका अवलम्बन लेना पड़ता है। किसी ने गाली निकाली गाली ने क्रोध नही कराया। गाली ने यह भी नही कहा कि तू मुझे सुन, यह आप ही कान में आये हुए शब्द वर्गणा को सुनने को गया, यह भी इसी पर निर्भर है कि उसको इष्ट माने या अनिष्ट, इसने ही अनिष्ट माना और यही कषाय रूप परिणमन किया। गाली निकालने वाले ने क्या किया उसने तो मात्र अपना परिणमन किया। यहां पर भी निमित्त की आधीनता नहीं है। समूचा जोर

उपादान पर ही आ रहा है। देवशास्त्र गुरु को इष्ट निमित्त कहा सो भी इसलिए कि कषाय का होना अनिष्ट है और कषाय का न होना इष्ट है ये कषाय के न होने में अवलम्बन है इसलिए उपचार से इष्ट कहा है, मूल में तो ये इष्ट नहीं है परन्तु कषाय का मंद होना या न होना इष्ट है। इसी प्रकार कुदेवादि अनिष्ट नहीं है परन्तु वे कषाय के होने में सहयोगी है और कषाय का होना अनिष्ट है इसलिए इन्हें उपचार से अनिष्ट कहा है।

उपादान जिस रूप परिणमन करने के सन्मुख होता है वह बाहरी पदार्थों को उसी रूप के कार्य के लिए सहयोगी बना लेता है। हमारे में एक ऐसी धारणा बनी हुई है कि कोई गाली दे तो क्रोध करना ही है, यही कारण है कि ऐसा सयोग जुड़ते ही अपनी धारणा के वशीभूत हम बिना सोचे समझे क्रोध कर लेते है। हम उसका अवलम्बन लेने को तैयार ही रहते है और अनिष्टपना पहले से मान रखा है। इसलिए ऐसा लगता है कि इसकी गाली निकालने से क्रोध हुआ या किया परन्तु गहराई से देखा जावे तो इसका पहले से नक्की किया हुआ है कि ऐसा होने पर ऐसा करना। इस गलत मान्यता को तोड़े और यह निर्णय ले कि कोई गाली निकालेगा तब भी मैं चाहू तो शांत रह सकता हूं। मेरे को आज ऐसा ही शान्त रहना है, इस [illegible] हमारी पहले की मान्यता अथवा आदत को [illegible] सब बातो मे लागू पड़ती है। जब तक [illegible] अवस्था है तब तक हम जाने अनजाने, उस [illegible] नहीं होने पर भी हम उसका अवलम्बन [illegible] राग रूप परिणमन कर जाते हैं जब तक [illegible] है तब तक इसकी अपनी कमजोरी की [illegible] मना किया है कि ऐसे संयोग मे न जा, न [illegible] का अवलम्बन ले। यह इस वजह से [illegible] कि वह हमारा बुरा कर देगे परन्तु उन सयोग के [illegible] में तू अपनी कमजोरी के कारण अपना बुरा कर लेगा अथवा अच्छे संयोगों में तू चाहे तो अपना भला कर सकता है।

अब एक सवाल है कार्य होने के बाद निमित्त कहलाता है अथवा पहले से ही निमित्तपना है। क्योंकि कार्य होने के बाद निमित्त कहा जाता है तब मन्दिर में जाना चाहिए। शास्त्र-स्वाध्याय करना चाहिए यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि अभी तो कार्य हुआ भी नहीं यह कैसे कह सकते हैं। इसका उत्तर है कि एक सामान्य कथन है और एक व्यक्ति अथवा कार्य विशेष की अपेक्षा कथन है। परन्तु सामान्य कथन में किसी का कार्य हो या न हो उसमें उस रूप के निमित्तपने की शक्ति को देख कर आचार्यो ने उस कार्य के लिए उनका सहयोग मिलाने का उपदेश दिया। मुलेठी में कफ गलाने की शक्ति है किसी का कफ गले या न गले उसकी शक्ति का निषेध नहीं कर सकते। वह पंसारी की दुकान मे पड़ी है तब भी उसमें वह शक्ति विद्यमान है और इसी वजह से वैद्य किसीका कफ गालने को उसका उपयोग बताता है जब कि अभी कार्य तो हुआ ही नही है। हमारे लिए निमित्त वह तभी कहलाएगी जब हमारा कफ गलेगा। परन्तु कफ गालने का निमित्तपना उसमे है यह मानकर चलना होगा। यही बात देवशास्त्र गुरु के प्रति है इसलिए उनका सहारे का उपदेश दिया गया है।

एक सवाल है कि किसी को निमित्त बनावे या न बनावे क्या यह हमारी स्वतन्त्रता है या निमित्त के उपस्थित होने पर उसको निमित्त बनाना ही पड़ेगा? ऐसा नही है, निमित्त तो हर वम उपस्थित ही है अगर उपस्थिति में निमित्त बनाना ही पड़े तो संसार से वस्तु का अभाव तो होगा नही और निमित्त की उपस्थिति मिटेगी नहीं और हमारा विकार मिटेगा नही। ज्यादातर उदाहरण जो दिए जाते हैं वे पुद्गल के दिए जाते हैं और पुद्गल में अपनी समझदारी नहीं रहती अतः १००° गर्मी मिलेगी तो पानी को भाप बनना ही पड़ेगा। किसी ने पानी के बर्तन को आग पर रख दिया अब उस पानी को गर्म होना ही पड़ेगा। घी को धूप में रखा उसको पिघलना ही पड़ेगा। इन सबको देख कर हमने भी यह समझ लिया कि हमतो निमित्त के अधीन है। स्फटिक के नीचे डक लगाने पर लाल होगा ही। परन्तु चैतन्य के बारे में ऐसा नहीं है। पुद्गल के बारे में एक व्यक्ति अलग है जो बर्तन को पानी पर रखता है और पानी और आग का निमित्त नैमित्तिकपने को मिला देता है और कार्य हो जाता है। परन्तु बाहरी संयोग मिलने पर भी चेतन चाहे तो उसका अवलम्बन ले अथवा न ले, किस कार्य के लिए ले यह भी

उसी पर निर्भर है। इसलिए कार्य का होना न होना निमित्ताधीन नही रहा परन्तु इसके अपनी समझदारी के अधीन रहा। इसलिए चेतन के बारे मे विचार करते हुए पुद्गल की स्थिति को देख कर वैसा नही समझना चाहिए। क्योकि जीव मे ज्ञान शक्ति है इसलिए निमित्त बनाना, नही बनाना, किस कार्य के लिए अवलम्बन लेना सभी कुछ उसी पर निर्भर है। परन्तु पुद्गल को वैसा निमित्त का, वैसे कार्य के लिए निमित्त मिल जाए, या मिला दिया जाए तो वह कार्य हो जाता है परन्तु उपादान मे तद्रूप परिणमन की शक्ति होनी चाहिए। इसी वजह से कार के साथ पेट्रोल का निमित्त उसी ढग से, उसी रूप से मिला दिया जाता है तो वह कार्यरूप परणित होती है अथवा कहना चाहिए कि पेट्रोल का अवलम्बन पाकर कार अपनी उपादान शक्ति से चली। जीव के बारे मे पर का अवलम्बन लेकर परिणमन किया ऐसा मानना है जबकि पुद्गल में अव लंबन पाकर चाहे वह स्वत: मिले या किसीके मिलानेसे मिले तब पुद्गल उस कार्य रूप में परिणमन करता है। यही बात सभी पुद्गलादि के साथ लागू है। सूर्य की गर्मी पाकर समुद्र का पानी भाप रूप परिणमन कर रहा है, यहां किसी अन्य ने निमित्त को नही जुटाया परन्तु कार के चलने मे पेट्रोल का सम्बन्ध किसी अन्य ने जुटाया वह अवलम्बन पाकर चलने रूप परिणमन हुआ।

अब फिर एक सवाल होता है कि जब उपादान को उस रूप परिणमन करना है तो वे सब निमित्त मिलेंगे ही। ऐसा मानने पर भी एक बात तो निश्चित हो गई कि कार्य होने में निमित्त का अवलम्बन है चाहे बात को उपादान की तरफ से कहा जावे अथवा निमित्त की तरफ से।

क्या हम बाहरी निमित्तों को जुटा सकते है यह एक सवाल खड़ा होता है। उसके बारे में विचार करते है कि द्रव्य दृष्टि से तो यह कार्य जीव का नहीं है और जीव यह कार्य कर भी नही सकता। परन्तु पर्याय दृष्टि मे यह अपने योग उपयोग का जिम्मेदार है और उस योग उपयोग के निमित्तपने से कार्य सम्पादन होते हैं, इसलिए इस दृष्टि से इसका जुटाने वाला और हटाने वाला भी बताया है और इस दृष्टि से इस बात का उपदेश दिया है, नही तो उपदेश निरर्थक हो जाएगा। जब इसके भीतर ज्यादा प्रबलता होती है तो बाहरी निरुपयोगी पदार्थ में भी यह अपने कार्य का निमित्तपना बना लेता है जैसे पत्थर की ठोकर लगने पर यह विचार करना कि जो देखकर नही चलता उसको ठोकर लगती है इसी प्रकार अगर मैं सावधान नही रहता तो कषाय की ठोकर खानी पड़ती है। यहां पर भी उपादान की सभी तरह से स्वतन्त्रता कायम रहती है।

अब सवाल आता है आठ कर्मों के निमित्तपने का। कोई कह सकता है कि यहा तो जीव पराधीन जरूर होगा। इसी पर विचार करना है। आठ कर्मों मे कुछ पुद्गल विपाकी है उनका निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध पुद्गल का पुद्गल के साथ है अत: उनके उदय काल में शरीरादि की अथवा संयोगो की वैसी स्थिति होती है। विचार उनका करना जो जीव विपाकी है जिनका फल से जीव के ज्ञान दर्शनादि गुणों का घात होता है। मुख्य रूप से चार घातिया कर्मों का विचार करना है। उन चारों मे से भी मोहनीय कर्म जो दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार का है वही समूचे कर्मों की जड़ है वही ससार का कारण है। मुख्य रूप से उसी का आत्मा के साथ किस प्रकार का निमित्त नैमैत्तिकपना है यह विचार करना है। एक बात तो यह समझ लेनी चाहिए कि हरेक कर्मों का सम्बन्ध अपने अपने कार्यों के साथ अलग-अलग है। आत्मा के चारित्र और दर्शन से ही मोह का सम्बन्ध है अन्य किसी भी कार्य से इस कर्म का सम्बन्ध नहीं है। करणानुयोग का कथन भी व्यवहार दृष्टि से किया गया है अत: सब जगह कर्म का कर्त्तापने की भाषा मे ही कथन है उस उपचार कथन को हमने वास्तविक मान लिया है परिणमन जीव ने किया, कहा गया कर्म ने करा दिया और हमने भी यही मान लिया। यह नहीं समझा कि यह व्यवहार दृष्टि का कथन है। सर्वार्थ सिद्धि में पूज्यपाद स्वामी ने उदय की परिभाषा करते हुए यह कहा है कि फल की प्राप्ति वह उदय है यानि जितना उदय है उतनी फल की प्राप्ति है ऐसा नही है परन्तु जितनी फल की प्राप्ति है उतना उदय है। तब सवाल आता है कि बाकी फल का क्या हुआ जो हमने नही लिया। उसका उत्तर है कि उसका उदयाभावी क्षय

हो गया अथवा संक्रमण हो गया अथवा देशघाती आदि रूप होकर निर्जर गया। कर्म अपना समय पूरा होने पर निर्जर होने को आया। हमने जितना फल लिया उतना उदय कहलाया बाकी उदयाभावी क्षय हो गया। अगर ज्यादा लेने की चेष्टा की तो उदिरणा हो गयी। यह हमारे पर निर्भर है हम कितना फल लेते है ज्यादा या कम। सवाल पैदा होता है कि अगर हम बिल्कुल नही लेवे तो कषाय से रहित हो जायेगे ?

उसका उत्तर है कि इसके लिए आत्मशक्ति की दरकार है जितनी हमारे मे आत्मशक्ति है उतनी भी हम पूरी नही लगाते अगर पूरी भी लगा दे तो उतना ही उदयाभावी क्षय होगा जितनी गुणस्थानो के अनुसार आत्मशक्ति है। अगर उससे आगे आत्मशक्ति बढ़ती है तो गुणस्थान भी बदली हो जाता है। हरेक गुणस्थान में एक कम से कम (Mini) एक ज्यादा से ज्यादा (Maximum) शक्ति का उपयोग हम करते है। जैसे हमारी शक्ति १ से ४ तक है ज्यादा से ज्यादा उस गुणस्थान मे हम चार प्वाइंट तक शक्ति लगा सकते हैं। अगर हमारे पास ४ से १० तक शक्ति है तो हमारा गुणस्थान दूसरा होगा। एक छः वर्ष का बच्चा एक पत्थर को नही हटा सकता है मात्र हिला सकता है परन्तु वही बडा होकर शक्ति का संग्रह करके उसको उल्टा सकता है। यही बात जीव की है चौथे गुणस्थान मे जितनी शक्ति है उतना ही कार्य कर सकता है वहां पर जो राग-द्वेषादि होते है वे उसकी शक्ति की कमी की वजह से होते हैं उसे उतना फल ग्रहण करना पड़ता है। तब उपचार से कहते हैं कर्म ने फल दे दिया वह जब अपनी शक्ति आत्मानुभव के द्वारा बढा लेता है तब वही अप्रत्याख्यानावरण—प्रत्याख्यानावरण रूप हो जाती है। क्योंकि अब उसमे इतनी शक्ति का संग्रह है कि वह तद् रूप फल नही लेता है। इस प्रकार से यहां पर भी जीव की स्वतंत्रता है फल कितना लेना है यह जीव की शक्ति पर निर्भर है। यही कारण है कि पंचास्तिकाय मे आचार्य ने लिखा है कि द्रव्य प्रत्ययों का उदय होने पर भी जीव भाव मोह रूप न परिणमन करें। अब फिर सवाल पैदा होता है कि क्या पुद्गल कर्म मे फलदान शक्ति है अथवा वह मात्र थर्मामीटर है। इसका उत्तर है कि जैसे पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है हरेक फल को या चीज को अपनी तरफ खैंच लेती है। वैसे ही पुद्गल कर्म अथवा मोहनीय कर्म मे भी संसारी आत्मा को राग-द्वेषरूप परिणमन करने में खिचाव की शक्ति है यह मानना जरूरी है क्योंकि अगर ऐसा नही मानते हैं। तो सम्यक्-दृष्टि आत्मा सामायिक कर रहा है, परिणामों को सम्भाल रहा है, स्वभाव की तरफ दृष्टि करने का पूरा पुरुषार्थ कर रहा है परन्तु अनेक प्रकार ऊल-जलूल विकल्प और विपरीत परिणाम लाख चेष्टा करने पर भी हो जाते है। इससे मालूम देता है कि अपनी शक्ति से खिचाव ज्यादा है तब वैसा परिणमन कर जाता है। जैसे चुबक और लोहा हैं। लोहा अगर भारी है और चुम्बक मे शक्ति कम है तो लोहे को नहीं खैंच सकेगा। अगर सूई पड़ी होगी तो उसको खैंच लेगा। एक आदमी एक आदमी का हाथ पकड़कर खींच रहा है वह भी उधर जाना चाहता है तब उस आदमी की और दूसरे आदमी की दोनो की शक्ति मिल कर खैंचाव होगा। अगर वह नही जाना चाहता है और अपनी शक्ति को खैचाव से विपरीत दिशा में लगा देता तो पहले आदमी की शक्ति में से दूसरे की शक्ति कम करने पर अगर पहले वाले मे ज्यादा शक्ति बचती है तो उतना खिचाव होगा। मिथ्यादृष्टि उस खिचाव की तरफ जाना चाहता है अतः कर्मशक्ति और उसकी शक्ति एक दिशा मे काम करती है। सम्यक्दृष्टि खिचाव की तरफ नही जाना चाहता अतः जितनी शक्ति उसने खिचाव के विरुद्ध मे लगाई उतनी कम होकर बाकी का कर्म की तरफ खिचाव हुआ। ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों मे आत्मशक्ति बढ़ती जाती है अतः कार्य का खिचाव कम होता जाता है। यहां भी कर्म की वजह से उधर गया यह करणानुयोग का कथन है और अपनी आत्मशक्ति की कमी की वजह से उधर गया यह अध्यात्म का कथन है। विचार किया जावे तो दोनों का एक ही अर्थ है। जीव की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है, इसका भी कारण आत्मबल की कमी है। दूसरे की बरजोरी नहीं है वह पुरुषार्थ बढ़ाकर आत्म-बल बढ़ा सकता है। अगर आत्मबल नही बढ़ाता है तो यह उसकी वजह कही जाएगी। आत्मबल भी क्रम-क्रम से गुणस्थानों के अनुसार ही बढ़ता है।

अगर जीव प्रायोग्यलब्धि में तत्व चितवन में उपयोग लगाता है तो मिथ्यात्व ढीला पडने लगता है और करणलब्धि में अपने स्वभाव को देखने की चेष्टा कराता है तब मिथ्यात्व हटने लगता है। यहां पर ऐसा समझना चाहिए कि एक कमरे के किवाड़ बंद है और कहा जाता है कि किवाड खुले बिना बाहर नही जा सकता है परन्तु साथ में सज्ञी पचेन्द्रिय को यह भी कहा जा रहा है कि तू चाहे तो किवाड़ खोल सकता है, किवाड़ खुले हुए ही है तेरे आगे बढ़ने की देरी है जैसे हवाई अड्डे में फाटक बन्द रहता है और बन्द देख कर वह खड़ा रहे तो यह उसकी खुशी है। परन्तु आगे बढ़ता जाता है तो फाटक खुलता जाता यही बात कर्म के बारे में है। सभी चीज हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर करती है। एक बार राग करने पर आत्मा पर उगी जाति का सस्कार और मजबूत हो जाता है। इस प्रकार हर समय हमारे सस्कार मजबूत होते जाते है जब बहुत मजबूत हो जाते है तब आत्मा अपने ही सस्कारो के आधीन हो जाती है और तदरूप परिणमन अपनी इच्छा के विरुद्ध करने लगती है। यह हमारी अपनी पैदा की हुई पराधीनता है। उस सस्कारो को तोड़ने के लिए उससे विपरीत सस्कारो के उपाय करने होगे। जैसे पर मे, शरीर मे एकपने के सस्कार मजबूत करते जा रहे है उस सस्कार को तोड़ने के लिए शरीर से भिन्नपने के सस्कार पैदा करने को वैसी चेष्टा करनी होगी। निरन्तर आत्मा के भिन्नपन की भावना भानी पड़ेगी वह भी उतनी ही गहराई से जितनी शरीर मे अपनेपने की भावना भाई है तब वे सस्कार टूटेंगे इसीका नाम निर्जरा है। एक कांटा चुभा हुआ है अगर उसको निकालना है तो सुई को कांटे की लम्बाई से नीचा ले जाकर निकालना होगा। शरीर के एकत्वपने के संस्कारको तोड़नेके लिए उससे ज्यादा गहरा मजबूत सस्कार शरीर से भिन्नता का चाहिए। हम उतना पुरुषार्थ नही करते तब पहला संस्कार नही टूटता यही कर्म की थ्यौरी है। राग का सस्कार मेटने को भी उतना जोरदार पुरुषार्थ चाहिए तब राग मिटेगा। किसी व्यक्ति को साला कहने की आदत पड गई। अब वह आदत से लाचार हो गया और चाहे-अनचाहे जाने-अनजाने साला निकल जाता है। जब एक बार साला निकलता है तो पहले के संस्कार को फिर मजबूत कर देता है। अगर वह ज्यादा मजबूत हो जाता है तो जीव उन संस्कारो के आधीन हो जाता है। उन सस्कारो को मेटने के लिए उसका विरोधी उससे भी ज्यादा मजबूत सस्कार पैदा करना होगा। उसीका नाम आत्मानुभव है जिससे पहले वाला संस्कार मिटे और नया नही आवे तभी संवर और निर्जरा होती है।

इससे यह निश्चित हुआ कि यह जीव अपनी शक्ति के अनुसार अपना बचाव कर सकता है। यह कर्म को ज्यादा निमित्त बनावे, कम बनावे यह उसी पर निर्भर है इसलिए यहां भी इसकी स्वाधीनता है।

इसी के बारे मे प० टोडरमल जी तीन उदाहरण तीन प्रकार के कर्मों के बारे मे दिये है।

१. अघातिया कर्मों के निमित्त से बाहरी सामग्री का सम्बन्ध बनै है—यावत् कर्म का उदय रहे तावत् बाह्य सामग्री तैसे ही बनी रहे।

२. काहू पुरुष के सिर पर मोहन धूलि परी है तिसकरी सो पुरुष बावला भया……बावलापना तिस मोहन धूलि ही करी भया देखिए है।

३. जैसे सूर्य के उदयकाल विषै चकवा चकवीनि का का संयोग होय, तहा रात्रि विषै…… सूर्यास्त का निमित्त पाय आप ही बिछुरै है ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक बनि रह्या है तैसे ही कर्म का निमित्त नैमित्तिक भाव जानो।

दूसरा उदाहरण मोह कर्म की अपेक्षा है। इसी बात को ऊपर में खिचाव नाम देकर कहा गया है। पहला उदाहरण अघाति कर्मों का है।

पं० जी ने नवमी अध्याय मे निमित्त के बारे मे ऐसा कहा है कि एक कारण तो ऐसा है जाके भए कार्य सिद्धि ही होय जैसे सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता। कोई कारण ऐसा है जाके भए बिना तो कार्य न होय और जाके भए कार्य होय या न भी होय जैसे मुनि लिंग धारे बिना… । कई कारण तो ऐसे हैं जो मुख्यपने तो जाके भए कार्य होय अर काहू के बिना भए भी कार्य सिद्धि होय जैसे अनशनादि बाह्य तप। यहा पर भी साधन मे कारण का उपचार करके साधन को कारण कहा। वहां पर उसको साधन ही मानना चाहिए कारण नहीं मानना चाहिए।

इसी बात को लेकर निश्चय व्यवहारालंबि के कथन मे कारणपने का निषेध करके साधनपने की स्थापना की है। ऐसा ही प्रवचन सार में चरणानुयोग चूलिका के शुरु में साधनपने की स्थापना भी की और साधन की परिभाषा भी रखी कि—"तेरे प्रसाद से अपने स्वरूप को प्राप्त कर लू। वहां पर वह प्राप्त करा दे, उससे प्राप्त हो जावे दोनों का निषेध करके मैं प्राप्त कर लू तेरे प्रसाद से अर्थात् तेरा अवलम्बन लेकर मैं प्राप्त कर लू, यह परिभाषा सभी निमित्तो के लिए बन जाती है। अत: निमित्त कर्ता नही, कराता नही, निमित्त से होता नही परन्तु जिसका अवलम्बन लेकर हम कार्य करते हैं वह निमित्त नाम पाता है यही परिभाषा बनती है। कर्मों में भी (मोहादिक में, चुंबक की तरह खिचाव तो मानना है परन्तु कार्य हमारी आत्मशक्ति के अनुसार ही कम ज्यादा होता है। जब आत्मशक्ति कम है तब कर्म का तीव्र उदय कहलाता है जब आत्मशक्ति ज्यादा है तो कर्म का मद उदय कहलाता है।

अगर कोई कहे कि उपादान उस समय की अपनी पर्याय योग्यता के अनुसार परिणमन करता है वहां निमित्त के सहयोग का क्या सवाल है? उसका उत्तर है कि लगड़े आदमी की पर्याय योग्यता लकड़ी का सहारा लेकर चलने की है। भले चगे आदमी की योग्यता निरालम्बन चलने की है। इसलिए वह पर्यायोग्यता कहने में भी निमित्त सापेक्षता आ जाती है।

निमित्ताधीनदृष्टि का अर्थ है मिथ्यादृष्टि, क्योंकि वह मानता है कि निमित्त ने ऐसा कर दिया। मैं, मेरा सब कुछ, मोक्ष मार्ग भी निमित्त के आधीन है। अत: अपने दु:ख सुख का कर्ता, राग-द्वेष का कर्ता, निमित्त को मानता है। क्योंकि संसार में हमारे अपने सिवाय सभी पर है अत: सभी निमित्त हो सकते हैं इसलिए समस्त जीव अजीवादि के प्रति उसकी सम्भावना में राग-द्वेष रहता है, जो कि अनंतानुबंधि कहलाता है। इसलिए जो निमित्त को कर्ता मानता है वह मिथ्यादृष्टि रहता है। आगम में कारणानुयोग और चरणानुयोग में निमित्त को कर्ता कहकर वर्णन किया है जो उपचार कथन है अर्थात् निमित्त में कर्तापने का उपचार है वास्तवमें कर्ता नही है,इसीको लेकर समयसारजी में ऐसा कहा है कि जो ऐसे मानता है वह सांख्यमति है चाहे वह अरहतके मत का मानने वाला मुनि भी क्यों नही होवे।

व्यवहारी जीवो को समझाने को आचार्यों ने व्यवहारी भाषा में वर्णन किया है नही तो व्यवहारी लोकों को समझ मे नही आ सकता था। जैसे कोट को छोटा हो गया कहना यह लौकिक भाषा, वास्तव में तो पहनने वाला मोटा हो गया यह सही भाषा है। वैसे ही निमित्त को कर्ता कहने की लौकिक भाषा है। सभी इसी भाषा का इस्तेमाल करते है जैसे उसने ऐसा करदिया, मैंने ऐसा कर दिया आदि। परन्तु वास्तव मे लौकिक भाषा का अर्थ तो हम ठीक समझते है परन्तु उसी भाषा का उपयोग परमार्थ कथन मे आचार्य करते है तो हम उसी को लौकिक भाषा जैसा अर्थ न करके उसका परमार्थरूप अर्थ कर लेते हैं वही असल मे हमारी अज्ञानता का मुख्य कारण है। अगर दो द्रव्यों की पर्याय का निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध नहीं मानेगे तो संसार भी नही बनेगा अथवा उसका अभाव भी नही बनेगा। अगर उसमे कर्ता कर्म सम्बन्ध मान लिया तो कभी मोक्ष की प्राप्ति नही होगी। □□

(पृ० २२ का शेषांश)

भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्वनाथ का ही मार्ग अपनाया है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का वर्णन इस प्रकार है—आया है जो स्थानाग सूत्र २६६ के अनुसार इस प्रकार है—

(१) सव्वातो पाणाति वायाओ वेरमणं।
अर्थात् सभी प्रकार के प्राणघात से विरति। (अहिंसा)

(२) एवं (सव्वातो) मुसावायाओ वेरमण।
अर्थात् सभी प्रकार के असत्य से विपरीत। (सत्य)

(३) सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं।
अर्थात् सभी प्रकार के अदत्तादान से विरति (अचौर्य)

(४) सव्वातो बहिद्धाद णाओ वेरमणं।
अर्थात् सब प्रकार के बहिर्धा-आदान से विरति।
(परिग्रह) (अपरिग्रह)

भगवान् महावीर ने इन चार धर्मों के पालन पर बहुत बल और जोर दिया है। अतएव इस महावीर जयन्ती के अवसर पर उनके आदर्श महावाक्यों को अपनाना चाहिए। □□

जरा-सोचिए !

क्या अभिनन्दन का यही तरीका है ?

जैसे याचना परीषह विजयी होने से मुनि स्वयं नही मांगते, चन्दे से निर्मित आहारादि ग्रहण नहीं करते वैसे ही ज्ञानी होने के कारण विद्वान भी स्वयं याचना नही करते और पर-याचना द्वारा दूसरों से अपने लिए एकत्रित द्रव्य को ग्रहण भी नहीं करते।

भला, जिस ज्ञानगुण के कारण मुनि अपने साधु पद जैसीं पंचमश्रेणी में रहते भी अपनी गणना चतुर्थ परमेष्ठी (उपाध्याय) के रूप में पाते है, उस ज्ञान की महिमा को हीन कैसे माना जा सकता है? ज्ञानी तो याचना नही करता वह तो उपाध्याय परमेष्ठी की भांति अपने ज्ञान-द्वारा याचकों की झोली भरने का काम ही करता है और पूज्य पं० फूलचन्द जी ने जीवन भर यही किया है।

हमें हार्दिक वेदना हुई जब हमने एक पत्र मे प्रकाशित 'श्री पं० फूलचन्द जी सि० शास्त्री का अभिनन्दन' शीर्षक से ऐसी सूचना देखी जिसमे एक लाख रुपयों की राशि संचित कर उन्हे समर्पित करने को लिखा परन्तु साथ में दातारों से राशि देने की अपील उन्हें यह प्रलोभन देकर की गई है कि दातारो के नाम की सूची विभिन्न जैन पत्रों में प्रकाशित कर दी जाएगी। यह पढ़कर खेद हुआ क्योंकि ऐसा इस प्रकार से करना न तो अभिनन्दन करने वालो के लिए शोभास्पद रहा और न जिनका अभिनन्दन किया जा रहा है उनके लिए उपयुक्त रहा। पंडित जी को अभिनन्दित कर राशि देना तो उचित है परन्तु अच्छा तो यह होता कि राशि इकट्ठी करके उनको अभिनन्दन के समय सबकी या किसी संस्था की ओर से भेंट की जाती। जब इतने वर्ष निकल ही चुके थे, अभी तक यह कार्य नहीं किया जा सका था तब एक-दो मास और निकल जाते। पंडित जी को भेंट करने को इस प्रकार पत्रों मे पैसा इकट्ठा करने की अपील निकलवाना सर्वथा निन्दनीय है। यह पंडित जी के उपकारों, उनकी अयाचीकवृत्ति और ज्ञानगुण के सर्वथा विपरीत है।

आश्चर्य है कि उक्त रूप से अभिनन्दन व द्रव्य भेंट करने का निश्चय जयपुर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर उन मुमुक्षुओ द्वारा हुआ जिनकी प्रतिष्ठा की जड़ों मे पंडितजी विद्यमान हैं और जिनके प्रयत्नो से मुमुक्षु समाज प्रकाशित है। यदि तनिक भी कृतज्ञता का भाव होता तो ये लोग पंडित जी की भेंट-राशि को अपने फण्डों से—याचनावृत्ति के बिना भी सहज ही दे सकते थे।

हमें खेद इसलिए हुआ कि हमारे मन मे पंडित जी के प्रति अत्यन्त सम्मान है, उनके उपकारों के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता का भाव हैं। उनकी उम्र काफी हो चुकी है। इस अन्त समय में उनको भेंट करने की राशि की अपील इस प्रकार खुले रूप में निकालना अपमानजनक और उनके नाम से भिक्षावृत्ति है।

देखा जाय तो मुमुक्षुओ के प्रति पंडित जी के ऐसे अगणित उपकार हैं जिन पर लाखों मुमुक्षुओं और मुमुक्षु मण्डलों की समस्त चल अचल संपत्ति निछावर कर दी जाय तो भी थोड़ी है। हमें दुख तब शायद न हुआ होता जब ऐसा उपक्रम 'मरणोपरान्त' हुआ होता क्योंकि आज मरणोपरांत ऐसे उपक्रमोंकी परिपाटी चल पड़ी है और लोग भ० महावीर व कुन्दकुन्द के बाद भी उनके नाम पर आज चन्दा-चिट्ठा कर उनकी कीर्ति भुनाने मे लगे हैं, आदि।

हम तो श्रद्धेय पूज्य पंडित जी का उनके जीवन में सम्मान करते रहे है और करते हैं। उनकी अयाचीकवृत्ति, परोपकारिता और निर्भीकता हमे प्रेरणादायी रही है और रहेगी। उनके चरणो मे सादर नमन।

कुछ शोधें और सेमिनार

जब हम मानकर चल रहे हैं कि हम अनादि हैं और हमारा वीतराग धर्म-सिद्धांत अनादि हैं तब यदि कोई हमे और हमारे धर्म को अन्य किन्ही साधनों से किसी खास नियत काल (४-६ हजार वर्ष पूर्व) का सिद्ध करने का प्रयास करे अथवा हमारे वीतराग देवों का रागी देवी-देवताओं से एकत्व सिद्ध करने का प्रयत्न करे तो हम उसे बुद्धिमान न कहेंगे और न हम पुद्गलपिंडों की खोज के माध्यमों से अपने और अपने अनादि धर्म को प्राचीन या नवीन सिद्ध करने को ही महत्व देंगे। भला अनादित्व मे प्राचीनत्व या नवीनत्व कैसा और वीतरागत्व मे सरागत्व कैसा? हमारे तीर्थंकरो ने छह द्रव्यो को और उनमे होने वाले परिवर्तनो को अनादिनिधन और अपने-अपने रूपों मे भिन्नस्वभावी और स्वतंत्र माना है और स्पष्ट कहा

है—'आत्मस्वभाव पर भाव भिन्नं।'—जैसे रागादिक वैभाविकभाव अनादि है वैसे ही वीतरागतारूप जैनधर्म और उसके सिद्धांतो का अस्तित्व भी अनादि है।

जब हम आज के कई जैन-वेत्ताओं को आगम के विपरीत जाते देखते है तब आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि या तो उन्हें जिनवाणी पर विश्वास नहीं या फिर वे अपने को अधिक बुद्धिमान साबित करने के लिए भांति-भांति के नाटक रचते है। कोई इतिहास के नाम पर और कोई पुरातत्व के सन्दर्भ से जिनवाणी को झुटलाने के असफल प्रयत्न करते है—आचार से जो जैन का मूल प्रतीक है, उन्हे कोई सरोकार नहीं। आज जगह-जगह सेमीनार होते हैं, उनमें जैनागम, जैनाचार और जैन-सिद्धांतो की पुष्टि में कितने होते है—यह विचारणीय है।

हमने देखा है कई जैन सेमीनारो मे जैन और अजैन विद्वानो को दूर-दूर से आते हुए मार्ग-व्यय, दक्षिणा आदि लेते हुए, उनकी सेवा-सुश्रूषा होते हुए। कई विद्वान् अपना निबंध लाते हैं और वाच देते है। कई निबध तो पुराने और कई-कई सेमीनारो मे वांचे हुए होते हो तब भी आश्चर्य नही। श्रोता सुन लेते हैं और प्रत्येक वाचन के बाद श्रोताओ को प्रश्नोत्तरों के लिए इतना समय भी नही मिलता जो समाधान हो सके। जब कि काफी समय मिलना चाहिए। फिर एक सेमीनार मे एक ही विषय को छुआ जाना चाहिए, आदि।

यदि सेमीनार आगम-कथन की पुष्टि की दृष्टि से हो और आयोजक लोग किसी एक विषय को महीनों पूर्व निर्धारित कर संभावित निमंत्रित विद्वानो को विषय सुझाए और महीनो पूर्व सभी निमन्त्रित विद्वान परस्पर के निबंधो का विधिवत् पारायण कर एक-दूसरे के विचारो मे सामजस्य बिठालें—और आगमानुकूल विषय का निर्धारण कर लें—तब कही सेमीनार बुलाने का उपक्रम हो, तब कुछ फल समक्ष आ सकते हैं। आयोजक चाहे तो निबंध महीनो पूर्व मगाकर टंकित कराकर विद्वानो को भेज सके तो विचारणा का कार्य सहज हो सके। ऐसा न होने से वर्तमान कई सेमीनारो का फल अधूरा या विपरीत भी हो सकता है। कई-कई बार तो श्रोता भ्रांति मे भी पड जाता है कि हमारे आगम-कथन सत्य है या इन सेमीनारो म प्रगट विचार सत्य है।

वास्तव में हमारे सेमीनार मूल सिद्धांतों, आगम कथानको और जैनाचार की पुष्टि में ही होने चाहिए—विरोध मे नहीं। क्योंकि "नान्यथावादिनो जिनः"। हमारे सेमीनार इतिहास या पुरातत्व को लेकर किन्हीं नए समीकरणों के लिए नहीं हों—विवादों या भ्रमों के उत्पादक न हों इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। जो लोग इतिहास और पुरातत्व के आधार पर कुछ का कुछ सिद्ध करना चाहें और जिनसे हमारे आगम कथानकों का मेल न बैठे ऐसे लोगों से हमारा निवेदन है कि वे इति का हास अर्थात् बीते-समाप्त हुए का हास (हास्य) न करें—हमारे आगम सर्वथा सत्य है, उनकी ही पुष्टि हो।

दिसम्बर, १९८८ में हमने 'ऋषभ और शिव एक व्यक्तित्व' जैसे विचार के प्रसंग में जैन आगमानुसार शिव-कथा को देकर ऋषभ से शिव की भिन्नता को दर्शाया था—दोनो के स्वरूप की भिन्नता को स्पष्ट किया था। यदि किसी भांति शोधकों की दृष्टि (जो गलत है) लोगों के गले उतर गई और ऋषभ और शिव दोनो मे महद अन्तर होने पर भी यदि उन्होने दोनो को एक मान लिया तो दिग्भ्रमित बहुत से जैनी शिव-भक्त बन जायंगे और जैन का घात होगा। हमारा विश्वास है कि कट्टर होने से शिव का एक पुजारी भी ऋषभ का उपासक नहीं बनेगा।

ऐसे ही एक शोध अभी सामने आया है पार्श्व को व्रात्य सिद्ध करना। यह कहां तक सही हो सकता है? पर प्रसिद्ध कोशकारो ने 'व्रात्य' शब्द को सस्कारहीन, पतित, भील आदि के रूपो में माना है। फिर भी येन-केन प्रकारेण यदि पार्श्व को व्रात्य मान भी लिया जाय और ये भी मान लिया जाय कि कोशकारो ने ईर्ष्यावश व्रात्य शब्द के अर्थ को हीन रूप मे दर्शाया है। तब भी इससे जैन की अनादिता या पार्श्व के व्यक्तित्व मे क्या फर्क पड़ता है? फिर यह भी देखा जाय कि व्रात्य शब्द किस जैनशास्त्र मे व्रती या पार्श्व के लिए आया है? हमारे शास्त्रों मे व्रात्य शब्द है भी या नहीं? हमने तो कही देखा नही।

हमे यह इष्ट है कि जो भी विचारणा हो अपने वर्तमान-रूप और आचार-विचार को जैनानुरूप ढालने के लिए सिद्धांतो के कथनो की पुष्टि के सन्दर्भ म ही हो—किसी आगम काट-छाट मे या दिग्भ्रमित करने मे न हो। हमारे विचार किसी विरोध मे नही अपितु आगम-रक्षण म हैं। आशा है सोचेंगे। —सम्पादक

४० वर्ष पूर्व—वर्णी जी की कलम से

जो घर छोड़ देते हैं वे भी गृहस्थों के सदृश व्यग्र रहते हैं। कोई तो केवल परोपकार के चक्र में पड़कर स्वकीय ज्ञान का दुरुपयोग कर रहे हैं। कोई हम त्यागी हैं, हमारे द्वारा संसार का कल्याण होगा ऐसे अभिमान में चूर रह कर काल पूर्ण करते हैं।

× × × ×

शान्ति का मार्ग सर्व लोकेषणा से परे है। लोक-प्रतिष्ठा के अर्थ, त्याग-व्रत-संयमादि का अर्जन करना, धूल के अर्थ रत्न को चूर्ण करने के समान है। पंचेन्द्रिय के विषयों को सुख के अर्थ सेवन करना जीवन के लिए विष भक्षण करना है। जो विद्वान् हैं वह भी जो कार्य करते हैं आत्म-प्रतिष्ठा के लिए ही करते हैं। यदि वे व्याख्यान देते हैं तब यही भाव उनके हृदयों में रहता है कि हमारे व्याख्यान की प्रशंसा हो—लोग कहें कि आप धन्य हैं, हमने तो ऐसा व्याख्यान नहीं सुना जैसा श्रीमुख से निर्गत हुआ। हम लोगों का सौभाग्य था जो आप जैसे सत्पुरुषों द्वारा हमारा ग्राम पवित्र हुआ। इत्यादि वाक्यों को सुनकर व्याख्याता महोदय प्रसन्न हो जाते हैं।

× × × ×

मेरा यह दृढ़तम विश्वास हो गया है कि धनिक वर्ग ने पंडित वर्ग को बिल्कुल ही पराजित कर दिया है। यदि उनके कोई बात अपनी प्रकृति के अनुकूल न रुचे तब वे शीघ्र ही शास्त्रविहित पदार्थ को भी अन्यथा कहलाने की चेष्टा करते हैं।

× × × ×

आजकल बड़े-बड़े विद्वान् यह उपदेश देते हैं कि स्वाध्याय करो। यही आत्म-कल्याण का मार्ग है। उनसे यह प्रश्न करना चाहिए—महानुभाव, आपने आजन्म विद्याभ्यास किया, सहस्रों को उपदेश दिया, स्वाध्याय तो आपका जीवन ही है। परन्तु देखते हैं आप स्वयं स्वाध्याय करने का कुछ लाभ नहीं लेते। प्रायः जितनी बातों का उपदेश आप करते हैं हम भी कर देते हैं। प्रत्युत, एक बात हम लोगों में विशेष है कि हम आपके उपदेश से दान करते हैं, परन्तु आप में वह बात नहीं देखी जाती। आपके पास चाहे पचास हजार रुपया हो जावे परन्तु आप उसमें से दान न करेंगे। आप जिन विद्यालयों द्वारा विद्वान् हुए, उनके अर्थ शायद किसी ने ही कुछ रुपए भेजे होंगे। तथा जगत को उपदेश धर्म जानने का देवेंगे परन्तु अपने बालकों को एम०ए० ही बनाया होगा। अन्य को मद्य-मांस-मधु के त्याग का उपदेश देते हैं। आपसे, कोई पूछे कि आपके अष्टमूल गुण हैं ? तो हँस देवेंगे। व्याख्यान देते देते पानी का गिलास कई बार आ जावे तो कोई बड़ी बात नहीं। हमारे श्रोतागण भी इसी में प्रसन्न हैं कि पण्डित जी ने सभी को प्रसन्न कर लिया।

—वर्णी वाणी

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४४ : कि० २ अप्रैल-जून १९९१

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	मन को सीख	१
२.	तत्त्वार्थवार्तिक में प्रयुक्त ग्रन्थ —डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर	२
३.	जिनसेन के अनुसार ऋषभदेव का योगदान —जस्टिस एम० एल० जैन	६
४.	वसुनन्दिकृत उपासकाध्ययन में व्यसन मुक्ति —श्री श्रीराम मिश्र	८
५.	नियमसार का समालोचनात्मक सम्पादन —डा० ऋषभचन्द जैन फौजदार	१२
६.	अहार का शान्तिनाथ प्रतिमा लेख —डा० कस्तूरचन्द जैन 'सुमन'	१५
७.	धवल पुस्तक ४ का शुद्धि पत्र —पं० जवाहरलाल शास्त्री	२०
८.	गूजरी महल में संरक्षित शान्तिनाथ प्रतिमाएं —डा० नरेश कुमार पाठक	२४
९.	केवल उपादान को नियामक मानना एकान्तवाद है —पं० मुन्नालाल 'प्रभाकर'	२५
१०.	अपरिग्रही ही आत्म-दर्शन का अधिकारी —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री 'सम्पादक'	२६
११.	जरा सोचिए—सम्पादक	३२
१२.	बाल ब्रह्मचारिणी श्री कौशलकुमारी के नाम पत्र —श्री विमल प्रसाद जैन	कवर पृ० २

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

बाल ब्रह्मचारिणी श्री कौशलकुमारी के नाम पत्र

नई दिल्ली-२
१-७-६१

आदरणीय बहिन कौशल जी,

सादर नमस्कार।

नैतिक शिक्षा समिति नई दिल्ली के मार्गदर्शन में चलाए गए नैतिक शिक्षण शिविर का समापन आज आपके सानिध्य में कैलाश नगर दिल्ली में सम्पन्न हुआ। मैंने आपका प्रवचन आज तक नहीं सुना था, हालांकि बहुत प्रशंसा सुनता आ रहा था? आज पहिली बार ही प्रवचन सुनने को मिला और सुनकर बहुत दुःख हुआ और साथ ही आश्चर्य भी। आपने अपने प्रवचन में निम्नलिखित बातें कहीं उससे बहुत से प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं तथा वहां उपस्थित कई गणमान्य व्यक्तियों ने इस पर चर्चा भी की। आपने कहा—

"मैं आगम के विरुद्ध बोल रही हूं। महावीर स्वामी के संबंध में अक्सर कहा जाता है कि उन्होंने नारी जाति को काफी स्वतंत्रता दी परन्तु मैं तो कहूंगी कि महावीर स्वामी ने जिनका अनुशासन चल रहा है, नारी जाति के प्रति बड़ा अन्याय किया है क्योंकि उन्होंने कहा है कि नारी मोक्ष नहीं जा सकती। आर्यिका ज्ञानमती माता जी की तपस्या २०-२५ वर्षों से भी अधिक है और ज्ञानवान भी हैं परन्तु उनको भी उस मुनि को नमस्कार करना पड़ेगा, वह चाहे कुछ दिन पहिले ही मुनि क्यों न बना हो।"

उपरोक्त प्रवचन से निम्नलिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१. क्या दि० त्यागी चाहे वह किसी भी पद पर हो, आगम के विरुद्ध बोल सकता है?
२. क्या महावीर भगवान ने कोई ऐसी अलग बात की जो उनसे पूर्व अन्य तीर्थंकरों ने न की हो?
३. क्या नारी जाति को मोक्ष होने की मनाही केवल महावीर स्वामी ने की उससे पूर्व नारी भव से मोक्ष होने की बात आगम में कहीं भी कही गई है?
४. क्या आर्यिका ज्ञानमती जी को इतना ज्ञात नही है कि नारी किसी भी पद पर हो उसका पद मुनि से छोटा है और उसे मुनि को नमस्कार करना होगा?
५. क्या शास्त्रों का इतना अध्ययन करने के पश्चात् भी अभी तक स्त्री को मोक्ष न होने के कारण की जानकारी नहीं हो पाई है?

यदि आप समझती हैं कि जो आपने प्रवचन में कहा है वह आपकी मान्यताओं के अनुसार सही है तो आपको यह बात सिद्धान्तों एवं तर्क से सिद्ध करनी चाहिए! त्यागी होते हुए आगम के विरुद्ध बोलना जनता में भ्रम उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा और उसका परिणाम ऐसा ही होगा जैसे श्वेताम्बर समाज की उत्पत्ति हुई।

सादर, क्षमा प्रार्थी—

विमल प्रसाद जैन, मंत्री
दि० जैन नैतिक शिक्षा-समिति, नई दिल्ली,

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य। १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

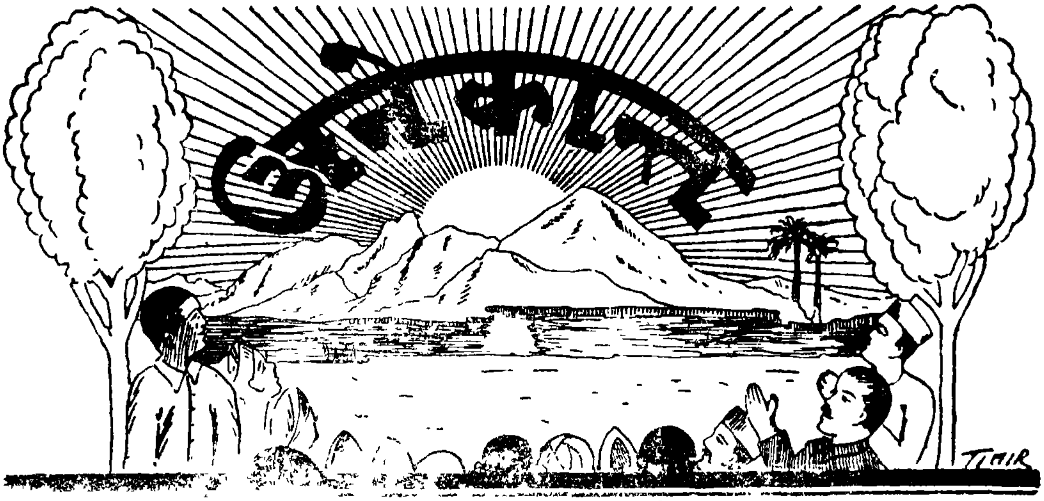

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४४ किरण २ } वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०४८ { अप्रैल-जून १९९१

मन को सीख

"रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन विषै को धावै है।
इनही के वश तू अनादि तें, निज स्वरूप न लखावै है।।
पराधीन छिन-छीन समाकुल, दुरगति बिपति चखावै है।। रे मन० ।।
फरस विषय के कारन वारन, गरत परत दुख पावै है।
रसना इन्द्रीवश झष जल में, कंटक कण्ठ छिदावै है।। रे मन० ।।
गन्ध-लोल पंकज मुद्रित में, अलि निज प्रान खपावे है।
नयन-विषयवश दीपशिखा में, अङ्ग पतङ्ग जरावै है।। रे मन० ।।
करन-विषयवश हिरन अरन में, खल कर प्रान लुभावै है।
'दौलत' तज इनको जिनको भज, यह गुरु सीख सुनावे है।। रे मन० ।।

—कविवर दौलतराम

भावार्थ—हे मन, तेरी यह बुरी आदत है कि तू इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ता है। तू इन इन्द्रियों के वश के कारण अनादि से निज स्वरूप को नहीं पहिचान पा रहा है और पराधीन होकर क्षण-क्षण क्षीण होकर व्याकुल हो रहा है और विपत्ति सह रहा है। स्पर्शन इन्द्रिय के कारण हाथी गढ़े में गिर कर, रसना के कारण मछली काँटे में अपना गला छिदा कर, घ्राण के विषय-गंध का लोभी भौंरा कमल में प्राण गँवा कर, चक्षु वश पतंगा दीप-शिखा में जल कर और कर्ण के विषयवश हिरण वन में शिकारी द्वारा अपने प्राण गँवाता है। अत: तू इन विषयों को छोड़ कर जिन भगवान का भजन कर, तुझे ऐसी गुरु की सीख है।

तत्त्वार्थवार्तिक में प्रयुक्त ग्रंथ

□ डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

अकलङ्कदेव बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होने तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ सैकड़ों ग्रन्थो के आलोडन विलोडन के बाद लिखा था। तत्त्वार्थवार्तिक मे उद्धृत अथवा निर्दिष्ट तत्तत् ग्रन्थों के अश इस बात के प्रमाण है कि अकलङ्कदेव का ज्ञान बहुत विस्तृत था। उनके तत्त्वार्थवार्तिक मे जिन-जिन ग्रन्थों का उपयोग हुआ है, उनका विवरण यहां दिया जा रहा है—

पातञ्जल महाभाष्य—अकलङ्कदेव को महाभाष्यकार पतञ्जलि की शैली प्रिय थी। उन्होने तत्त्वार्थवार्तिक में पतञ्जलि के मत की आलोचना करके उसमें अनेकान्त को घटित किया है।[1] साथ ही स्थान-स्थान पर महाभाष्य से अनेक उदाहरण और पक्तियां ली है—

अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा[2] (पा० म० १/२/४७)

गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः[3] (पा० मा० ८/३/८२)

अभ्यर्हितम् पूर्वम् निपतति[4] (पा० म० २/२/३४)

अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः[5] (पा० म० २/४/२१)

द्वयेकयोः[6] (पा० सू० १/४/२२)

विशेषण विशेष्येण[7] (पा० सू० २/१५७)

समुदायेषुहि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते[8] (पा० म० पस्पशाह्निक)

दृष्टि साम्नि च जाते च अण् ड्डिद्वा विधीयते[9] (प० महा० २/४/७)

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः[10] (पा० म० २/२/२४)

वर्णानुपलब्धौ चातदर्थगते[11] (पा० म० प्रत्याहा ५)

व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम[12] (पा० महा० प्रत्या० सू० ६)

द्वयोर्द्वयोरिति ग्रहणमन्यार्थमुक्तम्[13] (पा० म० १/१/२२)

द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसङ्ख्यानम्[14] (पा० म० १/१/६०)

नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगति[15] (प० म० ३/१/१२)

गुणसन्द्रावो द्रव्यम्[16] (पा० म० ५/१/११६)

व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्[17] (पा० म० पस्पशाह्निक सू० ६)

निमित्त कारण हेतुषु सर्वासां प्रायः दर्शनात्[18] (पा० म० २/३/२३)

जैनेन्द्र व्याकरण—अकलङ्कदेव ने पूज्यपाद के जैनेन्द्र व्याकरण के अनेक सूत्र उद्धृत किए हैं? वे जैनेन्द्र व्याकरण के अच्छे ज्ञाता थे। तत्त्वार्थ वार्तिक में जैनेन्द्र व्याकरण के उद्धरण इस प्रकार है—

करणाधिकरणयो[19] (जैने० २/४/९९)

युड् व्याबहुलम्[20] (जैने० २/३/९४)

सर्वादि सर्वनाम[21] (जैने० १/१/३५)

टिदादि[22] (जैने० (१/१/ ३

ज्वलितिकसंताण्णः जैने०[23] २/१/११२(

अपादाने अहीयरुहोः[24] (जैने० वा० ४/२/५०)

आद्यादिभ्य उपसख्यानम्[25] (जैने० ४/२/४९)

समानस्य तदादेश्च[26] (जै० वा० ३/३/३५)

साधनं कृता[27] (जैने० १/३/२९)

मयूरव्यंसकादित्वा द्वा[28] (मयूरव्यसकादयश्च जैने० १/३/९६)

समानस्य तदादेश्च[29] (जैने० वा० ३/३/३५)

स्वार्थे को वा[30] (जै० ३/१/६१)

देवता द्वन्द्वे[31] (जैने० ४/३/१३८)

आनङ् द्वन्द्वे[32] (जै० ४/ /१३८)

सामीप्येऽधेध्युपरि[33] ५/३/५

तदस्मिन्[34] (जैने० ३/ /५८)

अपादाने ऽहीयरुहो[35] (जैने० ४/३/५०)

आद्यादिभ्य उपसख्यानम्[36] (जैने० ४/२/४९)

अहीयरुहोः[37] (जैने० ४/३/५०)

द्वन्द्वेसु[38] (जैने० १/३/९८)

अल्पाच्तरम्[39] जैने० १/३/१००)

विशेषणं, विशेष्येण[40] (जैने० १/३/१२)

ह्वतः[41] (जैने० ३/१/६१)

द्रव्येभव्ये[42] (जैने० ४/१/१५८)

कृकमिकं सः[४४] (जैने० ५/४/३४)
अजाद्यत्[४५] (जैने० १।३।९६)
संख्यैकाद्वीप्सायां[४६] (जैने० ४।२।४८)
साधनं कृता: बहुल[४७] (जैने० १।३।२९)
स्त्रियांक्ति:[४८] (जैने० २।३।७५)

अष्टाध्यायी—अकलङ्कदेव ने कर्तुरीपिसक्तम् कर्म[४८] (पाणिनि० १।४।४९) जैसे कुछ सूत्र पाणिनीय व्याकरण से उद्धृत किए उन्होंने 'गर्गाः शतंदण्ड्यताम्'[४९] जैसे कुछ उदाहरण दिए हैं। यह पाणिनि के कारक प्रकरण में 'गर्गाः शत दण्डयति' रूप में आया है। इन सबसे ज्ञात होता है कि उन्हें पाणिनीय व्याकरण की अच्छी जानकारी थी ?

वाक्यपदीय—अकलङ्कदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक[५०] मे वाक्यपदीय की एक कारिका उद्धृत की है—

शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।
अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्या प्रवर्तते (वाक्यपदीय २।२३५)

अन्य वैयाकरणो के समान वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि स्फोटवाद को मानते है। स्फोटवाद के अनुसार ध्वनियाँ क्षणिक है, वे क्रम से उत्पन्न होती हैं और अनन्तर क्षण में नष्ट हो जाती है ? वे जब अनन्तर क्षण में नष्ट हो जाती हैं, तब तो अपने स्वरूप का बोध कराने में भी क्षीणशक्ति वाली हैं, अत. अर्थान्तर का ज्ञान कराने में वे समर्थ नहीं हैं ? यदि ध्वनिया अर्थान्तर का ज्ञान कराने में समर्थ होतीं तो पदो से पदार्थों के समान प्रतिवर्ण से अर्थ का ज्ञान होना चाहिए और एक वर्ण के द्वारा अर्थबोध होने पर वर्णान्तर का उपादान निरर्थक होगा ? क्रम से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों का सहभाव रूप सघात भी संभव नही है, जिससे अर्थबोध हो सके। अतः उन ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाला, अर्थ के प्रतिपादन मे समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिए ?

अकलङ्कदेव ने स्फोटवाद का खण्डन किया है; क्योंकि ध्वनि और स्फोट में व्यंग्य-व्यजक भाव नही है।[५१] व्यंग्य-व्यंजक भाव कैसे नही है, इसका विस्तृत विवेचन राजवार्तिक मे किया गया है।[५२]

अभिधर्मकोश—अभिधर्मकोश (१।१७) में कहा गया है कि पाच इन्द्रिय और मानस ज्ञान में एक क्षण पूर्व का ज्ञान मन[५३] है। ऐसे मन से होने वाले ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कहते है। अकलङ्कदेव का कहना है कि वह अतीत असत् मन ज्ञान का कारण कैसे हो सकता है ? यदि पूर्व का नाश और उत्तर की उत्पत्ति को एक साथ मानकर कार्य-कारण भाव की कल्पना की जाती है तो विनाश और उत्पत्तिमान् भिन्न सन्तानवर्ती क्षणों में भी कार्यकारणभाव मानना पड़ेगा। यदि एक सन्तानवर्ती क्षणो में किसी शक्ति या योग्यता को स्वीकार करेंगे तो तो क्षणिकत्व की प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है ?[५४]

अभिधर्मकोश में कहा गया है—'तत्राकाशमनावृतिः' (१।५) अर्थात् आकाश नाम की कोई वस्तु नहीं है, केवल आवरण का अभाव मात्र है ? अकलङ्कदेव ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि आकाश आवरण का अभावमात्र नहीं है, अपितु वस्तुभूत है; क्योंकि नाम के समान उसकी सिद्धि होती है। जैसे नाम और वेदना आदि अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी सत् है, ऐसा जाना जाता है।[५५] अन्यत्र 'षण्णामनन्तरातीत विज्ञान' यद्धि तन्मनः (अभिकोश) को उद्धृत करते हुए अकलङ्कदेव ने उसके प्रतिवाद मे कहा है कि मन का पृथक् अस्तित्व न मान कर विज्ञान को मन कहना ठीक नही है; क्योंकि पूर्व ज्ञान को जाने का उसमें सामर्थ्य नही है ?[५५]

प्रमाण समुच्चय—अकलङ्कदेव ने प्रत्यक्ष के लक्षण के प्रसङ्ग मे बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष लक्षण हेतु प्रमाण समुच्चय को इस रूप मे उद्धृत[५६] किया है ?

प्रत्यक्षं कल्पनापोढ नामजात्यादि योजना।
असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते ॥
(प्रमाणसमुच्चय १।३।४)

इसके उत्तर मे अकलङ्कदेव ने कहा है—क्या वह कल्पना से सर्वथा रहित है अथवा कथञ्चित् कल्पना से रहित है ? यदि सर्वथा कल्पनापोढ प्रमाणज्ञान है तो आदि कल्पना से अपोढ है, इत्यादि वचन व्याघात होगा ? यदि कथञ्चित् कल्पना से रहित सिद्धान्त स्वीकार करते हो तो एकान्तवाद का त्याग होने से पुनः स्ववचन व्याघात ही है[५७] ?

प्रमाणसमुच्चय मे कहा है—'योगिनां गुरुनिर्देशाद् व्यतिभिन्नार्थ मात्रदृक्' अर्थात् योगियों के गुरुनिर्देश (अर्थात् आगम उपदेश के) बिना पदार्थमात्र का अवबोध हो जाता है ? इसके निषेध में अकलङ्कदेव ने कहा है कि यह कथन ठीक नहीं है ? अक्षं अक्ष प्रति वर्तते अर्थात् अक्ष अक्ष के प्रति जो हो, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं और योगियों के अक्ष (इन्द्रिय) जन्य ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि योगियों के इन्द्रियों का अभाव है ? बौद्धों के द्वारा कल्पित कोई योगी ही नहीं हैं; क्योंकि विशेष लक्षण का अभाव है तथा निर्वाण प्राप्ति मे सबका अभाव बौद्ध मानते हैं।[५८]

अन्य मतों के लक्षण देते हुए अकलङ्कदेव ने प्रमाण समुच्चय की पंक्ति 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षं' को उद्धृत किया है।[५९] इस प्रकार अकलङ्क ने दिङ्नाग के ग्रन्थो का सम्यगवलोकन किया था, इसकी पुष्टि होती है ?

न्यायसूत्र—न्यायदर्शन के अनुसार दुःखादि की निवृत्ति होना मोक्ष है ? इसके समर्थन मे अकलङ्कदेव ने न्यायसूत्र का एक सूत्र उद्धत किया है—"दुःखजन्म-प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभान्निःश्रेयसाधिगमः" अर्थात् दुःखजन्मप्रवृत्ति दोष और मिथ्या ज्ञान का उत्तरोत्तर अपाय हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।[६०]

प्रत्यक्ष के अन्यमतों के लक्षण मे भी न्यायसूत्र को उद्धृत किया है—'इन्द्रियार्थसान्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष' अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले अव्यपदेश्म, निर्विकल्पक, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते।[६१]

योगभाष्य—योगदर्शन मे पातञ्जलयोगदर्शन पर व्यासभाष्य मिलता है। तत्त्वार्थवार्तिक में रूप शब्द के अनेक अर्थ बतलाते समय एक अर्थ स्वभाव भी बतलाया है तथा उसके प्रमाणस्वरूप योगभाष्य का चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं[६२] वाक्य उद्धृत किया गया हैं। यहां रूप का अर्थ स्वभाव है ?

वैशेषिकसूत्र—तत्त्वार्थवार्तिक मे अनेक स्थान पर वैशेषिक सूत्र उद्धृत किए गए है ? जैसे—

तत्त्व भावेन व्याख्यातम[६३] (वैशे० ७।२।२८)

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यतेतदन्यत्[६४]।
(वैशे० ३।१८)

क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यलक्षण[६५]।
(वैशे० १।१।१५)

दिक्कालावकाशं च क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यात् निष्क्रियाणि। एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः निःक्रियाः[६६]
(वैशे० ५।२।२१-२२)

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषात् आत्मप्रत्यम्[६७]
(वैशे० ६।१।११)

आत्म संयोग प्रयत्नाभ्यां हस्ते[६८] कर्म (वैशे० ५।१।१)

व्यवस्थातः। शास्त्रसामर्थ्याच्च नाना[६९]
(वैशे० ३।२।२०-२१)

अग्नेरूर्ध्वज्वलन वायोश्चतिर्यक्पवनम् अणुमनसोश्चाद्यं कर्मत्येतान्यदृष्ट कारितानि उपसर्पणमपसर्पणमसितपीत संयोगाः कायान्तरसंयोगश्चेति अदृष्टकारितानि[७०]
(वैशे० ५।२।१३।१७)

प्रयत्न योगपद्यात् योगपद्याच्चैकं[७१] मनः(वैशे० ३।२।३)

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चत प्रमारण गमनमिति कर्माणि[७२] (वैशे० १।१।७)

ऋक्संहिता—ऋग्वेद दशम् मण्डल मे पुरुषसूक्त मे कहा गया है—'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूत यच्च भाव्यं[७३]' अर्थात् जो कुछ हो चुका है और आगे होगा, वह सब पुरुष रूप है।

इसके विरोध में अकलङ्कदेव ने कहा है कि उक्त प्रकार की कल्पना कर लेने पर यह वध्य और घातक है, यह भेद नही हो सकता। चेतनशक्ति (ब्रह्म) का ही यदि सारा परिणमन माना जाता है तो घट, पट आदि रूप से दृष्टिगोचर होने वाले सारे जगत् का लोप हो जायगा और ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष विरोध भी आता है तथा प्रमाण और प्रमाणाभास का भेद भी नहीं रहेगा इत्यादि[७४]।

मैत्रायणोपनिषद्—तत्त्वार्थवार्तिक में 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः[७५]' अर्थात् स्वर्गकामी अग्निहोत्र यज्ञ करें, मैत्रायणोपनिषद् के वाक्य का कर्त्ता की असंभवता के आधार पर खण्डन किया गया है।[७६]

मनुस्मृति—तत्त्वार्थवार्तिक के आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में मनुस्मृति के 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयनेव स्वयंभुवा[७७]' इस वाक्य का खण्डन किया गया है तथा इस हेतु अनेक प्रमाण[७८] दिए गए हैं।

भगवद्गीता—अवधिज्ञान आत्मोत्थ होने से परोक्ष नही है, इसके समर्थन मे भगवद्गीता का यह पद्य उद्धृत किया गया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेः परतरो हि सः॥ भग० ३।४२)

अर्थात् इन्द्रियाँ पर हैं। इन्द्रियों से भी परे मन है। मन से भी परे बुद्धि है और बुद्धि से परे आत्मा है।

इस प्रकार इन्द्रियों की अपेक्षा न होने से अवधिज्ञान को परोक्ष नही कह सकते। इन्द्रियों को ही पर कहा जाता है।[७९]

सांख्यकारिका—तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या मे सांख्यकारिका की चवालिसवी कारिका के 'विपर्ययाद् बन्धः' अश को उद्धृत किया गया है[८०]। पूरी कारिका इस प्रकार है—

धर्मेणगमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥

प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र के ४३वें वार्तिक में उपर्युक्त कारिका की विस्तृत व्याख्या की गई है। आगे विस्तृत रूप से ज्ञान मात्र से मोक्ष होता है, इसका खण्डन किया गया है[८१]।

तत्त्वार्थ सूत्र—तत्त्वार्थ वार्तिक की समस्त रचना तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रो की व्याख्या के रूप में की गई है। अतः क्रमिक रूप से सूत्रों का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त व्याख्या के बीच-बीच में कहीं तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र उद्धृत किए गए हैं। उदाहरणार्थ कुछ सूत्र इस प्रकार हैं—

असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्[८२]।
लोकाकाशेऽवगाहः[८३]।
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्[८४]।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य—तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकार द्वारा स्वीकृत पाठ की अकलङ्कदेव ने कही-कहीं आलोचना की है। कही-कही भाष्य मे सूत्र रूप से कही गई कई पंक्तियों का विस्तृत व्याख्यान राजवार्तिक मे पाया जाता है। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ (त०सू० ५।३७) के स्थान पर भाष्यकार ने 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ' कहा है। अकलङ्कदेव ने इति अपरे सूत्र पठन्ति के निर्देश के साथ इस पाठ की समालोचना की है। बन्धे समाधिकौ परिणामिकौ' का तात्पर्य है कि द्विगुण स्निग्ध का द्विगुण रूप भी परिणामक (परिणमन कराने वाला) है। आर्ष मे विरोध होने से यह पाठ उपयुक्त नही है। ऐसा मानने पर सैद्धान्तिक विरोध आता है। क्योंकि वर्गणा मे बन्धविधान के नोआगम बन्धविकल्प-सादि वैस्रसिक बन्धनिर्देश मे कहा गया है कि 'विषम स्निग्धता' और विषम रूक्षता में भेद होता है। इसके अनुसार ही 'गुणसाम्ये सदृशानां' यह सूत्र कहा गया है। इस सूत्र से जब समगुण वालो के बन्ध का प्रतिषेध (निषेध) कर दिया है, तब बन्ध में 'सम' भी पारिणामिक होता है, यह कथन आर्षविरोधी है, अतः विद्वानों के द्वारा ग्राह्य नही है[८५]। (क्रमशः)

सन्दर्भ सूची

१. 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवतीतिलोके' काव्याख्यान पा० म० १।१।२२, तत्त्वार्थवार्तिक १।५।२६

२. तत्त्वार्थवार्तिक १।३।१२, ३. १।५।२८, ४. १।६।१ ५. वही २।२।१, ६. २।२।१, ७. २।२।१, ८. २।८।१, ६, ४।४।३, १०. २।१४।४, ११. २।१८।४, १२. ३।१८।४ १३. ३।२१।२, १४. ४।२२।१, १५. ५।१।६, १६. ५।२।६ १७. ५।१७।१६, १८. ५।२६।५, १६. १।१।४, २०. १।१।२५, २१. १।११।१, २२. १।११।१, २३. १।१३।१, २४. २।३८।१, २५. २।३८।१, २६.३।१६।३, २७. ४।३।३, २८. ४।३।३ २६. ४।४।२, ३०. ४।४।३, ३१. ४।१२।७, ३२. ४।१२।७, ३३. ।१८।१, ३४. ४।१६।२, ३५. ४।२०।६, ३६. ४४।२०।६, ३७. ४।२१।४, ३८. ४।२१।५, ३६. ४।२१।५, ४०. ५।१।१, ४१. ५।१।२७, ४२. ५।२।२, ४३. ६।१।२, ४४. ६।४।८, ४५. ६।८।१७ ४६. ६।१२।३, ४७. ८।३।१, ४८. ६।१।३, ४६. ६।१।१३, ५०. १।१२।१५, ५१. ५।२४।५

५२. षण्णामनन्तरातीतं विज्ञान यद्धितन्मतः॥ त० वा० १।१२।११ मे उद्धृत।

५३. तत्त्वार्थवार्तिक १।१२।११, ५४. ५।१८।११, ५५. ५।१६।३२, ५६. १।१२।६, ५७. १।१२।११, ५८. वही १।१२।६-१०

(शेष पृ० ११ पर)

जिनसेन के अनुसार ऋषभदेव का योगदान

□ जस्टिस श्री एम० एल० जैन

नवी शताब्दी के जिनसेन ने अपने महाकाव्य आदि-पुराण में भगवान् वृषभदेव के समस्त जीवन का विशद वर्णन किया है जिसके दो पक्ष अत्यन्त रोचक हैं—युवराज-काल और राज्यकाल। आइए इनकी संक्षिप्त झलक देखी जाए :—

युवराज काल

अपनी पुत्री ब्राह्मी को सिद्ध नमः कहकर सिद्धमातृका अक्षरावली अपने दोनों हाथों से लिखकर **लिपि** सिखाई दूसरी पुत्री सुन्दरी को स्थानक्रम से **गणित** सिखाया।

दोनों पुत्रियों को व्याकरण, छन्द, अलंकार का उपदेश देने के साथ-साथ सौ से भी अधिक अध्याय वाला **व्याकरण** लिखा और अनेक अध्यायों वाला **छन्दशास्त्र** रचा जिसमे प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्वित्रिलघुक्रिया, संख्या और अध्वयोग का निरूपण किया। शब्दालंकार और अर्थालंकार सिखाए तथा दशप्राणवाले **अलंकार संग्रह** की रचना भी की।

अपने पुत्रों को भी आम्नाय के अनुसार अलग-अलग लोकोपकारी शास्त्र पढ़ाए खासकर—

(१) भरत को **अर्थशास्त्र**।

(२) वृषभसेन को **नृत्य और गंधर्वशास्त्र**।

(३) अनन्तविजय को **चित्रकला** के साथ अन्य कलाएं तथा विश्वकर्मा की **वास्तु विद्या**।

(४) बाहुबली को **कामनीति, स्त्रीपुरुष लक्षण पशु-लक्षणतंत्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, रत्नपरीक्षा आदि**।

यह सब तो किया कल्पवृक्षों के रहते-रहते। कल्पवृक्षों की समाप्ति पर प्रजा मे दुख व्याप्त हो गया तो भगवान् वृषभदेव ने पूर्व और पश्चिम के विदेह क्षेत्रों में प्रचलित वर्णव्यवस्था, आजीविका के साधन, घर ग्राम आदि की रचना के अनुकरण मे अपने पिता के राज्य मे भी यही सब स्थापित करने के लिए इन्द्र को बुलाया। इन्द्र देवों के साथ उपस्थित हुआ और आज्ञानुसार इस प्रकार रचना की—

सर्वप्रथम अयोध्या के केन्द्र में व चारो दिशाओं में **जिन मंदिर** स्थापित किए।

तदनन्तर निम्न **देशों की स्थापना** की—कौशल, महादेश, सुकोशल अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, साकेत अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुह्य, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आवर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिंधु, गांधार, यवन; चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाह्लीक, तुरुष्क, शक और केकय।

इन देशो में **सिंचाई** व्यवस्था कायम की। **सीमा-सुरक्षा** के लिए **किले** किलेदार व अन्तपाल बनाए। मध्यवर्ती इलाको की रक्षा का भार सौंपा लुब्धक, आरण्य, चेरट, पुलिन्द, शबर आदि **म्लेच्छ जाति** के लोगों को।

इन सब देशों मे कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर अटारी से घेरकर **राजधानियाँ** कायम की।

फिर निकृष्ट गांव, बड़ेगाव, खेट, खर्वट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, धान्यसंवाह, आदि **ग्राम व नगरों** की रचना की और इन्द्र ने **पुरन्दर** नाम पाया।

गाँवों के बाहर शूद्रों व किसानों—के रहने के लिए **बाड़ से घिरे घर** बनाए। **बाग** और **तालाब** बनवाए। नदी, पहाड, गुफा, श्मशाम, थूअर, बबूल; वन, पुल आदि के द्वारा गांवों **की सीमाए निर्धारित** की। एक गांव की सीमा एक कोस और बड़े-बड़े गावो की सीमा पांच कोस रखी गई।

अहीरों के **घोष**, दस गांवों के बीच में एक **बड़ा गांव**,

दो सो गांवों का खर्वट, चारसो गांवो का नदी किनारे द्रोणमुख, आठसो गांवों पर राजधानी स्थापित की।

उपरोक्त प्रकार से नाभिराय के साम्राज्य की रचना करके इन्द्र तो आज्ञापालन करके स्वर्ग चला गया। ऋषभदेव ने तब आजीविका की व्यवस्था को हाथ मे लिया जो इस प्रकार रखी गई—

(१) **असि**—शस्त्र धारण कर सेवा करना।
( ) **मषि**- लिखना।
(३) **कृषि**—जमीन जोतना-बोना।
(४) **विद्या**—शास्त्र पढ़ाना, नृत्य गायन करना।
(५) **वाणिज्य**—व्यापार करना।
(६) **शिल्प**—हाथ की कुशलता जैसे चित्र खीचना, फूलपत्ते काटना आदि।

आजीविका के साधनो का इस प्रकार छह भागों में विभाजन करने के पश्चात् भगवान् वृषभदेव ने लोगो को निम्न प्रकार वर्णों मे बांटा –

क्षत्रिय—इन्हें भगवान् ने अपनी दोनों भुजओ मे शस्त्र धारण कर शस्त्र विद्या द्वारा क्षतत्राण की शिक्षा दी।

वैश्य— इन्हे भगवान् उरुओ के यात्रा करना दिखलाकर परदेशगमन व व्यापार करना सिखाया।

शूद्र— इन्हे अपने पैरो से न्यग्वृत्ति (नीच वृत्ति) सेवा सुश्रूषा करने के लिए कायम किया, इन शूद्रो को कारु, अकारु, स्पृश्य और अस्पृश्य इस प्रकार विभक्त किया। कारु जैसे धोबी, स्पृश्य जैसे नाई और प्रजाबाह्य लोगो को अस्पृश्य करार दि ा।

ब्राह्मण—इस वर्ण की भगवान् ने स्थापना तो नही की परन्तु भविष्य मे उनके लिए पढ़ना-पढ़ाना यह व्यवसाय निश्चित किया।

इतनी व्यवस्था करने कराने के पश्चाद् भगवान् का स्वयं उनके पिता ने अपना मुकुट उतार कर उनके सर पर रखकर बडी धूमधाम से राज्याभिषेक किया। **बाहुबली को युवराज** बनाया गया।

राज्य काल

राज्यभार संभालते ही भगवान् ने प्रजा के लिए नियम बनाना प्रारंभ कर दिया और कई नियम बनाए। उनमें सबसे प्रमुख थे विवाह व्यवस्था के।

विवाह व्यवस्था—के नियम इस प्रकार रखे गए—

(१) शूद्र, केवल शूद्र कन्या के साथ ही विवाह करे।
(२) वैश्य, वैश्यकन्या और शूद्र कन्या के साथ विवाह करे।
(३) क्षत्रिय, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ विवाह करे।
(४) ब्राह्मण, इस वर्ण की स्थापना तो करेगे भरत परन्तु भगवान् ने नियम बनाया कि ब्राह्मण ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ भी विवाह कर सकता था।

दण्ड व्यवस्था

यदि कोई वर्ण के लिए निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे वर्ण की आजीविका करे तो दण्ड का पात्र होगा यह मुख्य नियम था।

हा, मा, धिक् इन तीन प्रकार के दण्डो की व्यवस्था दी।

बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है इस मत्स्य न्याय को बंद किया गया। दण्ड देने के लिए दण्ड धर नियुक्त किए गए ताकि दुष्ट जनों का निग्रह किया जा सके। राजाओ का काम था बेगार कराना, दण्ड देना व कर वसूल करना किन्तु करो द्वारा धन की वसूली मे अधिक पीड़ा न हो ऐसी हिदायत की गई।

यह सब कर लेने के बाद सम्राट् वृषभदेव ने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ क्षत्रियो को महामाण्डलिक घोषित किया और उनमे प्रत्येक के नीचे चार हजार राजा रखे गए। सोमप्रभ को कुरुराज, हरि अथवा हरिकान्त को हरिवंश का राजा, अकम्पन अथवा श्रीधर को नाथवंश का नायक, काश्यप अथवा मघवा को उग्रवंश का राजा घोषित किया। महामाण्डलिको के ऊपर कच्छ व महाकच्छ अधिराज स्थापित किए।

इतना बड़ा साम्राज्य और उसकी इस प्रकार से व्यवस्था स्थापित करने के कारण भगवान के कई नाम पड़ गए—

(शेष पृ० १९ पर)

वसुनन्दिकृत उपासकाध्ययन में व्यसनमुक्ति वर्णन

□ श्रीराम मिश्र, रिसर्च फैलो, प्राकृत एवं जैनागम विभाग, वाराणसी

शौरसेनी प्राकृत वाङ्मय मे वसुनन्दिकृत उपासकाध्ययन का महत्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ मे श्रावक के आचार-विचार का वर्णन किया गया है। श्रावकाचार पर संस्कृत में अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, किन्तु शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध वसुनन्दि का उपासकाध्ययन श्रावकाचार का स्वतन्त्र रूप से विवेचन करने वाला एकमात्र ग्रन्थ है।

वसुनन्दि श्रावकाचार मे श्रावक के प्रायः सभी कर्तव्यो का वर्णन किया है, तथापि "व्यसनमुक्ति" का विस्तार से वर्णन किया गया है। व्यसनमुक्ति के अन्तर्गत सात व्यसनों और उसके सेवन से प्राप्त होने वाले फल का विस्तार से वर्णन किया गया है। दर्शन श्रावक के वर्णन प्रसंग में वसुनन्दि ने सातो व्यसनों का नाम बताते हुए उनके सेवन मे होने वाले दुष्परिणामों का भी वर्णन किया है।

जुआ खेलना, शराब पीना, मांस खाना, वेश्यागमन करना, चोरी करना, शिकार खेलना और परदारा सेवन करना, ये सातो व्यसन दुर्गतिगमन के कारणभूत पाप है। इन सातो व्यसनों का वसुनन्दि ने वर्णन किया है, जो संक्षेप में इस प्रकार है :—

१. द्यूतदोष वर्णन[1] :—

जुआ खेलने वाले पुरुष के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय तीव्र होती है, जिससे जीव अधिक पाप को प्राप्त होता है। उस पाप के कारण यह जीव जन्म, जरा, मरणरूपी तरगों वाले दुःखरूप सलिल मे भरे हुए और चतुर्गतिगमन रूप आवर्तों से संयुक्त संसार समुद्र में परिभ्रमण करता है। उस संसार मे जुआ खेलने के फल से यह जीव शरण रहित होकर छेदन, भेदन, कर्त्तन आदि के अनन्त दुःख को पाता है।

जुआ खेलने से अन्धा हुआ मनुष्य अपने माता-पिता तथा इष्ट-मित्र आदि को कुछ न समझते हुए स्वच्छन्द होकर पापमयी अनेक अकार्यों को करता है। जुआ खेलने वाले पर स्वयं उसकी माता तक का विश्वास नही रहता। इस तरह जुआ खेलने में अनेक भयानक दोष को जानकर उत्तम पुरुष को इसका त्याग करना चाहिए।

द्यूतक्रीड़ा के दुष्परिणामों में राजा युधिष्ठिर का उदाहरण प्रसिद्ध है। वसुनन्दि ने लिखा है कि परम तत्ववादी राजा युधिष्ठिर जुआ के खेलने से राज्य से भ्रष्ट हुए तथा पूरे परिवार के साथ नाना प्रकार के कष्ट को सहते हुए बारह वर्ष तक वनवास में रहे[2]।

२. मद्यदोष-वर्णन[3] :—

द्यूतदोष के समान ही वसुनन्दि ने मद्यदोष का भी सुन्दर ढग से चित्रण किया है। मद्यपान से मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंदनीय कार्यों को करता है, और इसी लिए इस लोक तथा परलोक मे अनन्त दुःखो को भोगता है। शराब पीने वाला लोक मर्यादा का उल्लंघन कर नाना प्रकार के कुकृत्यों को करता है। वह बेसुध होकर अपने धन का नाश करते हुए इधर-उधर भटकता है तथा अनेक पापों का भागी होता है। उस पाप से वह जन्म-जरा, मरणरूप क्रूर जानवरों आकीर्ण संसार रूपी कान्तार मे पड़कर अनन्त दुःख को पाता है। किसी मनीषि ने कहा है कि—"शराब वह दीमक है, जो मनुष्य के दिमाग को चाट लेता है तथा वह मनुष्य जो भी कुकर्म कर दे, उसके लिए असम्भव नहीं।" इस तरह मद्यपान के अनेक दोषो को जान करके मन, वचन और कृत कारित और अनुमोदना से इसका त्याग करना चाहिए। मद्यपान के परिणाम स्वरूप यादव कुल का विनाश हुआ। वसुनन्दि ने इसे उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है। एक बार उद्यान में क्रीड़ा करते हुए यादवो ने प्यास से व्याकुल होकर पुरानी शराब को जल समझकर पी लिया, जिससे वे नष्ट हो गये।[4]

३. मांसदोष-वर्णन[६] :—

मांस दोष का वर्णन करते हुए वसुनन्दि ने कहा है कि मांस को खाने से मनुष्य का दर्प बढ़ता है। दर्प के बढ़ने से मनुष्य के अन्दर नाना प्रकार की इच्छायें जागृत होती हैं। इन इच्छाओ के प्रबल होने पर वह शराब तथा जुआ आदि का सेवन करता है और उनके दोषों को भी भोगता है।

मांस भक्षण के दुष्परिणामो मे वसुनन्दि ने एक चन्द्र-पुर के बक राजा का उदाहरण दिया है। एक-चन्क्र नामक नगर मे मांस खाने से गृद्ध बक राक्षस राज्य पद से भ्रष्ट हुआ तथा अपयश से मर कर नरक में गया[७]।

४. वेश्यादोष-वर्णन[८] :—

वेश्यादोष का वर्णन करते हुए वसुनन्दि ने लिखा है कि जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्या के साथ समागम करता है, वह कारू, किरात, चाडाल, डोम, पारधी आदि का जूठा खाता है। क्योंकि वेश्या इन सबके साथ निवास करती है। वेश्या हर एक के सामने उसकी चाटुकारिता करती है और अपने को उसी का बताती है, जिससे नीच मनुष्य उसकी दासता स्वीकार करते हुए वेश्या के द्वारा किये गये अपमानों को भी सहन करता है।

वेश्या संसर्ग जनित पाप से जीव घोर ससार-सागर मे भयानक दु:खों को प्राप्त होता है। इसलिए मन, वचन, काय से वेश्या गमन का सर्वथा त्याग करना चाहिए। वेश्यागमन के दुष्परिणामों को बताने के लिए वसुनन्दि ने चारुदत्त का उदाहरण दिया है। सभी विषयों मे निपुण होने पर भी चारुदत्त वेश्यावृत्ति के कारण धन खोकर घोर दु:ख पाया और परदेश जाना पडा[८]।

५. पारद्धिदोष-वर्णन[९] :—

पाचवें व्यसन के रूप में वसुनन्दि पारद्धिदोष अर्थात् निरीह जीवो का शिकार करने से प्राप्त दोषों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—सम्यग्दर्शन का प्रधान गुण यत: अनुकम्पा अर्थात् दया कही गयी है। अत: शिकार खेलने वाला मनुष्य सम्यग्दर्शन का विराधक होता है।

जो मुक्तकेश है अर्थात् जिनके रोंगटे भय के मारे खड़े हो गये हैं, तथा जो अपनी ओर पीठ करके मुंह मे तृण को दबाये हुए भाग रहा है, ऐसे अपराधी भी दीन जीवो को शूरवीर नही मारते हैं। जिस प्रकार गो, ब्राह्मण और स्त्रियों के मारने में महापाप होता है। उसी प्रकार अन्य प्राणियों के घात में भी महापाप होता है। अत: शिकार खेलने के पाप से यह जीव संसार में अनन्त दु:ख को प्राप्त होता है। इसलिए देश विरत श्रावकों को अन्य व्यसनो के साथ-साथ शिकार का भी त्याग करना चाहिए।

पारद्धिदोष का दृष्टान्त भी वसुनन्दि ने पारम्परिक ही दिया है। लिखा है—राजा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती होकर तथा चौदह रत्नों के स्वामित्व को प्राप्त होकर भी शिकार खेलने से मर कर नरक में गया और तरह-तरह के कष्टो को सहता रहा[१०]।

६. चौर्यदोष-वर्णन[११] :—

व्यसनों के क्रम मे छठे स्थान पर चौर्यदोष का वर्णन करते हुए वसुनन्दि ने लिखा है कि—दूसरे को धन चुराने वाला मनुष्य इस लोक तथा परलोक में असाता बहुल, अर्थात् प्रचुर दु:खो मे भरी हुई अनेको यातनाओ को पाता है और कभी भी सुख नही पाता। पराये धन को हरकर सबकी नजरो से बचने के लिए इधर-उधर भागता है।

चोर अपने माता-पिता, गुरू, मित्र, स्वामी और तपस्वी आदि को भी कुछ नही गिनता, उनके पास भी जो कुछ पाता है, उसे भी बलात् हरण कर लेता है। चोरी करने वाला व्यक्ति आत्मा के विनाश को, लज्जा, अभिमान, यश और शील के विनाश को तथा परलोक में भय को भी कुछ नही गिनता और हमेशा चोरी करने का साहस करता है। चोर व्यक्ति इस लोक तथा परलोक मे भी अनन्त दु:ख को पाता है। इसलिए श्रावक को चोरी का त्याग करना चाहिए। न्यासापहार भी चोरी ही है। न्यासापहार में वसुनन्दि ने श्रीभूति का उदाहरण दिया है।

न्यासापहार अर्थात् धरोहर को अपहरण करने के दोष से दड पाकर श्रीभूति आर्तध्यान से मरकर संसार-सागर में दीर्घकाल तक फिरता रहा[१२]।

७. परदारादोष-वर्णन" :—

सातवें व्यसन के रूप में वसुनन्दि ने परस्त्री का हरण करना या उसके तरफ अभिलषित होने से प्राप्तदोष का वर्णन करते हुए लिखा है कि—जो निर्बुद्धि पुरुष परायी स्त्री को देखकर उसको प्राप्त करने का इच्छुक होता है, वह उसके द्वारा पाता तो कुछ नही है, बल्कि पाप को ही बटोरता है।

जब वह परस्त्री को नही पाता, तो इधर-उधर विलाप करता हुआ, गाता हुआ भटकता है। वह व्यक्ति यह नहीं सोचता है कि परायी स्त्री भी मुझे चाहती है या नही ? केवल उसको प्राप्त करने की चिन्ता में हमेशा डूबा रहता है। ऐसे पुरुष का कहीं भी मन नही लगता। उसे मीठा भोजन भी नही रुचता। विरह मे संतप्त रहता है। उसे नींद भी नही आती। नाना प्रकार के कष्टो को सहते हुए इस ससार-समुद्र के भीतर भ्रमण करता है। इसलिए परिगृहीत या अपरिगृहीत परस्त्रियों का मन, वचन, काय से त्याग करना चाहिए।

परस्त्री हरण मे वसुनन्दि ने रावण का उदाहरण दिया है। विचक्षण, अर्धचक्रवर्ती और विद्याधरो का स्वामी होकर भी परस्त्री हरण के पाप से राजा रावण अपने पूरे कुल के साथ मर कर नरक को गया"।

इस प्रकार वसुनन्दि सातों व्यसनो का संक्षेप में वर्णन करते हुए कहते है, कि जो व्यक्ति सातों ही व्यसनों का सेवन करता है, उसके दु:खो का वर्णन नही किया जा सकता। साकेत नगर में रुद्रदत्त सातो ही व्यसनो का सेवन करके मरकर नरक गया और फिर दीर्घकाल तक संसार में भ्रमता फिरा"।

वसुनन्दि ने सातों व्यसनों के उदाहरण के रूप मे प्रत्येक व्यसन के पारंपरिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। द्यूतदोष मे राजा युधिष्ठिर का, मद्यदोष में यादवों का, मांसदोष में गृद्धवकराक्षस का, वेश्यागमन मे चारुदत्त का, पारद्धिदोष में ब्रह्मदत्त का, चौर्य में श्रीभूति का और परदाराहरणदोष मे रावण का वर्णन किया है। ये सभी उदाहरण प्राचीन प्राकृत तथा संस्कृत वाङ्मय मे भी प्राप्त होते हैं।

श्रावकाचार के अध्ययन की दृष्टि से तथा मानव कल्याण की दृष्टि से व्यसन मुक्ति के सन्दर्भ में यह अध्ययन महत्वपूर्ण एवं उपयोगी होगा।

सन्दर्भ-सूची

१. जूयं खेलंतस्स हु कोहो माया य माण लोहा य।
एए हवंति तिव्वा पावइ पावं तदो वहुगं ॥६०
पावेण तेणजर-मरण-वीचिपउरम्मि दुक्खमलिलम्मि।
चंडगइममणावतम्मि हिंडइ भवसमुद्दम्मि ।वसु. श्रा. ६१

२. रज्जटमंस वसणं बारह संवच्छराणि वणवासो।
पत्तो तहावमाण जूएण जुहिट्ठिलो राया ॥
वसु० श्रा० १२५

३. मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं।
इहलोए परलोए अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥
वसु० श्रा० १२५

पावेण तेण बहुसो जाइ-जरा-मरणसावयाइण्णे।
पावइ अणंतदुक्खं पडिओ ससारकंतारे ॥
वसु० श्रा० ७८

४. उज्जाणम्मि रमंता तिसाभिभूया जलं ति णाऊण।
पिविऊण जुण्णमज्जं णठ्ठा ते जादवा तेण ॥
वसु० श्रा० १२६

५. मसासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ।
जूयं पि रमइ तो तंपि वण्णिए पाउणइ दोसे ॥
वसु० श्रा० ८६

६. मंसासणेण गिद्धो वगरक्खो एगचक्कणयरम्मि।
रज्जाओ पढमटठो अयसेण मुओ गओ णरयं ॥

७. कारुय-किराय-चंडाल-डोंब-पारधियाणमुच्छिटठं।
सो भक्खेइ जो सह वसइ एयरत्तिं पि वेस्साए ॥
वसु० श्रा० गाथा संख्या ८८

८. सव्वत्थ णिवुणबुद्धी वेसासंगेण चारुदत्तो पि।
खइऊण धणं पत्तो दुक्खं परदेशगमणं च ॥
वसु० श्रा० १२८

९. सम्मतस्स पडाणो अणुकंवा वण्णिओ गुणो जम्हा।
पारद्धिरमणसीलो सम्मतविराहओ तम्हा ॥
वसु० श्रा० ९४

गो-बंभण-महिलाणं विणिवाए हवइ जह महापावं ।
तह इलरपाणिघाए वि होइ पावं ण सदेहो ।।
वसु० श्रा० ९८

१०. होउण चक्कवट्टी चउदहरयणाहिओ वि संपत्तो ।
मरिऊण वंभदत्तो णिरयं पारद्धिरमणेण ।।
वसु० श्रा० १२९

११. परदव्वहरणसीलो इह-परलोए असायबहुलाओ ।
पाउणइ जायणाओ ण कयावि सुहं पलोएइ ।।
वसु० श्रा० १०१

णगणेइ माय-वप्पं गुरू-मित्त सामिण तवस्सिं वा ।
पबलेण हरइ छलेण किं चिण्णं किंपि ज तेसि ।।
वसु० श्रा० १०४

१२. णासावहारदोसेण दंडणं पाविऊण सिरिभूई ।
मरिऊणं अट्टझाणेण हिंडिओ दीहससारे ।।
वसु० श्रा० १३०

१३. दट्ठूण परकलत्तं णिब्बुद्धी जो करेइ अहिलासं ।
णय किंपि तत्थ पावइ पावं एमेव अज्झेइ ।।
वसु० श्रा० ११२

णिस्ससइ रूयइ गायइ णिययसिरं हणइमहियलेपडइ ।
परमहिलमलभमाणो असप्पलाव पि जपेइ ।।
वसु० श्रा० ११३

ण य कत्थ वि कुणइ रइ मिट्ठं पि य भोयणं ण भुजेइ ।
णिछंपि अलहमाणो अच्छइ विरहेण सतत्तो ।।
वसु० श्रा० ११५

१४. होउण खयरणाहो वयक्खओ अद्धचक्कवट्टी वि ।
मरिऊण गओ वारय परित्थि हरणेण लंकेसो ।।
वसु० श्रा० १३१

१४. साकेते सेवतो सत्तवि वसणाइं रूद्दत्तो वि ।
मरिऊण गओ णिरय भमिओ पुणदीहससारे ।।
वसु० श्रा० १३३

(पृ० ७ का शेषांश)

इक्ष्वाकु—इक्षुरस का सग्रह करने का उपदेश देने के कारण ।

गौतम—उत्तम स्वर्ग सर्वार्थ सिद्धि से आए थे इस कारण (गो याने स्वर्ग)

काश्यप—काश्य (तेज) के रक्षक होने के कारण मनु और कुलक प्रजा की आजीकिका का मनन किया इस कारण प्रजापति, आदि ब्रह्मा, विधाता, विश्वकर्मा, सृष्टा इन नामों से भी भगवान् जाने जाने लगे ।

यह राज्यकाल तिरेसठ लाख पूर्व तक चला जिसमे प्रभु पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न बने रहे । सारे समय इन्द्र उनके भोगोपभोग की सामग्री भेजता रहा क्योंकि तीर्थंकर न तो स्तनपान करते है और न पृथ्वी पर का भोजन ग्रहण । उनके भोजन स्वर्ग से आया करते हैं ।

भगवान् ऋषभदेव का कितना बड़ा योगदान था इसकी थोड़ी-सी झलक ही है यह । भव्य जन आदिपुराण का पारायण (स्वाध्याय नामक तप) करे और महाकवि भगवज्जिनसेनाचार्य के विशाल ज्ञान, काव्यकला, कल्पना, तथ्य, शब्द, अलकार, छन्द के साथ-साथ धर्म का आनन्द प्राप्त करे ताकि मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने में समर्थ हो सके । —मन्दाकिनी, नई दिल्ली

(पृ० ५ का शेषांश)

५९. प्रमाणसमु० १।३ तत्त्वार्थवार्तिक १।१२।११
६०. न्यायसूत्र १।१२, तत्त्वार्थवार्तिक १।१।४५
६१. न्यायसूत्र १।१।४ त० वार्तिक १।२।६
६२. योगभाष्य १।९ तत्त्वार्थवार्तिक ५।५।१
६३. तत्त्वार्थवार्तिक १।१।१४, ६४. १।१०।८,
६५. २।८२४, ६६. ५।२।६,५।७।६, ६७. ५।२।६,
६८. ५।१।१, ६९. ५।१७।२३, ७०. ५।१७।३७,
७१. ५।१९।२४, ७२. ६।१।३, ७३. ८।१।२६,
७४. ८।१।२६, ७५. ६।३६, ७६. ८।१।१७,
७७. मनुस्मृति ५।३९ ७८. तत्त्वार्थवार्तिक ८।१।२२-२७,
७९. १।२२।४ ८०. वही १।१।१३, ८१. १।१।५०-५४,
८२. ५।१।१०, ८३. ५।१।११, ८४. ५।३।३, ८५. ५।३७।४

नियमसार का समालोचनात्मक सम्पादन

□ डा० ऋषभचन्द जैन 'फौजदार'

['नियमसार का समालोचनात्मक सम्पादन' योजना के अन्तर्गत तैयार किये गये मूल प्राकृत पाठ का यह प्रारंभिक निवेदन विद्वज्जगत तथा कुन्दकुन्द के विशेष अध्येताओं के सम्मत्यर्थ प्रस्तुत है। —लेखक]

नियमसार की प्राकृत गाथाओ का मूलपाठ सम्पादन के विशेष उद्देश्य से यहां प्रस्तुत है। मुद्रित प्रतियों में प्राकृत पाठ अत्यधिक अशुद्ध है। इससे अनुवाद एव अध्ययन भी प्रभावित हुए हैं। नियमसार पर पी-एच० डी० उपाधि के लिए अनुसन्धान कार्य करते समय उक्त तथ्य सामने आये। प्राकृत पाठ अशुद्ध होने स भाषाशास्त्रीय अध्ययन सम्भव नही हुआ। इन बातों पर अनुसन्धान कार्य के मार्ग निर्देशक आचार्य गोकुलचन्द्र जैन से निरन्तर विचार-विमर्श हुआ। उन्होंने नियमसार का मानक सस्करण तैयार करने पर बल दिया। सम्पादन योजना बनवाई। उसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को भिजवाया। सौभाग्य से आयोग ने योजना स्वीकृत कर ली और मुझे "रिसर्च एशोसिएटशिप अवार्ड" की।

नियमसार का प्रस्तुत मूल प्राकृत पाठ उक्त सम्पादन योजना का एक अग है। इसका आधार अद्यावधि प्रकाशित विभिन्न सस्करण हैं। नियमसार सर्वप्रथम सन् 1916 में जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन शीतलप्रसाद ने गोधो के दि० जैन मन्दिर, जयपुर की एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि के आधार पर किया है। बाद के दशकों मे नियमसार के अनेक प्रकाशन हुए है। उन सभी में मूल प्राकृत पाठ वही पुनर्मुद्रित है। किसी मे भी पाठ को शुद्ध करने का प्रयत्न नही किया गया। बाद के प्रकाशनों मे अशुद्धियां तथा पाठ भेद बढ़ते गये हैं। मुद्रण की त्रुटियां अलग है। कुछ में जान-बूझकर भी पाठ परिवर्तित किये गये हैं। पं० बलभद्र जैन ने प्रयत्न पूर्वक 255 पाठ परिवर्तित किये है। व्याकरण और छन्दोनुशासन के अनुसार पाठ बदले गये हैं। कुछ सस्करणो मे प्राकृत पाठ को सस्कृत छाया के अधिक निकट लाने के लिए बदला गया है। किसी भी संस्करण मे नियमसार की उत्तर तथा दक्षिण भारत में उपलब्ध प्राचीन पाण्डुलिपियों का उपयोग नही किया गया। सम्पादन के अन्य स्वीकार्य मानक भी नही अपनाये गये

त्रुटिपूर्ण पाठ के कारण कई स्थलों पर अर्थ मे सगति नहीं बैठती। गाथाओं का गेयात्मकतत्व भी प्रभावित हुआ है। प्राचीन पारम्परिक सिद्धान्त ग्रन्थों की भाषा को बाद मे लिखे गये व्याकरण एव छन्दशास्त्र के अनुसार परिवर्तित करना सम्पादन नियमो के विरुद्ध है। इससे प्राचीन भाषा का स्वरूप एवं स्वभाव विकृत होता है।

अब तक नियमसार के 15 संस्करण उपलब्ध हुए है। इस मूल प्राकृत पाठ को तैयार करने में इनका उपयोग किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सस्करणो की भी जानकारी मिली है। उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

उक्त संस्करण सस्कृत टीका, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती या मराठी अनुवाद के साथ प्रकाशित हैं। नियमसार के हिन्दी और गुजराती पद्यानुवाद भी हुए हैं। 1916 ई० प्रथम सस्करण मे एक पाण्डुलिपि का उपयोग हुआ है। सोनगढ़ से 1951 में प्रकाशित गुजराती संस्करण में तीन पाण्डुलिपियों की सूचना है। उनका परिचय वहाँ उपलब्ध नही है। बाद के सस्करणों में पाण्डुलिपियों का उपयोग नही किया गया। किसी भी संस्करण मे पाण्डुलिपियों की सूचना भी नही है।

पिछले दशक मे नियमसार के सर्वाधिक प्रकाशन हुए हैं। कुन्दकुन्द का द्विसहस्राब्दि समारोह भी दो वर्ष तक मनाया गया, किन्तु कहीं से भी कुन्दकुन्द के ग्रन्थो के प्रामाणिक सस्करण तैयार करने की योजना सामने नही

आई : आश्चर्य इस बात का है कि कुन्दकुन्द के नाम पर स्थापित संस्थाओं द्वारा भी इस दिशा में प्रयत्न नही किये गये।

नियमसार के पहले संस्करण मे मूल प्राकृत गाथाएं दो बार छपी हैं। उन दोनो मे भी पाठ भिन्नता है। उदाहरण के लिए कुछ पाठ इस प्रकार है—

गाथा संख्या	I	II
117	वरतवचरणा	वरतवचरण
119	परिहाण	परिहारं
130	जेण्ह	जोण्ह
142	कम्भ वावस्सयति	कम्भमावासयंति
147	कुणदि	कुणहि
153	सज्झाउं	सज्झाओ
167	पच्छतस्स	पेच्छतस्स
169	किल दूसण होदि	किं दूसणं होई
,,	णेव	णेग
185	पुव्वावरविरोधो जदि	पुव्वावरयविरोहो
,,	समयण्गा	समयण्हा

सभी संस्करणो मे पारम्परिक रूप से कुछ पाठ अशुद्ध छपते आ रहे हैं। इस ओर अभी तक किसी का ध्यान नही गया। यहा कुछ पाठ एव उनके स्थान पर संभावित पाठ दिये जा रहे है—

गाथा संख्या	मुद्रित पाठ	सम्भावित पाठ
(1)	(2)	(3)
5	अत्ता, अत्तो	अप्पा
6	छुहतण्हभीरूरोसो	छुहतण्हाभीरोसो
32	चावि	भावि
32	सपदा, सपदी	सपया
72	जे एरिसा	एदेरिसा
77,78,79,80,81	कत्तीर्ण	कत्ताण
95	मसुह	असुह
97	णवि मुच्चइ	ण विमुच्चइ
114	पूरी गाथा	—
115	खुए चद्दुविहकसाए	खु चहुविहे कसाए
118	समज्जिय	य अज्जिय
135	मोक्खंगप	मोक्खगयं
137,138	किह, कह	कह
140	घरू	घर
141	पिज्जुत्तो, पज्जुत्तो, णिज्जुत्तो, मणेइ मणति	
142	णिज्जेत्ती, वावस्सयं	णिज्जुदी, वावस्सयं आवस्सयं
141,146,147	आवास	आवस्स
144,149	आवासय	आवस्सय
156	मणंति	मणेइ
147	सामण्णगुण	सामाइयगुणं
155	पडिक्कमणादिय	पडिक्कणादी
158	पडिवज्ज य	पडिवज्जिय
165	णिच्छयणयएण	णिच्छयणएण
166,169	दूसण	दंसण
170	णवि जाणदि	ण विजाणदि
171	अप्पणो	अप्पणो
175	साकट्ठ	सा अक्खं
179,180,191	य होइ	हवदि
181	झाणे	झाण

नियमसार की 30 प्राचीन पांडुलिपियों की जानकारी अभी मिली है। शास्त्र भंडारो के सर्वेक्षण का कार्य चल रहा है। राजस्थान के शास्त्र भंडारो से चार पांडुलिपियों की जीरावस कापियां प्राप्त हो चुकी है। शेष के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं।

प्रस्तुत सम्पादन योजना मे सर्वप्रथम ग्रन्थ का मूल प्राकृत पाठ तैयार किया जायेगा। इसका सर्वाधिक प्रशस्त आधार प्राचीन पांडुलिपियां होगी। उत्तर और दक्षिण भारत में अलग-अलग समय में पांडुलिपियां लिखी गई हैं। इनमे देवनगरी एव कन्नड़ लिपि की पाडुलिपियां प्रमुख हैं। देश-विदेश मे उपलब्ध सभी पांडुलिपियों का सर्वेक्षण किया जा रहा है। परीक्षण के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव प्राचीन प्रतियो का उपयोग किया जायेगा।

नियमसार की कतिपय गाथाएं कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थो मे यथावत् प्राप्त होती है। कुछ किंचिद् शब्द परि-

वर्तन के साथ मिलती है। विषयवस्तु की दृष्टि से उनमें साम्य है। अन्य दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थों मे भी कतिपय गाथाएं उपलब्ध हैं। मूल पाठ सशोधन में इस सामग्री के समुचित उपयोग का ध्यान रखा जायेगा।

नियमसार मे कुछ प्राचीन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग पारम्परिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कुछ का विषय-वस्तु की दृष्टि से उल्लेखनीय है। ऐसे शब्दों को सैकड़ों वर्ष पश्चात् निर्मित व्याकरणशास्त्र एवं छन्दशास्त्र के नियमों के अनुरूप नहीं बनाया जा सकता। भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी यह उपयुक्त नही है।

मूल प्राकृत पात्र के संशोधन में उक्त सभी तथ्यो का ध्यान रखा जायेगा। इसके साथ प्राकृत भाषा एवं विषय के अधिकारी विद्वानों का भी यथासम्भव सहयोग प्राप्त किया जायेगा। सम्पादित पाठ के अनुरूप हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद किये जायेंगे।

प्रस्तावना मे सम्पादन सामग्री का परिचय होगा। इसमें सम्पादन मे प्रयुक्त ताडपत्रीय पांडुलिपियो; हस्त-लिखित कर्गलीय पांडुलिपियो तथा प्रकाशित सस्करणों का विवरण मुख्य है। अद्यावधि ज्ञात अन्तर्बाह्य साक्ष्यो के आधार से कुन्दकुन्द के समय एव कृतियो पर विचार होगा। टीकाकार के विषय में भी विचार किया जायेगा। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ग्रन्थ का अध्ययन समाविष्ट होगा। साथ में नियमसार की गाथाओ का भाषा एवं विषयवस्तु की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन किया जायेगा। कुन्द-कुन्द के अन्य ग्रन्थों में तथा दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थों में यथावत् या किंचिद् शब्द परिवर्तन के साथ उपलब्ध एवं विषयवस्तु की दृष्टि मे साम्य रखने वाली नियमसार की गाथाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

प्रकाशित एक भी संस्करण में शब्दकोश नहीं है। इसलिए परिशिष्ट मे नियमसार का सम्पूर्ण प्राकृत शब्द-कोश दिया जायगा। पारिभाषिक शब्दों का विश्लेषण पृथक् रूप से प्रस्तुत किया जायेगा। मूलगाथानुक्रमणिका, संस्कृत टीका के पद्यों की अनुक्रमणिका एव विशिष्ट सामग्री के स्वतन्त्र परिशिष्ट होंगे।

उपर्युक्त तथ्यों के साथ नियमसार की प्राकृत गाथाओं को आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए विनम्र निवेदन है कि आपकी दृष्टि मे जो प्राकृत पाठ विचारणीय लगते हो, उन्हे रेखांकित कर दें। उन पाठो को जांचने और शुद्ध करने के लिए उपयुक्त स्थल-सामग्री सुझायें तथा परम्परा-गत शास्त्रों के अपने व्यापक अध्ययन के आधार पर समाविष्ट पाठ भी सुझावें। सम्पादन योजना के विषय मे सुझाव विस्तार मे स्वतन्त्र रूप से अंकित करने की कृपा करें। आपके सहयोग और मार्गदर्शन को हम अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं और उसका आदर पूर्वक उल्लेख करेंगे।

—सं० स० वि० वि० वाराणसी

जिनवाणी की रक्षा का उपाय

श्रुतकेवली गणधर देव और परम्परित, ज्ञानी, प्राचीन मान्य परम दिगम्बराचार्य पूर्ण अपरिग्रही —राग-विरोधरहित होने से वस्तु तत्त्व का यथार्थ वर्णन कर सके। हमें उनके वचन प्रमाण करने चाहिए और शास्त्र की गद्दी पर उन्हीं का वाचन करना चाहिए।

आजकल यश या द्रव्य-अर्जन के लिए पुस्तकों के रूप में पक्षपातपूर्ण बहुत कुछ (अपनी समझ से) लिखने की परिपाटी चल पड़ी है और परीक्षा दुष्कर है। अतः आधुनिक लेखकों की पुस्तकें गद्दी पर स्वीकार नहीं की जानी चाहिए। जिनवाणी के संरक्षण का यह एक उपाय है।

अहार का शान्तिनाथ प्रतिमा लेख

❑ डा० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' एम० ए० पी-एच० डी० काव्यतीर्थ

भारतीय इतिहास में अभिलेखों का अनूठा योगदान रहा है। अभिलेखों की प्रामाणिकता उनके मौलिक स्वरूप में ही प्राप्त होती है और उनका अन्तःपरीक्षण भी उनकी मौलिक स्थिति से ही होता है। जिनमे काल का निर्देश नहीं होता उनका काल निर्णय लिपि और लेखन शैली से हो किया जाता है। अब तक जो जैन अभिलेख संग्रह प्रकाश में आये है, उनमे लेखकों ने उनके मौलिक रूप को प्रकट नही होने दिया है। अभिलेखों म लेखकों ने अपनी छाप लगा दी है। अभिलेखों से मूललेख की पंक्ति के अन्त और आरम्भ का बोध नही होता। प्राचीन अभिलेखों मे सरेफ वर्ण द्वित्व वर्ण में प्रयुक्त हुए है। इसी प्रकार स्थान की बचत करने के लिए प्राचीन अभिलेखो में अनुनासिकों के स्थान मे अनुस्वार का प्रयोग हुआ है। ख वर्ण के लिए 'ष' तथा श और ष वर्णों के लिए स वर्ण के प्रयोग भी द्रष्टव्य है। इन विशेषताओं का प्रकाशित अभिलेखों मे अभाव है।

अतः प्रस्तुत अभिलेख मे अभिलेख का मौलिक स्वरूप रखा गया है। शुद्ध रूप कोष्टक के भीतर दिये गये है जिससे मौलिक और शुद्ध दोनो रूप पाठकों को प्राप्त होगे। अभिलेख के साथ ही अभिलेखीय अन्य सामग्री की अपेक्षित विवेचना भी दी गई है। इससे अभिलेख के माध्यम से प्राचीन इतिहास को जानने समझने मे भी सुविधा होगी ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रामाणिक रूप से अहार का अतीत निम्न पंक्तियों मे द्रष्टव्य है—

अहार शान्तिनाथ-प्रतिमालेख मूलपाठ

पंक्ति 1. ओं नमो वीतरागाय ॥ ग्र (गृ) हपतिवशसरोरुह सह (कमल-पुष्प) स्र रस्मिः (रश्मिः) सहस्रकूट यः। वाणपुरे व्यधिनाशी (सी) स्त्री (श्री) मानि—

पंक्ति 2. द्व देवपाल इति ॥1॥ श्री रत्नपाल इति तत्तनयो (कमल-पुष्प) वरेण्यः पुण्यैक मूर्तिरभवद्वसुहाटिकायां (म्)। कीर्तिर्ज्जग त्र (य)- -

पंक्ति 3. परिभ्रमणस्र (श्र) मार्त्ता यस्यस्थिरराजनि जिनायतन (कमल-पुष्प) च्छलेन ॥2॥ एकस्तावद नूनवृद्धिनिधिना श्री (श्री) शान्ति चैत्या ल—

पंक्ति 4. यो दिष्टया (दृष्ट्या) नंद (नन्द) पुरे परः परनर.नंद (नन्द) पदः श्री (श्री मता। येन श्री (श्री) मदनेस (श) सा (कमल-पुष्प) गरपुर तज्जन्मनो निर्म्मिमे सोय (सोऽयं) श्रे (श्रे) ष्ठि वरिष्ठ रल्हणा इति श्री (श्री रल्हणाख्याद्—

पंक्ति 5. ॥3॥ तस्माद आयत कुलाम्बर पूर्णाचंद्र (चन्द्रः) श्री (श्री) जाहडस्तदनुजोद (कमल-पुष्प) य चंद्र (चन्द्र) नामा। एकः परोपकृति हेतु कृतावतारो धर्म्मात्मिकः पुनरमो।

पंक्ति 6. घ सुदानसारः ॥4॥ ताभ्यामसे (शे) ष दुरितौघ स (श) मैक हेतु (तु) निर्म्मा (कमल-पुष्प) पित भुवनभूषण भूतमेतत्। श्री (श्री) शान्ति चैत्य मति (मिति) नित्य सुख प्रदा—(नात्)

पंक्ति 7. मुक्ति श्रि (श्रि) यो वदनवीक्षण लोलुपाभ्याम् ॥5॥ छ छ छ ॥ (कमल-पुष्प) सवत् 1237 मार्ग्ग सुदि 3 सु (शु) के स्त्री (श्री) मत्परमाडिदेव परमर्द्धिदेव) विजयराज्ये—

पंक्ति 8. चंद्र (चन्द्र) भास्कर समुद्रतारका यावदत्र जनचित्तहारका। धर्म्म ॥ (कमल-पुष्प) रि कृत सु (शु) द्ध कीर्त्तन तावद (दे) व जयतात्सुकीर्त्तनम् ॥ (6)

पंक्ति 9. वाल्हणस्य सुतः श्री (श्री) मान् रूपकारो महामति। पा (कमल-पुष्प) पटो वास्तु सा (शा) स्त्रज्ञस्तेन विंवं (बिम्ब) सुनिर्म्मित (तम्)॥ (7)॥

छन्द-परिचय

इस अभिलेख के प्रथम श्लोक में आर्या दूसरे, चौथे, और पांचवें श्लोकों मे वसन्ततिलका, तीसरे श्लोक मे शार्दूलविक्रीडित, छठे श्लोक मे रथोद्धता और सातवें श्लोक में अनुष्टुप छन्द है।

पाठ टिप्पणी

1. मूलपाठ में न और म वर्णों के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग हुआ है।

2 श के स्थान में स और स के स्थान मे श के प्रयोग भी हुए हैं।

3. श्री तीन प्रकार से लिखा गया है—श्री, श्री और श्री।

4. ई स्वर की मात्रा वर्ण के ऊपर घुमावदार आकृति लिए है। वर्ण की ऊपरी आड़ी रेखा से संयुक्त नहीं है।

5, द्र वर्ण मे उ स्वर की मात्रा अन्य वर्णों के समान नीचे संयुक्त की गई है।

6. 'ए' स्वर की मात्रा के लिए वर्ण के पहले एक खड़ी रेखा का व्यवहार हुआ है।

7. ध और च वर्ण व वर्ण की आकृति लिए हैं।

8. श वर्ण ल वर्ण की आकृति में अंकित है।

9. ब के स्थान में 'व' वर्ण का प्रयोग हुआ है।

10. सरेफ वर्ण द्वित्व वर्ण में अंकित हैं।

11. पांचवें श्लोक के अन्त मे 'एज' शब्द अनावश्यक प्रतीत होता है।

भावार्थ

श्लोक 1. वीतराग (देव) के लिए नमस्कार है। जिन्होंने बानपुर में सहस्रकूट चैत्यालय बनवाया वे गृहपति वंश रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य स्वरूप देवपाल यहां (इस नगर मे हुए।

श्लोक 2. उनके बसुहाटिका नगरी मे पवित्रता की मूर्ति एक रत्नपाल नामक पुत्र हुए जिनकी कीर्ति तीनों लोकों में परिभ्रमण करने के श्रम से थककर जिनायतन के बहाने स्थिर हो गई :

श्लोक 3. श्री रल्हण (रत्नपाल) के श्रेष्ठियो मे प्रमुख श्रीमान् गल्हण का जन्म हुआ : वे समग्रबुद्धि के निधान थे। उन्होने श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर का एक चैत्यालय नन्दपुर में और सभी लोगों को आनन्द देनेवाला दूसरा चैत्यालय अपने जन्म स्थान श्री मदनेशसागरपुर मे बनवाया था।

श्लोक 4. उनके कुल रूपी आकाश के लिए पूर्णचन्द्र के समान श्री जाहड उत्पन्न हुए। उनके छोटे भाई उदयचन्द्र थे। उनका जन्म प्रधानता से परोपकार के लिए हुआ था। वे धर्मात्मा और अमोघदानी थे।

श्लोक 5. मुक्ति रूपी लक्ष्मी के मुखावलोकन के लोलुपी उन दोनों भाइयो के द्वारा समस्त पापों के क्षय का कारण, पृथिवी का भूषण-स्वरूप शाश्वत् सुख को देनेवाला श्री शान्तिनाथ भगवान का बिम्ब निर्मित कराया गया।

सम्वत् 1237 अगहन सुदी 3, शुक्रवार श्रीमान् परमर्द्दिदेव के विजय राज्य मे।

श्लोक 6. इस लोक मे जब तक चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र और तारागण मनुष्यों के चित्तो का हरण करते हैं तब तक धर्मकारियो का रचा हुआ सुकीर्तिमय यह सुकीर्त्तन विजयी रहे।

श्लोक 7. वाल्हण के पुत्र महामतिशाली मूर्ति-निर्माता और वास्तुशास्त्र के ज्ञाता श्रीमान् पापट हुए। उनके द्वारा इस प्रतिमा को रचना की गई।[1]

अभिलेख में उल्लिखित नगर

बाणपुर-इस नगर का नाम प्रस्तुत प्रतिमा-लेख की प्रथम पंक्ति मे आया है, जिसमे बताया गया है कि श्रीमान् देवपाल ने यहां सहस्रकूट चैत्यालय निर्मित कराया था।

यह स्थान मध्यप्रदेश के टीकमगढ से अठारह मील दूर पश्चिम मे बाणपुर ग्राम के शहर गेट से किनारे आज भी स्थित है। डा० नरेन्द्रकुमार टीकमगढ़ के सौजन्य से 15/11/90 के प्रातः इस सहस्रकूट के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

यह चैत्यालय सात भागो में विभाजित रहा है। ऊपरी सातवां भाग नहीं है। प्रतिमाओं की गणना करने पर उनकी 1000 संख्या पूर्ण न होने पर यह संभावना तर्क संगत प्रतीत हुई। ऊपरी अश की अपूर्णता से भी यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

डा० नरेन्द्रकुमार जी के सहयोग से पद्मासन और

खड्गासन प्रतिमाओ की निम्न प्रकार गणना की गई। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशाओ मे कुल 239-239 प्रतिमाएं हैं। ऊपर से नीचे छह खण्डो मे वे इस क्रम में हैं—23, 63, 64, 43, 33 और 13 कुल 239। उत्तर की ओर कुल 207 प्रतिमाएं विराजमान है। ये प्रतिमाए ऊपर से नीचे छह खण्डों में इस क्रम में विराजमान हैं—23, 67, 64, 31, 3 और 13। चारों दिशाओं की कुल 924 प्रतिमाएं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवें भाग में चारों ओर 16-16 प्रतिमाएं रही है।

पूर्व और दक्षिण की ओर मध्य में स्थित प्रतिमा के ऊपर पांच फणवाला सर्प अंकित है अतः वे प्रतिमाए तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की कही जा सकती हैं। पश्चिम मे चन्द्रप्रभ और उत्तर में नेमिनाथ तीर्थंकरों की प्रतिमाए हैं। यहां बायीं ओर दो पंक्ति का लेख है—

1. अनेकान्त, वर्ष 9, किरण 10, पृष्ठ 384-385 से साभार।

1. यांगलि······पोहिणी वाहिणि
2.·········(अपठनीय)

दायीं ओर एक पंक्ति णा लेख है जिसमे सम्वत् 1009 पढ़ने में आता है। यह सम्वत् 1109 होना भी सभावित है।

यहा आदिनाथ, भरत और बाहुवलि की खंडित प्रतिमायें भी हैं एक फलक पर आदिनाथ प्रतिमा की बायी ओर वाहुवलि और बायी ओर भरत-प्रतिमा है। एक शिलाखंड पर आदिनाथ की मुख्य प्रतिमा सहित 53 प्रतिमायें अंकित है। प्रतिमाओं की सख्या से इस शिलाखंड पर नन्दीश्वर द्वीप के 52 जिनालयो की स्थापना की गई प्रतीत होती है। अन्य अनेक प्रतिमायें है। यह स्थान दर्शनीय है।

वसुहाटिका—इस स्थली मे सभवतः मदनेशसागरपुर नगर का मुख्य बाजार था। रत्नपाल के पिता देवपाल यहीं रहते थे। संभवतः वे अपने समय के धार्मिक पुरुष थे। पं० अमृतलाल शास्त्री ने चन्देल मदनवर्मदेव की नष्ट भ्रष्ट राजधानी का यह नाम वताया है।[1] परन्तु राजधानी के नष्ट भ्रष्ट हो जाने से नगर के नामो में परिवर्तन हुआ नही पढ़ा गया अतः शास्त्री जी का कथन तर्कसगत प्रतीत नहीं होता है यह मदनेशसागरपुर के किसी वार्ड का नाम या मुख्य बाजार का ही नाम रहा प्रतीत होता है।

मदनेशसागरपुर—प्रस्तुत अभिलेख मे शान्तिनाथ-चैत्यालय के निर्माता गल्हण को इस नगर का निवासी बताया गया है। बारहवी शताब्दी में यहां चन्देल मदन वर्मा का शासन था। उसने यहां एक तालाब बनवाया था जिसका नामकरण उसने अपने नाम पर किया था जो आज भी 'मदनसागर' के नाम से जाना जाता है। मदन वर्मा की संभवतः यह नगर राजधानी थी। वसुहाटिका और अहार इसी के नाम है।[1] गल्हण के बाबा वसुहाटिका में और पिता इस नगर मे रहते थे। दोनों में दूरी संभवतः विशेष नहीं थी। लश्कर-ग्वालियर के समान दोनों निकटवर्ती रहे प्रतीत होते हैं।

नन्दपुर—प्रस्तुत प्रतिमालेख के तीसरे श्लोक में गल्हण द्वारा यहां शान्तिनाथ चैत्यालय बनवाया जाना बताया गया है।

अहार के समीपवर्ती नगरो और ग्रामों में नावई (नवागढ़) एक ऐसा स्थान है जहां बारहवीं शताब्दी की कला से युक्त शान्तिनाथ प्रतिमा विराजमान है। अतः नावई को नन्दपुर से समीकृत किया जा सकता है और नावई का ही पूर्व नाम नन्दपुर माना जा सकता है।

अहार का समीपवर्ती होने से नारायणपुर को भी नन्दपुर से समीकृत किया जा सकता है क्योंकि वहां इस काल के आज भी अवशेष विद्यमान हैं। यद्यपि यहां सम्प्रति शान्तिनाथ प्रतिमान मन्दिर मे विद्यमान नहीं है चन्द्रप्रभ प्रतिमा है परन्तु शान्तिनाथ प्रतिमा के विराजमान रहे होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता है।

प्रतिमा-परिचय

परिकर—खड्गासन मुद्रा में विराजमान इस शान्तिनाथ प्रतिमा की हथेलियों के नीचे सौधर्म और ईशान स्वर्गों के इन्द्र चंमर ढोरते हुए सेवा रत खड़े हैं। बायीं ओर का इन्द्र चंमर दायें हाथ में और दायीं ओर का इन्द्र बायें हाथ में लिए है। दोनो इन्द्र आभूषणों से भूषित हैं। उनके सिर मुकुटवद्ध है। कानों में गोल कुंडल हैं। गले में दो-दो हार धारण किये हैं। प्रथम हार पांच लड़ियों का और दूसरा हार तीन लड़ियों का है। एक हार वक्षस्थल तक आया है और दूसरा हार वक्षस्थल के नीचे से होकर पृष्ठ भाग की ओर गया है। इनके हाथों में कंगन

और बाहुओं में भुजबन्ध है। कटि प्रदेश में मेखला है जिसमें छोटी छोटी घंटिकायें लटक रही हैं। पैरों में तीन-तीन कड़े और पायल धारण किये हैं।

इन इन्द्रों के नीचे दोनों ओर एक-एक पुरुषाकृति अंकित है। ये दोनों पुरुष रत्नाभरणों से विभूषित हैं। इनके सिरों पर तारांकित किरीट हैं। कानों में गोल कुंडल हैं। बाहुओं मे भुजबन्धन और हाथों में कंगन धारण किये हैं। इनके कटि प्रदेश में मेखला भी अकित है। दोनो हाथों में ये पुष्प धारण किये हैं। इनके हार नाभि प्रदेश का स्पर्श कर रहे हैं। इनकी नुकीली मूंछे और दाढ़ी भी है। वेश-भूषा से दोनों कोई राजकुमार या श्रेष्ठी पुत्र प्रतीत होते हैं। पं० बलभद्र जैन ने इन्हें शान्तिनाथ-प्रतिमा के निर्माता जाहड़ और उदयचन्द्र की प्रतिमायें होने की उद्घोषणा की है जो तर्क संगत प्रतीत होती है।

आसन

प्रतिमा जिस आसन पर विराजमान है उसके मध्य में चार इंच स्थान मे चक्र उत्कीर्ण है। इसमे बाईस आरे हैं। आरों के मध्य से एक रेखा नीचे की ओर जाती हुई अंकित है। संभवतः चक्र के दो आरे इस रेखा मे विलीन हो गये हैं। आरों की संख्या चौबीस ही रही ज्ञात होती है। इस चक्र की दोनों ओर आमने-सामने मुख किये चिह्न स्वरूप दो हरिण अकित हैं। वे पूछ ऊपरकी ओर उठाए हुए हैं। आगेके पैर मुड़ हुए है। मुख और शीर्ष भाग खडित है।

चिह्न स्थल के नीचे 9 इच चौड़े और 31 इंच लम्बे पाषाण खंड पर संस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे 9 पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है जो प्रस्तुत लेख के आरम्भ मे ही बताया जा चुका है। इस अभिलेख की प्रत्येक पंक्ति एक इंच के स्थान मे है। सातवी पंक्ति का आरंभिक अंश भग्न है। अभिलेख के मध्य मे एक पुष्प अकित है। क्षेत्र के मंत्री डा० कपूरचन्द्र जी टीकमगढ़ इस अभिलेख को आज भी सुरक्षित रखे हुए है। उनका धार्मिक-स्नेह सराहनीय है'

प्रतिमा-परिचय

यह भव्य प्रतिमा 22 फुट 3 इंच ऊंचे और 4 फुट 7 इंच चौड़े देशी पाषाण के एक शिलाखण्ड से खड्गासन मुद्रा में शिल्पी पापट द्वारा निर्मित की गई थी। इसकी अंगूठे से सिर तक की अवगाहना 16 फुट 8 इंच है। आसन की नीचाई 19 इच है। आसन सहित प्रतिमा की अवगाहना 18 फुट 3 इंच है। प्रतिमा पर मटियाले रंग का चमकदार पालिश है। यह प्रतिमा भी आततायियों की क्रूर दृष्टि से ओझल न हो सकी। इसका बाहुभाग व दायां हाथ, नासिका और पैरो के अंगूठे खण्डित कर दिये गये थे जो नये बनवाकर जोड़े गए है। पं० पन्नालाल शास्त्री साढूमलवालों ने 72 तोला पन्ना प्राप्त करके पालिश करायी थी[1] किन्तु पालिश का पूर्व पालिश से मिलान नही हो सका है। जोड स्पष्ट दिखाई देते है। सिर के केश घुघराले है। हथेलियों पर कमल पुष्पों का सुन्दर अंकन हुआ है।

प्रतिमा इतनी मनोज्ञ है कि जो एक बार दर्शन कर लेता है वह आकृष्ट हुए बिना नही रहता। उसको दर्शनाभिलाषा कम नही होती। इस शताब्दी के अद्वितीय सन्त परम पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी ने इस प्रतिमा के दर्शन करके इस प्रतिमा को उत्तर भारत का गोमटेश्वर कहा था। प्रसिद्ध सन्त आचार्य विद्यासागर महाराज को आकृष्ट होकर यहां जंगल में चातुर्मास स्थापित करना पड़ा। इसकी मनोज्ञता देखते ही बनती है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वर्तमान मे यह प्रतिमा अहार (टीकमगढ़) क्षेत्र मे मन्दिर सख्या एक के गर्भालय मे विराजमान है। यह मन्दिर सर्वाधिक प्राचीन मन्दिर है। यहाँ शान्तिनाथ-प्रतिमा के विराजमान होने से यह शान्तिनाथ-मन्दिर के नाम से विश्रुत है।

यह स्थान अतीत मे वैभव और समृद्धि का केन्द्र रहा है। समय ने करवट बदली। यह जन शून्य हो गया। यहा सघन वन हो गया। जगली क्रूर पशु रहने लगे।

ईसवी 1884 मे स्व० बजाज सबदलप्रसाद जी नारायणपुर तथा वैद्यरत्न प० भगवानदास जी पठा ढड़कना (अहार का पूर्व नाम) आये। यहाँ सर्व प्रथम उन्हें लकड़हारों और चरवाहों से विदित हुआ था कि समीपवर्ती जगल मे एक टीले के खण्डहर मे एक विशालकाय प्रतिमा है जिसे लोग 'मूड़ादेव' के नाम से पूजते हैं। दोनो व्यक्ति अनेक ग्रामवासियों को लेकर वहाँ गये। मसालें जलाकर उन्होने खण्डहर मे प्रवेश किया और इस प्रतिमा

के दर्शन किये। प्रतिमा देखकर दोनों व्यक्ति हर्षविभोर हो गये। इस स्थान के विकास के लिए दोनो ने समीपवर्ती जैनो को आमन्त्रित किया और कार्तिक कृष्ण द्वितीया मेले की तिथि निश्चित की तथा मेला भरवाया। इनके मरणोपरान्त इनके पुत्रो ने क्षेत्र को सम्हाला। श्री बजाज बदलीप्रसाद जी सभापति और प० बारेलाल जी पठा मंत्री बनाये गये। ईसवी 1919 से ईसवी 1981 तक श्री पं० बारेलाल जी ने लगातार 52 तक क्षेत्र की सेवा की। क्षेत्र का बहुमुखी विकास हुआ। पं० बारेलाल जी के मरणोपरान्त उनके ज्येष्ठ पुत्र डा० कपूरचन्द्र जी टीकमगढ़ मंत्री बनाये गए जो आज भी तन मन धन से सेवा-रत है।

जहाँ यह प्रतिमा प्राप्त हुई वह स्थान 6 फुट गहरा इसमें दो प्रवेशद्वार थे। एक दरवाजे की दोनो ओर दो कमरे थे। एक कमरा बीच मे था। एक कमरे मे तलघर था। मन्दिर की चारो ओर दालान थी जिसमे तीन ओर की दालान गिर गई थी। इस खण्डहर की खुदाई मे 29 मनोज्ञ प्रतिमायें निकली थी जो क्षेत्रीय सग्रहालय मे विराजमान है।

मन्दिर की शिखर के पूर्वी भाग मे निर्मित गन्धकुटी मे खड्गासन मुद्रा मे एक प्रतिमा विराजमान है। इसके केश घुघराले है। स्कन्ध भाग से इसके हाथ खण्डित है जो बाद मे जोड़े गए है। प्रतिमा की दोनो ओर सूड उठाए एक-एक हाथी की प्रतिमा है। हाथियों के नीचे उड़ते हुए मालाधारी देवाकृतियां है। इन देवो के नीचे चमर-वाही इन्द्र सेवा मे खडे है। इन दोनो इन्द्रो के नीचे दोनो ओर एक-एक उपासकों की करवद्ध प्रतिमायें है। आसान पर अलंकरण स्वरूप पूर्व की ओर मुख किये दो सिंहाकृतियां भी अकित की गई है। चिह्न का अकन भी किया गया है किन्तु दूर से देखने के कारण पहिचाना नही जा सका। छत के पास शिखर का पूर्व-पश्चिम भाग 19 फुट 10 इंच तथा उत्तर-दक्षिण भाग 70 इच चौड़ा है। मन्दिर का निर्माण पत्थर से हुआ है।

सभवतः इस मन्दिर का निर्माण शान्तिनाथ प्रतिमा-प्रतिष्ठा काल सम्वत् 1237 मे हुआ था। प्रतिमा निर्माण के साथ-साथ इसका भी निर्माण हुआ। गल्हण इसके निर्माता थे।

प्राप्ति स्थल

यह स्थान मध्यप्रदेश के टीकमगढ जिले में टीकमगढ से 20 किलो मीटर दूर पूर्व की ओर मदनसागर के तट पर स्थित है। पक्के रोड से जुड़ा है। बल्देवगढ, छतरपुर जानेवाली बसें इसी स्थान से होकर जाती हैं।

प्रस्तुत प्रतिमालेख से ज्ञात होता है कि यह स्थान सम्वत् 1937 मे चन्देल राजा परमर्द्धिदेव के राज्य में था। इसका शासन काल ईसवी 1166 से ईसवी 1203 तक रहा बताया गया है। यह इस वश का अन्तिम महान् नरेश था। परिस्थितियो से विवश होकर ईसवी 1203 में इसने कुतुबुद्दीन ऐबक की आधीनता स्वीकार कर ली थी।

इस शासक के राज्य काल तक यह क्षेत्र समृद्धिमय बना रहा। इसके पश्चात् समय ने करवट बदली इसका पतन आरम्भ हुआ और वह इतनी पराकाष्ठा पर जा पहुचा कि लोग स्थान छोड़ने के लिए विवश हो गए। फलस्वरूप यह स्थान निर्जन हो गया। मन्दिर ध्वस्त होकर खण्डहर बन गया और नगर के स्थान मे वृक्ष हो गए। यह स्थान जगल बन गया। क्रूर पशु रहने लगे थे।

प्रकृति का नियम है कि वस्तु का समय एक-सा नही रहता। उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उन्नति होती ही है। समय आया। इस स्थान का भी परिवर्तन हुआ और इतना हुआ कि जगल म मगल हो गया।

क्षेत्र को मनोज्ञ बनाने मे वर्तमान मत्री श्री डा० कपूरचन्द्र जी और बजाज मूलचन्द्र जी नारायणपुर वालो के पूर्वजो का विशेष योगदान रहा है। साहू शान्तिप्रसाद जी ने मन्दिर का जीर्णोद्धार कराकर प्रगति में चार चाँद लगाये हैं। मंत्री डा० कपूरचन्द्र जी टीकमगढ की समर्पण भाव से की जा रही क्षेत्रीय सेवा सराहनीय है।

दानवीरों से कामना करता हू कि इस क्षेत्र को आर्थिक सहयोग देकर अपनी लक्ष्मी का उपयोग अवश्य करें। इस क्षेत्र के दर्शन और क्षेत्र को दिया गया आर्थिक योगदान विशेष पुण्यकारी होगा। अपूर्व शान्ति प्राप्त होगी ऐसा मेरा विश्वास है।

धवल पु० ४ का शुद्धिपत्र

निर्माता—जवाहरलाल मोतीलाल बकतावत; भीण्डर (राज०)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६८	१०	देवराशि	देयराशि
१६८	१५	$\text{१६}^{\text{अ}} - \text{१} = \frac{\text{२७}^{\text{२}}\ (\text{जगत्प्रतर})}{\text{१०००००}^{\text{२}} \times \text{३११६}}$	$\text{१६}^{(\text{अ-१})} = \frac{\text{२७}^{\text{२}}\ (\text{जगत्प्रतर})}{\text{१०००००}^{\text{२}} \times \text{३११६}}$
१६८	१६	$\text{४}^{\text{अ}} - \text{१}$	$\text{४}^{(\text{अ-१})}$
१६८	१९-२०	प्राप्तशलाका मान में से	× × × ×
१६८	२२	लेकर सोलह	लेकर क्षेत्रफलों का अनुपात सोलह
१६८	२८	प्रतिषु 'सुवर्णं' इति पाठ:	प्रतिषु सुण्णं इति पाठः ।
२००	२४	$=\text{२}\left[\frac{\text{१}(\text{१६न}-\text{१})}{(\text{१६}-\text{१})}\right]-\left[\frac{\text{१}(\text{४न-१})}{(\text{४}-\text{१})}\right]$	$=\text{२}\left[\frac{\text{१}\ (\text{१६}^{\text{न}}-\text{१})}{(\text{१६}-\text{१})}\right]-\left[\frac{\text{१}\ (\text{४}^{\text{न}}-\text{१})}{(\text{४}-\text{१})}\right]$
२०५	८	अउत्त ।	अउत्तं
२०५	१६	भागों से	मार्गों से
२०८	१३	राजुप्रततररूप	राजुप्रतररूप
२११	२७	योनिगती	योनिनी
			[नोट—इसी प्रकार सर्वत्र अनुवाद में 'योनिमती' का 'योनिनी' करना चाहिए]
२११	३१ (चरम)	तिर्यच	तिर्यञ्च
२१२	१५	हो जा है ।	हो जाता है ।
२१६	१०	कस्यासंख्येयभाग:	लोकस्यासंख्येयभागः
२१८	२६	स्थिर और	स्थित और
२१९	२०	पूर्वोक्त	पूर्वोक्त
२१९	२४	समुचतुरस्त्र	समुचतुरस्र
२१९	३१	वह क्षेत्र के	वह क्षेत्र
२२१	२४	लोक बाहल्य	योजन बाहल्य
२२१	३३	अ-क प्रत्यो	आ-क प्रत्योः
२२२	१६	$\frac{\text{१५७१}}{\text{२६०५६}}$ राजुप्रतर,	$\frac{\text{१५७९}}{\text{२८१२८}}$ राजप्रतर
२२२	१९	विश्कम्भ वाले	विष्कम्भ वाले
२२४	१७	नही	नहीं है ।
२२५	२८	देवों नेअगम्य	देवों के अगम्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२६	४	तदाफोसणं	तदा फोसणं ?
२२६	३२	× × × ×	१. प्रतिषु "मारणं" इति पाठः।
२२६	३१	ऊपके	ऊपर के
२३०	२७	नहीं होता है ?	नहीं होता है ?
२३१	१५	संख्यात घनांगुल प्रमाण	× × × ×
२३१	१६	संख्यात अगुल प्रमाण,	सख्यात घनांगुल प्रमाण
२३१	१७	घनांगुल बाहल्यवाला और	अंगुल बाहल्य वाला ऐसा
२३१	२५	भवनवासी देवों ने	व्यतरवासी देवो ने [क्योकि पृ. २३० की द्विचरमपंक्ति से व्यन्तरदेव प्रकृत हो गये है।]
२३३	१४	नौ योजन बाहल्य	नौ सौ योजन बाहल्य
२३६	१०	द्विदो त्ति	ट्ठिदो त्ति ।
२४३	२५	भीतर ही होने	भीतर होते
२४५	२२	साधर्म	साधर्म्य
२४८	१८	$(३\frac{७}{३})$	$(३\frac{४}{७})$
२४८	१६	$(४\frac{६}{७})$	$(४\frac{३}{७})$
२४८	२५	पृथिवों	पृथिवी
२४६	२६	विशेप	विशेष
२६४	२४	सासादनसम्यग्दृप्टि	सासादनसम्यग्दृष्टि
२६४	२५	मनुष्यों का उत्पन्न	मनुष्यों में उत्पन्न
२६७	१३	सम्यदृष्टि	सम्यग्दृष्टि
२६८	१६	भी ओघपना	भी इनके ओघपना
२६८	२५	चाहिए। तिर्यग्लोक के	चाहिए; क्योकि तिर्यग्लोक के
२६६	२	भागो चेव	भागे चेव
२६६	१३	वैक्रियिकमिश्रकाययोगी जोवो का	वैक्रियिकमिश्रकाययोगी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवों का
२७१	१	एथ वि	एत्थ वि
२७२	१८	राजुप्रतको	राजुप्रतर को
२७३	१५	दर्शना	दर्शाना
२७६	१६	मिष्यादृष्टि	मिथ्यादृष्टि
२७६	२३	अर्थात	अर्थात्
२७६	२५	अर्थात	अर्थात्
२७६	२६	आदेश मार्गणा के अन्तर्गत वेदप्ररूपणा मे	'आदेशमार्गणा के अन्तर्गत यहां वेदप्ररूपणा मे" [नोट—कोई अर्थान्तर न समझ ले इस दृष्टि से]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८१	११	जेणोघेण	जेणोघेण
२८३	६	सारिच्छेएगत्तं ?	सारिच्छो एगत्त ?
२८६	२७	क्योंकि, लब्धि के	क्योंकि, एक लब्धि के
२९२	२३	उपशमसम्यग्दृष्टि	उपशमसम्यग्दृष्टि
२९२	२३	हुई थी	हुए भी
२९२	२६	साथ उपापद	साथ उपपाद
२९३	२६	क्षेत्र परूपणा	क्षेत्रप्ररूपणा
२९६	२०	डेढ़ राजु पर समाप्त	डेढ़ राजु पर तेजोलेश्या वालों का उपपाद क्षेत्र समाप्त
२९९	१६	असंख्यातवा	असंख्यातवाँ
३०३	२२	बन जाना है।	बन जाता है।
३०३	२४	असंख्यातवा	असंख्यातवाँ
३०५	१८	छोड़कर पदों के	छोड़कर शेष पदों के
३०७	२२	उपपा पद	उपपाद पद
३०९	३	आहारएसु	अणाहारएसु
३०९	१४	सम्भवित	सम्भावित
३०९	२४	देशोना: । सयोगिकेवलिनां	देशोना: । असंयतसम्यग्दृष्टिभि: लोकस्या संख्येय भाग: षट्चतुर्दशभागा: वा देशोन: । सयोगिकेवलिनां
३१५	२१	स्वय परिणमित	स्वय (अन्यरूप) परिणमित
३२१	२१	प्रवुत्त	प्रवृत्त
३२४	२६	सादिसपर्यवासनश्चेति	सादिसपर्यवसानश्चेति।
३३२	३०	निर्जीणा:	निर्जीर्णा:
३३६	१८	कि क्षय होने वाली सभी राशियो के प्रतिपक्ष सहित पाई जाती हैं।	क्योंकि सभी राशिया प्रतिपक्ष सहित पाई जाती है।
३४५	१४	प्रतिभाग कालसहित	प्रतिभग्न होने के काल सहित
३४६	१६	'सर्वाद्धा'	"सव्वद्धा"
३५४	१६	एकसमय की	उत्कृष्टकाल की (अन्तर्मुहूर्त की)
३६५	२१	हो गया। पुन:	हो गया, अथवा
३७२	२७	मिथ्यादृष्ठे	मिथ्यादृष्टे
३८३	१८	उद्वर्तनाघात से	अपवर्तनाघात से
३८६	१०	असंखेज्जासंखेज्जाणि	असंखेज्जासंखेज्जाणो
३८६	२७	प्रतर, पल्य	प्रतरपल्य
४१७	३	पोग्गलपरियट्टेसुप्पण्णेसु	पोग्गलपरियट्टेसु पुण्णेसु [एकेन्द्रियेषु आवल्यसंख्येयभागप्रमितपुद्गलपरिवर्तन: अनन्तकालात्मक: परिभ्रमणकाल:। (दृष्यताम् पृ. ३८८ 'सूत्र १०९' इत्यस्य धवला टीका।)]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१७	१५	शेष रहने पर	पूर्ण होने पर
४२०	१६	अपने योग के	अपने गुणस्थान के
४२२	१८	मूहूर्त के	मुहूर्त के
४२२	२२	उदय में आये	उपार्जित किये
४३४	२६	प्रदेश पर	स्थान (सीमा या तल) पर
४३७	१३	और	या
४४५	६	णिरयगदीएण	णिरयगदीए ण
४४५	७	मणुसगदीएण	मणुसगदीए ण
४४५	८-९	तिरिक्खगईएण	तिरिक्खगईए ण
३४०	२८	एक जीव के सासादन गुणस्थान के	सासादनगुणस्थान के एक
४४५	१०	देवगदीएण	देवगदीए ण
४४५	२०-२१	नरक गति मे उत्पन्न कराना	नरकगति में उत्पन्न नही कराना
४४५	२२	उत्पन्न कराना	उत्पन्न नहीं कराना
४४५	२४	उत्पन्न कराना	उत्पन्न नहीं कराना
४४५	२६	उत्पन्न कराना	उत्पन्न नहीं कराना
४५६	६	सव्वजहण्णमंतोमच्छिय	सव्वजहण्णमंतोमुहुत्तमच्छिय
४६१	१३	प्रस्तार के उत्कृष्ट	प्रस्तार में उत्कृष्ट
४६१	२४	तीन अन्तर्मुहूर्तों से	तीन अन्तर्मुहूर्तों मे से
४६३	२३	उद्वर्तनाघात	अपवर्तनाघात
४६४	२४	कम अढ़ाई सागरोपम काल से अधिककाल	अधिक अढ़ाई सागरोपमकाल
४६४	2५	अढ़ाई सागरोपम काल के	विवक्षित पर्याय के
४६४	२६	पतित	पतित (हीनीकृत)
४६८	१३	वर्धमान	शका—वर्धमान
४६८	१८	शका—तेज और	तेज और
४७५	३०	गुणस्थानो का	गुणस्थानो में शुक्ललेश्या का
४७७	१८	सादि-सान्त नही है।	सादि नहीं है।
४७७	२९-३०	अर्थात् फिर तो भव्यत्व को अनादि अनन्त भी होना पड़ेगा,	अनादि-अनन्त भव्यत्व भी होना चाहिए,
४८८	३	उक्कस्सेण वे समया;	उक्कस्सेण आवलियाए असंखेज्जदिभागे। एगजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण बे समया;
४८८	५	इच्चेहि	इच्चेएहि
४८८	२८	सामान्योक्तः।	सामान्योक्तः कालः।
३३९	१६	सूत्र और आचार्यों के	सूत्राचार्यों के [कारण देखो—षट्खंडागम-परिशीलन पृ. ६९६]

॥ समाप्त ॥

गूजरी महल ग्वालियर में संरक्षित शान्तिनाथ की प्रतिमाएं

[नरेश कुमार पाठक

शान्तिनाथ इस अवसर्पिणी के सोलहवें तीर्थंकर हैं। हस्तिनापुर के शासक विश्वसेन उनके पिता और अचिरा उनकी माता थी। जैन परम्परा में उल्लेख है, कि शान्तिनाथ के गर्भ में आने के पूर्व हस्तिनापुर नगर मे महामारी का रोग फैला, इस पर इनके गर्भ में आते ही महामारी का प्रकोप शान्त हो गया। इसी कारण बालक का नाम शान्तिनाथ रखा गया। शान्तिशाथ ने 25 हजार वर्षों तक चक्रवर्ती पद से सम्पूर्ण भारत पर शासन किया और उसके बाद शान्तिनाथ को हस्तिनापुर के सहस्त्राम्र उद्यान में नन्दिवृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त हुआ सम्मेद शिखर इनकी निर्माण स्थली है।[1]

शान्तिनाथ का लांछन मृग और यक्ष-यक्षी गरूड (या वाराह) एवं निर्वाणी (या धारिणी) है। दिगम्बर परम्परा में यक्षी का नाम महामानसी है।[2]

केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ की चार दुर्लभ प्रतिमाएं संग्रहित हैं, जिन्हें मुद्राओं के आधार पर दो भागो मे बाटा जा है।

(अ) पद्मासन (ब) कायोत्सर्ग।

(अ) **पद्मासन** : पद्मासन मे निर्मित तीर्थंकर शान्तिनाथ की दो प्रतिमाएं संग्रहालय मे संरक्षित हैं। विदिशा से प्राप्त पद्म पादपीठ पर पद्मासन मे बैठे हुए शान्तिनाथ[3] का सिर टूटा हुआ है (स०क्र० 132) पादपीठ पर विपरीत दिशा में मुख किये सिंह प्रतिमा मध्य में चक्र है। दोनों ओर शान्तिनाथ का ध्वज लाछन दो हिरण प्रतिमाओं का अंकन है। 10वी शती ईस्वी की मूर्ति का पत्थर के क्षरण के कारण कलात्मकता समाप्त हो गई है।

बसई (जिला-दतिया) से प्राप्त तीर्थंकर शान्तिनाथ (स० क्र०) 763) सिंह के पादपीठ पर पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में विराजमान है। कुन्तलित केशों से युक्त उष्णीस एवं लम्बे कर्ण चाप है। ऊपर त्रिछत्र एव पीछे प्रभामंडल है, देवता के पार्श्व में ऊपरी भाग में दो जिन प्रतिमाएं कायोत्सर्ग मे एवं दो जिन प्रतिमाएं पद्मासन में अंकित है। पादपीठ पर उनके लांछन हिरण (मृग) बैठा हुआ अंकित है। लगभग 12वी शती ईस्वी की मूर्ति की कलात्मक अभिव्यक्ति कच्छपघात युगीन शिल्प कला के अनुरूप हैं।

(ब) **कायोत्सर्ग** : कायोत्सर्ग मे निर्मित तीर्थंकर शान्तिनाथ की दो प्रतिमाएं संग्रहालय मे संरक्षित है। पढावली (जिला-मुरैना) से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा में शिल्पांकित सोलहवें तीर्थंकर (स० क्र० 127) शान्तिनाथ[4] के दोनों हाथो में पूर्ण विकसित पुष्प लगे हुए हैं। सिर पर कुन्तलित केश कर्णचाप, वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन है[5] तीर्थंकर के दायें-बायें परिचारक इन्द्र आदि आंशिक रूप से खण्डित अवस्थां में अंकित है। पादपीठ पर उनका लाछन हिरण बैठा हुआ है। पादपीठ के नीचे दायें यक्ष गरूड बायें यक्षणी महामानसी है। तीर्थंकर के पार्श्व में दायें दो कायोत्सर्ग मुद्रा मे जिन प्रतिमा बाये एक कायोत्सर्ग जिन प्रतिमा का आलेखन है। 11वीं शती ईस्वी की प्रतिमा की मुख मुद्रा सौम्य एवं भावपूर्ण है।

बसई (जिला-दतिया) से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकिन तीर्थंकर शान्तिनाथ (स० क्र० 760) के सिर पर कुन्तलित केश वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न अंकित है। वितान में त्रिछत्र, ऊपरी भाग मे कायोत्सर्ग मे दो जिन प्रतिमा, पार्श्व में दोनों ओर परिचारकों का आलेखन है। पादपीठ पर विक्रम संवत् 1386) ईस्वी सन् 1259) का लेख उत्कीर्ण है। मुख मुद्रा शान्त है।

सन्दर्भ-सूची

1. हस्तीमल जैन 'धर्म का मौलिक इतिहास' खंड-1, जयपुर 1971 पृष्ठ-114-18.
2. तिवारी मारूति नन्दन प्रसाव "जैन प्रतिमा विज्ञान" वाराणसी 1981 पृष्ठ 108.
3. शर्मा राजकुमार "मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ" भोपाल 1974 पृ० 471 क्रमांक : 132 पर इस प्रतिमा को जैन तीर्थंकर लिखा है।
4. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृष्ठ 471, क्रमांक 127.
5. ठाकुर एस० आर० कैटलीग आफ स्कल्चर्स इन दी आर्केलॉजीकल म्यूजियम ग्वालियर एम० बी० पृष्ठ 22, क्रमांक 15.

केवल उपादान को नियामक मानना एकान्तवाद है

□ पं० मुन्नालाल जैन प्रभाकर

निमित्त उपादान की चर्चा न जाने कब से चली आ रही है। खानिया में अनेक विद्वानो के बीच भी चर्चा चली जिसके विषय में पं० फूलचन्द जी ने काफी प्रश्न उपस्थित किये और इनका उत्तर पं० वशीधर जी व रतनचंद जी मुख्तार साहब ने दिया परन्तु कोई समाधान नही हो सका और अब फिर एक पत्रिका मे निमित्त कुछ नही है जो कुछ होता है वह उपादान से ही होता है। इस लेख को पढकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आखिर समाधान न होने का कारण क्या है ? जिनकी धारणा बन गई है कि जो मैं जानता हूं वही सत्य है। जब तक इस धारणा को एक तरफ करके ठंडे दिल से दूसरे के विचारों को न सुनेंगे न देखेंगे और न गहराई से बिचार करेंगे तब तक वस्तु का सत्य स्वरूप समझ में नही आ सकता जैसा मोक्ष मार्ग प्रकाश पृष्ठ २१ मे कहा है कि जिस जीव का भला होनहार है उसके ऐसा विचार आये है मैं कौन हूं यह संसार का चरित्र कैसे बन रहा है ऐसे विचार से उद्यम वंत भया अति प्रीति कर शास्त्र सुने है. किछू पूछना होय तो पूछे है बहुरि गुरुनि कर कह्या अर्थ को अपने अन्तरगविषे बारम्बार विचारे है इस विचार से बस्तु का निर्णय हो है। यदि हम सच्चे, दिल से वस्तु के स्वरूप का निर्णय करना चाहते है तो हमे अपनी मान्यता का पक्ष न लेकर वस्तु के स्वरूप का बार-बार विचार करना होगा। निर्मित्ताधीन दृष्टि शीर्षक लेख में बहुत से प्रसंग तो पुराने हैं जिनके उत्तर विद्वानो द्वारा दिये जा चुके हैं जैसे मोटर पेट्रोल से नही चलती, स्त्री राग होने मे निमित्त कारण नही आदि। कुछ प्रसंग विचारणीय है उन पर विचार करते है—(१) लेख म कहा है निमित्त कर्त्ता नहीं, कराता नहीं निमित्त से होता नहीं परन्तु जिसका अवलम्बन लेकर हम कार्य करते है वह निमित्त नाम पाता है'। यहां पर निमित्त को कुछ नहीं है ऐसा दर्शाया है तथा इसी लेख मे कहा है 'पुद्गल कर्म अथवा मोहनीय कर्म में भी संसारी आत्मा को रागद्वेष रूप परिणमन करने में खिचाव की शक्ति है' ये दोनों बातें आगम के प्रतिकूल तो है ही परस्पर विरुद्ध भी है।

कर्त्ता की परिभाषा समय सार कलश ५१ में अमृत चन्द्राचार्य ने 'यः परिणमति स कर्त्ता इत्यादि' की है। इस कथन से जीव तथा पुद्गल दोनो ही कर्त्ता हैं। क्योंकि दोनो ही परिणमन करते है। तथा समय सार गाथा ८०, ८१, ८२ मे स्पष्ट बताया है कि पुद्गल के परिणमन में (कर्म रूप) जीव निमित्त है उसी प्रकार जीव भी जिसको पुद्गल कर्म निमित्त है (राग द्वेष रूप) परिणमन करता है तथा जैन सिद्धान्तप्रवेशिका में उपादान तथा निमित्त दोनो को कारण कहा है। जो पदार्थ कार्य रूप परिणमन करता है उसको उपादान कारण तथा जो उसमे सहायक होता है उसको निमित्त कारण कहा है। जीव तथा पुद्गल दोनों उपादान भी है और निमित्त भी। जब जीव कार्य रूप परिणमन करता है तब वह उपादान कारण कहलाता है और पुद्गलकर्म निमित्त कारण कहलाता है। इसी प्रकार जब पुद्गल वर्गणायें कर्म रूप परिणमन करती हैं तब पुद्गल उपादान कारण तथा जीव के राग द्वेष भाव निमित्त कारण कहलाते हैं। क्योंकि दोनो ही पदार्थ परिणमन शील है इसलिए दोनों ही उपादान है और दोनो ही निमित्त है दोनों समान है कोई कमजोर और बलवान नही है न एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का जोरावरी से कर्त्ता है इसके लिए समय सार गाथा ८० देखिए इसमें दोनों को एक दूसरे का निमित्त कारण बताया है। और जो यह कथन है कि 'पुद्गल कर्म (मोहनीय) में संसारी आत्मा को रागद्वेष रूप परिणमन करने की खिचाव शक्ति ज्यादा है ऐसा मानना जरूरी है क्योंकि सम्यग्द्रष्टी आत्मा सामायिक

के समय अपने परिणामों को संभालता है परन्तु उसके अनेक प्रकार के विकल्प उठते हैं उनका कारण मोहनीय कर्म की खिचाव की ज्यादा शक्ति है' यह भी ठीक नहीं। है। क्योंकि अगर मोहनीय कर्म की शक्ति ज्यादा है तो वह जीव शक्ति को कम करके एक दिन नाश भी कर देगा जबकि आगम में द्रव्य को नित्य कहा गया है। सम्यकद्रष्टी के सामायिक के समय ऊल-जलूल विकल्प क्यों उठते हैं इसके लिए मोक्षशास्त्र के दशमें अध्याय में कहा है जैसे कुम्हार के द्वारा घुमाये गये चाक से घुमाने की क्रिया बन्द करने के बाद भी चाक काफी देर तक घूमता रहता है उसी प्रकार यह जीव अपनी अज्ञानता के कारण से अनादि काल से पर पदार्थों के संयोग वियोग तथा उनके अनुकूल-प्रतिकूल परिणमन करता आ रहा है जिससे विकल्पों के उठने के संस्कार बहुत दृढ़ हो रहे हैं जिसको चारित्रमोह कहते है उसी चारित्रमोह के कारण से अनेक प्रकार के ऊल-जलूल विकल्प उठते है न कि मोहनीय कर्म की ज्यादा खिचाव की शक्ति से। यदि यह जीव अपने उपयोग को तत्व विचार मे लगावे तो अभ्यास करते-करते एक दिन विवेक की जागृति अवश्य हो जायेगी और ऊल-जलूल विचार आने बन्द हो जायेंगे। अन्य सभी पदार्थ अपने से भिन्न दीखने लगेंगे इसके लिए समय सार गाथा २०० में कहा है।

एवं सम्यग्द्रष्टि: आत्मानं जानाति ज्ञायक स्वभावे।
उदयं कर्म विपाक च मुंचति तत्वं विजानन्॥ २००

सम्यग्द्रष्टि अपने को ज्ञायक स्वभाव जानता है और वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ कर्म के उदय को कर्म का विपाक जान उसे छोड़ता है। जिससे आगामी कर्म बंध रुक जाता है। जब कर्म की स्थिति समाप्त होने को होती है उस समय उसमें फल देने की शक्ति प्रगट होती है जिसको कर्म का विपाक या उदय भी कहते हैं। उसके पश्चात कर्म निर्जरा को प्राप्त हो जाता है फल देकर भी और बिना फल दिये भी निर्जरा अवश्य होती है। तब कर्म के पतन को रोकने के लिए कोई समर्थ नहीं होता। यहां विशेष है कि कर्म फल जोरावरी से नहीं दे सकता यदि जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा अपने उपयोग को अपने में लगावे तो कर्म अविपाक निर्जरा को प्राप्त होगा। और यदि जीव पुरुषार्थ चूक गया तो कर्म बंध हो जायगा क्योंकि दोनों द्रव्य स्वतंत्र है एक दूसरे के साथ कोई जोरावरी नहीं कर सकता। इसी भावना के आधार पर सिद्ध पर्याप्त होती है। यहां कर्म के विपाक तथा उदय पर भी विचार करें। पुद्गल कर्मों के उदय मे जीव के विकारी भाव उत्पन्न होते हैं। राग द्वेषादि अर्थात् इच्छायें होना यह कर्म का उदय है कर्म के उदय होने पर उस इच्छा के अनुरूप परिणमन करना या न करना जीव के आधीन है। यदि इस जीव ने अपने पुरुषार्थ की शक्ति से परिणमन को रोक लिया तो आगामी कर्म बंध नहीं होगा पुद्गल कर्म उदय आकर बिना फल दिये चला जायगा जैसा आगम मे कहा है 'आतम के अहित विषय कषाय इनमें मेरी परिणति न जाय' अर्थात् इच्छाओ के उत्पन्न होने पर अपनी शक्ति के द्वारा उस परिणति को रोके तो बंध रुक जाय। और भी कहा है 'रोकी न चाह निज शक्ति खोय शिवरूप निराकुलता न जोय'।

पृष्ठ २७ पर लेख में लिखा है 'फल की प्राप्ति-उदय। यहां उदय के विषय में भी विचार करना है। उदय का अर्थ आत्मा मे विकारी भावो का अनुभव मात्र है नवीन बंध नही। नवीन बंध तो उदय के विपाक से होगा अर्थात् उदय के अनुसार परिणमन करने से। कर्म के विपाक से बंध नही। यदि जीव असावधान है तो उदय मात्र होगा और यदि विपाक के समय अपने स्वरूप मे सावधान है तो बिना उदय आये खिर जायगा, जिसे अविपाक निर्जरा कहा है। फल दो प्रकार होता है उदय को भी फल कहते हैं और नवीन बंध को फल कहते है। नवीन बंध जीव के रागद्वेष रूप परिणति का फल है और विकारी भावों का अनुभव मात्र होना पुद्गल कर्मों का फल है। इसके लिए गाथा २०० तथा कलश १३७ और दोनों टीकाओ का गहराई से अध्ययन करे।

कारण अनेक प्रकार होते हैं कुछ कारण ऐसे होते हैं जिनके होने पर कार्य हो भी और न भी हो जैसे मुनि लिंग। यदि मुनि लिंग को पहिले बाह्य परिग्रह का त्याग करके समस्त अंतरंग परिग्रह का त्याग कर दिया तब तो केवल ज्ञान रूपी कार्य हो जायगा और जब तक लेश मात्र भी अन्तरंग परिग्रह रहैगा केवल ज्ञान नहीं होगा यहां भी

समस्त सहयोगी सामग्री के सद्भाव तथा विरोधी कारण के अभाव होने का नियम है। अगर कोई दोनों द्रव्यों में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध ना मान कर केवल दो द्रव्यो की पर्यायों में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध माने तो वह आगम के प्रतिकूल होगा जैसा कि लेख में पृष्ठ २४ पर कहा है कि दो द्रव्यों मे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नही होता। पर ऐसा आगम मे कही देखने में नहीं आया क्यों द्रव्य का लक्षण सत है और सत को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त कहा है और सत का कभी नाश नहीं होता इसलिए द्रव्यों की प्रत्येक पर्यायों में सत पना मौजूद रहता है इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि दो द्रव्यो में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नही होता। ऐसा मानने से जिन पर्यायों में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध मानोगे उस समय सत का अभाव होने से द्रव्य का नाश हो जायगा जो असम्भव है इसलिए ऐसा कहना कि दो द्रव्यों में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं होता ठीक नही हैं।

जब जो कार्य होना होता है उसी समय दोनो द्रव्यों की उसी समय की अवस्थाओ का सयोग सम्बन्ध अवश्य होता है इसी को निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कहते है अकेले एक कारण से चाहे वह उपादान हो चाहे निमित्त, कार्य नही होता क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रत्येक सामग्री को असमर्थ कारण कहते है और असमर्थ कारण कार्य का नियामक नहीं है ऐसा जैन सिद्धान्त प्रवेशिका ४०५ पर देखें।

लेख में पृष्ट २३ पर ये भी कहा है कि 'यदि राग के होने में स्त्री निमित्त करता है तो स्त्री राग के मेटने में भी निमित्त हो जायगी'। ये हम पहिले कह चुके हैं कि कोई द्रव्य चाहे उपादान हो चाहे निमित्त दोनो स्वतन्त्र है ऐक दूसरे की इच्छा के आधीन नहीं। अगर पुरुष स्त्री को देख कर भोगो के चितवन मे लगता है तो राग उत्पन्न हो जायगा और यदि वही पुरुष स्त्री को देख कर संसार की असारता का विचार करता है तो वैराग्य की उत्पत्ती होगी। विचार करना इसके अपने आधीन है स्त्री की इच्छा के आधीन नहीं। और यदि किसी एक से कार्य की उत्पत्ती मानोगे चाहे वह उपादान हो चाहें निमित्त एकान्त नाम का मिथ्यात्व हो जायगा जैसा कि गोमट्टसार कर्म काण्ड गाथा ८७६ में एकांत मत के ३६३ अंगों का वर्णन किया हैं उनमें १८० क्रिया वादियों के ८४ अक्रिया वादियों के अज्ञानवादियों के ६७ तथा ३२ वैनयिकवादियों के भेदों में एक नियतवाद नाम का एकांत मत का भी वर्णन गाथा ८८२ में किया है।

लेख मे पृष्ठ २४ पर कहा है 'जीव और पुद्गल अपनी क्रियावती शक्ति से एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं तब धर्म द्रव्य स्वत: अपने आप निमित्त रूप रहता है'। यहा प्रश्न उठता है कि जब निमित्त कुछ कर्ता ही नही जैसा लेख में पृष्ठ २३ म कहा फिर निमित्त को उपस्थिति की क्या आवश्यकता पड़ी इसका यही अर्थ हुआ कि निमित्त के विना कार्य नही होता अगर निमित्त के बिना अकेले उपादान की योग्यता से ही कार्य होता है तो जीव जब समस्त कर्मों से छूट जाता है तब ऊर्ध्व गमन स्वभाव होने पर ऊपर को गमन करता है जैसा मोक्षशास्त्र के १०वें अध्याय मं कहा है तब गमन करते-करते लोक के अंत में क्यों ठहर जाता है अलोका काश मे भी क्यो गमन नहीं करता है इसका उत्तर उसी अध्याय मे दिया है धर्मास्तिकायाभावात् अर्थात् धर्म द्रव्य के अभाव मे क्रियावती शक्ति के होने पर भी निमित्त (धर्म-द्रव्य) के बिना गमन रूप कार्य नही हो सकता इससे स्पष्ट है कि उपादान तथा निमित्त दोनों के सहयोग से कार्य होता है अकेले उपादान की योग्यता से नही योग्यता तो दोनो जीव तथा पुद्गल द्रव्यों मे हमेशा होती है फिर भी धर्म द्रव्य के अभाव होने पर गमन रूप क्रिया नही होती जब भी जिस समय जो कार्य होना होता है उस समय दोनो द्रव्यो के संयोग होता है तथा विरोधी कारण का अभाव होता है जिसको समर्थ कारण कहते हैं तब कार्य नियम से होता है। भिन्न-भिन्न प्रत्येक सामग्री को असमर्थ कारण कहते हैं। असमर्थ कारण कार्य का नियामक नही है (जै० सि० प्रवेशिका ४०५) फिर अकेला उपादान कार्य का नियामक कैसे हो सकता है। समय सार की गाथा १३०-१३१ की टीका में कहा है—'यथा खलु पुद्गलस्य स्वय परिणाम स्वभावत्वे सत्यपि कारणानु विधायित्वात् कार्याणां' अर्थात् पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणाम स्वभावी होने पर भी जैसा कारण हो उस स्वरूप कार्य होता है। उसी प्रकार जीव के भी स्वयं

परिणाम स्वभावी होने पर जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है ऐसे जीव के परिणाम का तथा पुद्गल के परिणाम का परस्पर हेतुत्व का स्थापन होने पर भी जीव और पुद्गल के परस्पर व्याप्य व्यापक भाव के अभाव से कर्ता कर्म पने की असिद्धि होने पर भी निमित्त नैमित्तिक भाव मात्र का निषेध नहीं है क्योंकि परस्पर निमित्त मात्र होने से ही दोनों का परिणाम है [टीका गाथा ८१,८२] क्योंकि जिस समय जो कार्य होना होता है उस समय जीव तथा पुद्गल दोनों द्रव्यो की पर्यायो का सयोग अवश्य होता है इसी को निमित्त नैमित्तिक संबध मात्र कहते हैं। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र भी इसलिये कहा है कि कोई द्रव्य एक दूसरे पर जोरावरी नही करता जैसे सूर्योदय होने पर चकवा-चकवी स्वय मिल जाते हैं तथा सूर्यास्त होने पर बिछुड़ जाते हैं कोई अन्य उन्हे मिलाता या पृथक नहीं करता स्वय ही ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बन रहा है। कारण भी कई प्रकार के होते हैं जिनके होने पर कार्य होता ही है जैसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यकचारित्र इन तीनो की एकता होने पर केवलज्ञान रूपी कार्य होता ही है। और भी कहा है—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्सहवे ईदि वादो णियदि वादो दु ॥८८२॥

जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होता है वह उस समय उससे तैसे उसके ही होता है। ऐसा नियम से ही सब वस्तु को मानना उसे नियतवाद कहते है। आगम मे अनेको जगह ऐसा स्पष्ट कहने पर भी एक अकेले उपादान से ही कार्य की सिद्धि मानना एकान्तवाद नाम का मिथ्यात्व है। इसके अतिरिक्त ऐसा मानना भी आगम के प्रतिकूल है कि जब उपादान जिस रूप परिणमन करने के सन्मुख होता है तब वह बाहरी पदार्थों को उसी कार्य के लिए सहयोगी बना लेता है जैसा कि लेख मे पृष्ठ २६ पर कहा है। निमित्त नैमित्तिक की परिभाषा इस प्रकार है।

जिस समय जो कार्य होना होता है उसी समय वही कार्य होता है और उसी समय के दोनो पदार्थ उपादान तथा निमित्त का सयोग सम्बन्ध होता है उसी कार्य के लिए उसी समय दोनो पदार्थों की उसी समय की पर्यायो का सयोग सम्बन्ध होता है इसी संयोग सम्बन्ध को निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध कहते है गोमटसार कर्म काण्ड गाथा ८८२ बहुत खुलासा किया है इसके अतिरिक्त निमित्त-नैमित्तिक शब्द आगम में अनेकों जगह आया है तथा वर्णीजी महाराज कहा करते थे 'जो-जो भाषी बीत राग ने सो-सो होसी वीरा रे अनहोनी कबहु न होय काहे होत अधीरा रे' इस पर एक बार ईसरी में किसी ने प्रश्न कर दिया कि हम तब जाने जब इस समय अंगूर आजाय। तब वर्णीजी बोले निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध होगा तो आ जायेंगे। कोई व्यक्ति उसी समय अंगूर लेकर पहुंच गया इसका अर्थ ऐसा न करना कि वर्णीजी के कहने से आ गये यदि ऐसा अर्थ कर लिया तो एकान्त मिथ्यात्व हो जायेगा, क्योंकि ये सिद्धान्त है कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के आधीन नहीं निमित्त उपादान की चर्चा के समाधान के लिए निमित्त नैमित्तिक संबध की परिभाषा भली प्रकार समझना होगा वरना एकान्त मिथ्यात्व हो जायेगा। एक समय मे होने वाले कार्य के लिए हर समय के किसी भी उपादान निमित्त के संयोग सम्बन्ध को कार्य का नियामक मानना एकान्त ऐसा नियम से सब वस्तु के मानना मिथ्या नियतवाद है जैसा गेमटसार मे कहा है।

बहुचर्चित निमित्त उपादान के विषय मे हमारा चिंतन आगमानुरूप है। विद्वान् चिंतन करेंगे तो बहुत-सी भ्रान्तियां दूर होगी ऐसा हमें विश्वास है।

सम्पादकीय नोट : लेखक का कथन ठीक है कि इस विषय पर पहिले काफी चर्चा हो चुकी है। हमारी दृष्टि से तो जब 'जैनतत्त्वमीमांसा' और 'जैनतत्त्वमीमांसा की मीमांसा' जैसी कृतियों में निमित्त-उपादान के निष्कर्ष निकालने को पर्याप्त सामग्री (शास्त्रीय उद्धरणों सहित) देने वाले उद्भट विद्वान् तक किसी निर्णय पर एकमत न हो सके हों, तब साधारण लेखों और साधारण पाठकों की क्या बिसात? निश्चय ही यह विषय आध्यात्मिक है और पक्षपात व आग्रही बुद्धि से दूर —अपरिग्रही मन की पकड का है। देखें—कौन कितना अपरिग्रह की ओर बढ़ता है? यश-ख्याति, विवादविजयी और अहं-पुष्टि के भाव से कौन कितनी दूर रहता है?

अपरिग्रही ही आत्मदर्शन का अधिकारी

□ पद्मचन्द्र शास्त्री संपादक 'अनेकान्त'

दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द आदि ने जिनवाणी के रहस्यो को खोला और अध्यात्म का उपदेश दिया और यह सब उनके पूर्ण अपरिग्रही होने से ही सम्भव हो सका। क्योंकि परिग्रही—रागी, द्वेषी मे ऐसी सामर्थ्य ही नहीं कि वह वस्तुतत्त्व का पूरा सही-सही विवेचन कर सके। यह बात आत्म-तत्त्व के विवेचन मे तो और भी आवश्यक है। भला, जिसे आत्मानुभव न हो वह उसके स्वरूप का दिग्दर्शन कैसे करा पाएगा? फिर, जैनदर्शन में तो आत्मा को रूप, रस, गंध स्पर्श रहित—अदृश्य बताया है, उसको पकड़ बाह्य-इन्द्रियो और रागी-द्वेषी व परिग्रही मन से भी सर्वथा असम्भव है। आत्म-स्वरूप तो वीतरागता मे ही प्राप्त हो पाता है। इसलिए हमारे तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने पहिले वीतरागी होने का उद्यम किया—दृश्य संसार से मोह को छोड़ा। और दृश्य संसार से मोह के छोड़ने के लिए पहिले बारह भावनाओ के द्वारा अपने में वैराग्य समा लेने का प्रयत्न किया।

अतीत लम्बे काल से उक्त क्रम मे विपरीतपना समा बैठा है—लोग राग-द्वेषादि परिग्रह के त्याग के बिना—अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहो को समेटे हुए, अरूपी आत्मा को पहिचानने-पहिचनवाने की रट लगाए हुए स्वयं भ्रमित हैं और दूसरो को भ्रमित कर सांसारिक सुख-सुविधाओ के जुटाने मे मग्न है और लोग भी आत्मदर्शन के बहाने विषयों मे मग्न है। इस कारण जैन का जो ह्रास किसी लम्बे काल मे संभावित था वह जल्दी-जल्दी हो रहा है। थोड़े वर्षों में ही इस आत्म-दर्शन के विपरीत मार्ग ने आभ्यन्तर और बाह्य दोनो प्रकार के जैनत्व को रसातल में पहुंचा दिया—'न खुदा ही मिला न विसाले सनम, न इधर के रहे न उधर के रहे।" इन्हें आत्मा तो मिली ही नही इनका चारित्र भी स्वाहा हो गया। लोग चिल्ला रहे हैं—आज जैनी, जैनी नही रहा।

जैनियो में दो दर्जे मुख्य हैं—एक श्रावक का और दूसरा मुनि का और ये दोनों ही मुख्यत: चारित्र के आधार पर निर्भर हैं। सो लोगो ने उस चारित्र की तो उपेक्षा कर दी जो चारित्र त्यागरूप और आत्म-स्वरूप की प्राप्ति का आधार है। यदि चारित्र की मुख्यता न होती तो उक्त दोनों दर्जों का विधान भी न हुआ होता। सभी इस बात को बखूबी जानते हैं कि उक्त दोनों दर्जे न तो कोरे सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से हैं और ना ही कोरे सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से है। खेद है कि लोगो ने विपरीत मार्ग पकड़ चारित्र के बिना ही आत्म-दर्शन के गीत गाने शुरू कर दिए। जब कि यह पता ही नही लग पाता कि सम्यग्दर्शन किसे है और किसे नही? आत्मदर्शन किसे हुआ, किसे नही। हाँ, यह अवश्य हुआ कि लोग बाह्य चारित्र को दिखावा मानने के प्रति अधिक जागरूक हुए—उन्होने रागादि विकारो के हटाने की बात प्रारम्भ की। पर, रागादि हटाने के बजाय वे स्वय उनमे अधिक लिप्त होते गए। यहाँ तक कि उन्होंने आत्मा की बात करते हुए परिग्रह सचय का मार्ग अपना लिया—बहुत से आत्म-दर्शन की बात करने वाले फूटी कौड़ी के धनी भी घोर परिग्रही बन गए हों, तब भी आश्चर्य नही। जब कि आत्म-दर्शन में मिथ्यात्व व बाह्य-परिग्रह की निवृत्ति जरूरी है। इस प्रकार कुन्दकुन्द की दृष्टि म जो आत्म-धर्म अपरिग्रह रूप था वह इनके परिग्रह-सचय का व्यापार बन गया।

कहा जाने लगा कि जब तक अंतरग भावना न हो बाह्याचार कोरा दिखावा है। पर, प्रश्न होता है कि क्या अन्तर की प्रेरणा के अनुसार बाह्य-प्रवृत्ति नही होती? बाह्य करनी मे अन्तर प्रेरणा प्रमुख है—चाहे वह सरल वृत्ति मे हो या कुटिल-मायाचार रूप हो। हाँ, इतना अवश्य है कि सरल-वृत्ति शुभ और कुटिल अशुभरूप होती है। ऐसी स्थिति मे भी जो शुभ-अशुभ दोनों को हेय कहा गया है वह शुद्ध की अपेक्षा से कहा गया है और वह सर्वथा अपरिग्रह वृत्ति मे कहा गया है। जब कि आज परिग्रहियों मे शुभ और अशुभ दोनो से निवृत्ति—(वह भी परिग्रह को बढ़ाते हुए) की चर्चा चल पड़ी है यानी कीचड़ में पैर डुबाते हुए कोई शुद्ध होने की बात कर रहा हो। यही कारण है कि आज का जैन नामधारी अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के चारित्र से हीन हो गया है और जिसकी चिंता समाज मे व्याप्त हो गई है।

हमारे तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने पहिले दृश्य-रूपी पदार्थों को चिंतन का लक्ष्य बनाया—उन्होंने अनित्य आदि बारह भावनाओं के माध्यम से पर—से राग हटाया और पर-का राग छोड़ने के बाद स्व मे रह सके। यदि वे पर को अपनाए हुए स्व मे रह पाए हों तो देखें। भला, यह कैसे सम्भव था कि बाह्य मे अटका रहा जाता और अंतर में प्रवेश हो जाता? आज तो लोग अन्तर-बाहर दोनों मे एक साथ लिप्त होना चाहते है—'काम-भोग अरु मोक्ष पयानो।' सो यह कदापि सम्भव नही है।

लोग बड़ी-बड़ी चर्चाएँ करते हैं। षट्कारक, निमित्त-उपादान, अकर्तृत्व आदि जैसे कथन सामने आते है। पर, ऐसी चर्चाएं मोक्षमार्ग मे लगे उन लोगो को हितकारी हो सकती हैं जो परिग्रहो से दूर—आत्म-चिंतन मे हो। परिग्रही से ऐसी आशा नही कि वह इन चर्चाओ से सुलट सकेगा—वह तो निमित्तो मे फँसा ही रहेगा और उस कर्तृत्व बुद्धि भी बनी रहेगी। भ्रष्टता का मुख्य कारण यह भी है कि लोग चर्चाओ मे तो निमित्त को अकर्ता मानते रहे और स्वार्थपूर्ति के लिए निमित्तो को जुटाते भी रहे। ऐसे लोगो के उपदेश से लोग निमित्तो को अकर्ता मान पूजा आदि से विरक्त होने लगे और निमित्त को अकर्ता मानने वाले और व्यवहार को मिथ्या मानने वाले स्वयं पैसे और भक्त बनाने के मोह मे पंच-कल्याणक आदि निमित्तो को जुटाते रहे। इन लोगो को सोचना चाहिए था कि यदि निमित्त अकर्ता है तो ये उन्हे क्यो जुटाते रहे? प्रवचन करना, स्वाध्याय के ग्रंथ प्रचारित करना भी तो आखिर निमित्त हैं, शिविर आदि लगाना भी निमित्त हैं, फिर इनकी भरमार क्यो हो रही है? इत्यादि प्रश्न विचारणीय है?

जहाँ तक 'आचारो प्रथमो धर्मः' की बात है वहाँ यही मानना पड़ेगा कि बाह्याचार अतरंग की प्रवृत्ति को और अन्तरंग की प्रवृत्ति बाह्याचार को निमित्त है और इन निमित्तो को जुटाए बिना उद्धार नही। फिर चाहे वे निमित्तकर्ता हो या उदासीन हो—कार्य तो उन्ही के माध्यम से होगा। कदाचित् तत्त्व दृष्टि से निमित्तकर्ता न भी हो तो भी क्या? श्रावक और साधु के सभी गुण और सभी क्रियाएँ उसके पद की मापक है और वे सब निमित्त है—ऐसे मे वे कर्ता है या नही यह प्रश्न नही, प्रश्न तो यह है कि क्या वे सब गुण और क्रियाएं निःसार हैं? यदि निःसार हैं तो केवली ने इनका विधान क्यों किया? इसे विचारें। और यह भी विचारें कि यदि बाह्य क्रिया या निमित्त पहिचान का अल्प-बहुत्व भी माध्यम नहीं तो परमपद में स्थित परमेष्ठियो की पहिचान का माध्यम क्या है? आखिर साध्वाचार मे वर्णित मूलोत्तरगुण आचार ही तो है जिनसे साध्वादि की पहिचान की जाती है। यदि ऐसा नही तो हम कैसे कह सकते है कि आज श्रावक नही या मुनि नही। फलतः अन्तरंग और बाह्य दोनो को साथ लेकर चलना चाहिए।

जब हम चारित्र की बात करते है तब कई निश्चया भासियों को सन्देह हो जाता है और वे चारित्र की परिभाषा पूछते है—उनका कहना होता है कि चारित्र तो अन्तरंग ही है—बहिरंग तो छलावा भी हो सकता है। सो हम स्पष्ट कर दे कि आचार्यों ने बाह्य और अन्तरंग दोनो प्रकार के चारित्रो को चारित्र मे गर्भित किया है। आचार्य कहते हैं कि—'संसार कारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्त क्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्'—अर्थात् संसार (बंध) के कारणो से निवृत्ति की ओर लगे ज्ञानी का कर्म ग्रहण की निमित्तभूत करनी से विराम लेना सम्यक्चारित्र है।' इसमे अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की क्रियाओ से विराम लेना गर्भित है—दोनो ही एक दूसरे मे निमित्त है। अतः ज्ञानी जीव अपने ज्ञान के अनुसार दोनो से ही निवृत्त होता है। जहाँ इसका ज्ञान नही पहुचता उसका तो प्रश्न ही नही है। सो अमूर्तिक आत्मा की पकड का तो इसे प्रश्न ही नही उठता। ये तो अपने ज्ञान और इन्द्रियग्राह्यरूपी पदार्थों को पहिचानने मे समर्थ है और उन्ही को पहिचान कर बारह भावनाओ के द्वारा उनकी असारता का अनुभव कर उनसे विरक्त हो सकता है और पर से विरक्त होने पर ये स्वयं में रह सकता है जब कि आज लोग अरूपी आत्मा की पकड़ की बात करते है और दृश्य रूपी को जकड़कर पकड़े रहते हैं। ऐसा विपरीत—परिग्रह मार्ग जैन के ह्रास का कारण हुआ है परिग्रही को आत्म-दर्शन नही होता।

आज तो प्रायः ऐसा भी देखने मे आ रहा है कि लोग परिग्रह के चक्कर मे अधिक है। कुछ लोग तो अपरिग्रहियों से भी परिग्रह प्राप्त करने की कामना मे उनकी

सेवा सुश्रूषा तक को अपना धन्धा बनाए बैठे हैं—भले ही वे मानस से उनके भक्त न हों। हमे दुख का अनुभव होता है जब हम ऐसी विपरीत परिस्थितियां देखते हैं। भला, जैन सिद्धान्तानुसार जिस दिगम्बर से लोगो को दिगम्बरत्व की ओर बढ़ने की प्रेरणा लेनी चाहिए—त्याग की सीढ़ी चढनी चाहिए उस दिगम्बर के बहाने उसकी आड़ लेकर परिग्रह अर्जन कैसा ?

हमारे भाग्य से हमारे दिगम्बर मुनियो मे, अब ऐसे साधु भी विद्यमान है, जिनकी प्रखर-प्रज्ञा एवं प्रवचन शक्ति का लोहा तक माना जा रहा है, जो धर्म के स्वरूप का अपनी वाणी द्वारा, समर्थ विवेचन करते है लोगो के ज्ञान नेत्र खोलने का अपूर्व कार्य कर सकते है—ऐसे मुनियो से अपरिग्रह की ओर बढने में मार्गदर्शन लेना चाहिए—निवृत्ति की सीढ़ी पर अग्रसर होना चाहिए, न कि उनके सहारे अर्थ-यश आदि परिग्रह संजोने की बाट जोहना। जैसा कि कतिपय लोग करते है—उनके पीछे लग जाते है—जबकि दिगम्बर का घिराव नही करना चाहिए। वे 'एकाकी, पाणिपात्र, निर्जनवासी बने रहें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि दिगम्बर साधु राजर्षि नही, अपितु ऋषिराज होते है। ऋषिराज ही रहने देना चाहिए। उक्त प्रकार की सभी भावनाएँ परिग्रही मन के नहीं हो सकतीं। ये तो उसी के हो सकेंगी जो स्वयं अपरिग्रही बनने की सीढ़ी पर पग रखने का इच्छुक होगा। और ऐसा व्यक्ति क्रमश: आत्म-दर्शन का अधिकारी भी हो सकेगा।

स्मरण रहे—जैन 'जिन' से बना है और 'जिन' जीतने से बना जाता है इस धर्म मे जो श्रावक, मुनि जैसे भेद है वे भी क्रमश: जीतने के भाव मे ही हुए है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ मे क्रमश: त्यागरूप जीत होती है और परम दिगम्बरत्व मे भी त्याग की पराकाष्ठा। ऐसी स्थिति में यदि कोई इच्छा, तृष्णा, कर्म आदि पर विजय की चेष्टा न करे तो यही कहा जायगा कि 'जैसे कन्ता घर रहे वैसे रहे विदेश'—भाई, यह धर्म तो त्याग का धर्म है, इसका लाभ उन्ही को हो सकता है जो त्यागमय जीवन बिताते हो—बिताने मे प्रयत्नशील हों और जिनको मन और इन्द्रियो सम्बन्धी विषयो की अभिलाषा का स्वप्न में भी लालच नहीं आता हो। अर्थ ही नही, यश आदि के अर्जन के भाव मे भी जो धर्म सेवा के नाम पर द्राविणी-प्राणायाम किया जाता है वह भी स्व-हित में नहीं, वह भी इच्छारूपी परिग्रह का ही अंश है। उससे जन का मोह ही बढ़ता है। फलत:—धर्म सेवा भी धर्म के लिए होनी चाहिए अन्य किसी सासारिक लाभके लिए नही।

जैन के जैनत्व का माप, अपरिग्रही बनने की दिशा की मात्रा की घटा-बढी से होता है। जितनी, जैसी परिग्रह की मात्रा में कमी होगी, प्राणी उतना और वैसा ही जैनी होगा और परिग्रह की जितनी जैसी मात्रा बढ़ी होगी प्राणी उतना और वैसा ही जैन पद से पतित होगा। जैनियों मे आज तो स्थिति बिल्कुल विपरीत चल रही है, जो जितना अधिक परिग्रही है वह उतना ही बडा नेता माना जा रहा है और उसे स्वय भी ऐहसास नहीं होता कि वह जैन के स्वरूप को समझे और तदनुरूप आचरण करे। ठीक ही है, जब लोगों का स्वयं लक्ष्मी, वैभव आदि परिग्रह मे आकर्षण हो और वे परिग्रही को नेतापद प्रदान करे तो परिग्रही को क्या आपत्ति ? आखिर, महिमा चाहना तो ससारी मोही जीव का स्वय का वैभाविकभाव है—जिसकी उसे पहिचान नही।

हमारे कथन से लोग सर्वथा ऐसा न मान लें कि हमारे सकेत बाह्य में अति सम्पदा-वैभवशालियो के प्रति ही है। सो ऐसा सर्वथा ही नही है। हमारा मन्तव्य है कि बाह्य वैभव में राग, तृष्णा और अधिक बढ़वारी के प्रति आकर्षण न होना भी अपरिग्रही की श्रेणी में बढ़ने का लक्षण है और आचार्यों ने इस पर विशेष जोर भी दिया है। वैसे भी यदि अन्तरग पर विजय है तो बहिरंग मे अपरिग्रहीपन अवश्य होगा। ऐसे जीव का आचरण 'जल मे भिन्न कमलवत्' होगा—न उसे विशेष धन अथवा यश की चाहना होगी और न ही वह विभिन्न द्राविड़ी प्राणायाम ही करेगा। वह तो होते हुए भी परिग्रहो से उदास ही रहेगा और उसके उदास रहने का क्रम यदि जारी रहे तो एक समय ऐसा भी आएगा कि वह अपने में रह सके। बिना अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह के त्यागके आत्मोपलब्धि के गीत गाना भूसे को कूट कर चावल निकालने की भाँति है। इसीलिए कहा है कि अपरिग्रही ही आत्म-दर्शन का अधिकारी है। आज परिग्रह को आत्मसात् किए आत्मा की जो रटन लगाई जा रही है वह सर्वथा निष्फल और चारित्रघातक सिद्ध हुई है—छलावा है। (क्रमश:)

जरा-सोचिए !

१. दि० महावीर के प्रति ऐसी बगावत क्यों ?

हम वर्षों से लिखते आ रहे हैं, कि दिगम्बर जैन धर्म अपरिग्रह प्रधान धर्म है। इसमें अन्तरंग-बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रह से रहित ही मुक्ति का पात्र होता है। इस तथ्य को न समझने वाले कई अजान, समानाधिकार की बात उठाकर स्वयं भ्रमित होते है और दूसरो को भी मार्गच्युत कराने के साधन जुटाते है।

जैसी कि सूचना है उस दिन एक दि० शिक्षण शिविर-समापन समारोह मे कैलाशनगर की भरी सभा मे 'मां श्री'' के सबोधन युक्त दिगम्बरमतावलम्बी ब्र० श्री कौशल-कुमारी बोल उठी जैसे वे नही, अपितु कोई भ० रजनीश बोल रहे हो। आश्चर्य कि उस सभा मे दि० जैन समाज के नामधारी अनेक नेता बैठे-बैठे सब सुनते रहे और किसी से प्रतिवाद करते न बना, अब हमे विरोध मे लिखने को कह रहे हैं ? जब कुछ नेताओं से हमारी बात हुई तो पछता रहे थे कि यह तो बुरा हुआ जो श्री कौशल जी ने भ० महावीर को अन्यायी कहकर लल-कारा। प्रकारान्तर से उन्होने सवस्त्र और स्त्रीमुक्ति की पुष्टि कर दी, आदि।

ब्र० कौशल जी का मन्तव्य था कि भ० महावीर ने स्त्रीमुक्ति का निषेध कर बडा अन्याय किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि मैं आगम के विरुद्ध बोल रही हू। उन्होंने कहा कि क्या यह न्याय है कि एक चिरकाल-दीक्षित आर्यिका किसी नवीन दीक्षित मुनि को नमस्कार करे; आदि।

उक्त बातें दिगम्बर मान्यता के विरुद्ध हैं और किसी त्यागी को नही कहनी चाहिए। जो श्री कौशल जी ने भरी सभा में कही। इससे तो दि० मान्यता के विरुद्ध ही प्रचार हुआ। यदि उन्हें शका थी तो किसी विद्वान् से चर्चा कर लेनी थी।

कमल को पंकज कहा जाता है, वह पंक (कीचड़) से उत्पन्न होता है। वह देखने में सुन्दर, स्पर्श में कोमल, सूंघने में सुगन्धित होता है। उसे सभी जगह सन्मान मिलता है। क्या कभी कमल की मां कीचड को ऐसा सौभाग्य मिला है ? पृथ्वी को रत्नगर्भा कहा जाता है। उससे रत्न, हीरे आदि जन्मते है। वे अत्यन्त कान्तिमान होते हैं, और उसके छोटे टुकड़े का भी बहुमूल्य आंका जाता है। क्या कभी पृथ्वी के बड़े खण्ड को भी ऐसा सुयोग प्राप्त होता है ? भले ही मां तीर्थंकर को जन्म देती हो तब भी वह उनकी तुलना नही कर सकती—सब की अपनी पृथक्-पृथक् योग्यता है जैसे पुरुष कभी बच्चे को अपने गर्भ से जन्म नही दे सकता, आदि।

स्त्री की मुक्ति में उसका परिग्रह बाधक है। वह कभी भी पूर्ण अपरिग्रही नही हो सकती—भीतर और बाहर नग्न नही हो सकती। ब्र० कौशल जी तो स्वयं स्त्री जाति हैं, क्या किसी स्त्री ने कभी खुले रूप में नग्न रूप में विचरण की कोशिश की, साडी जैसे बाहर परिग्रह को छोड़कर देखा ? स्त्री जाति मे लज्जा और भय दोनो ऐसी कमजोरियाँ हैं जो उसे महाव्रत धारण नही करने देतीं ? उसे सदा-सदा रक्षा की जरूरत है। यदि वह निर्भय होकर विचरण की बात करे तब भी नही बनती; वह तो स्वाभाविक बात है। वैसे भी नारी जाति स्वभा-वतः मोहक शक्ति है। बाजारों गलियों और मुहल्लों में वस्त्राच्छादित नारी भी मनचलों को लुभा लेती है तब परिग्रह रहित नग्ननारी कैसे सुरक्षित रह सकती है ? सुरक्षित रहना उसके बस की बात नहीं; वह परायों के आधीन है। दुर्भाग्य से यदि कोई दुर्घटना हो जाय तो नारी को नव-मास और उससे आगे भी घोर-परिग्रह के जंजाल में फंसना तक संभव है। क्या करें, उसके शरीर की बनावट और शक्ति ही ऐसी है जो उसे अपरिग्रही नही होने देती और बिना पूर्ण-अपरिग्रही हुए मुक्ति नहीं

होती। नारी के गुप्त अंगों में सदाकाल असंख्यातजीवों की उत्पत्ति होती रहती है।

भ० महावीर को अन्यायी कहना सर्वथा ब्रह्मचारिणी जी के अहम्भाव का सूचक है—भ० महावीर की वाणी से तो वह वस्तु-स्थिति ही प्रकट हुई—जो पूर्व तीर्थंकरों ने कही। ये ही बातें अर्जिका को मुनि से छोटा दर्जा देती हैं। आश्चर्य, कि मुनि को नमस्कार करने न करने की जो बात माता श्री ज्ञानमती को स्वयं आज तक न सूझी वह कुमारी कौशल जी को सहसा कैसे सूझ गई? कहीं यह दिगम्बरों के प्रति बगावत का चिह्न तो नहीं?

कुमारी कौशल जी को सुना जाता रहा है कि उन्हें कट्टर श्रद्धा और परिपक्व ज्ञान है। उनके उक्त महावीर के प्रति बगावत करने के बयानों से तो ऐसा नहीं लगा। उन्होंने तो स्वयं कहा कि—मैं आगम के विरुद्ध बोल रही हूं'। आखिर, यह सब क्यों? यह उन्हें और विचारकों को स्वयं सोचना है। और यह भी सोचना है कि क्या किसी दि० त्यागी द्वारा खुले रूप में ऐसे बयान दिए जाना धर्म के प्रति बगावत नहीं? जब कि हमे तो दि० आगम ही प्रमाण है।

२. आत्मा को देखने दिखाने वाले जादूगर :

अर्सा हुआ जब परिग्रह को आत्मसात् करते हुए आत्मोपलब्धि की बात करने वाले किसी पन्थ का जन्म हुआ। भोले लोग बिना तप-त्याग के ही आत्मोपलब्धि जान, खुश हो गए—बातों की ओर दौड़ पड़े। नतीजा सामने है—उन्हें आत्मा तो मिली नहीं; उनमें कितने ही परिग्रह के पुंज अवश्य हो गए।

जैनियों में आत्मोपलब्धि के लिए बारह भावनाओं पर जोर दिया गया है, सभी महापुरुषों ने इनका चिंतवन कर ही वैराग्य लिया है। अब तक की सभी रचनाओं में इन्हीं की रचना अधिक संख्या में हुई हैं। ५१ प्रकार की बारह भावनाएँ तो हमने देखी हैं—कुन्दकुन्दादि की 'वारसाणु-बेक्खा' आदि तो इस गणना से पृथक् हैं।

आत्मा जैसा अरूपी द्रव्य केवल ज्ञानगम्य है और केवलज्ञान दिगम्बरत्व की पूर्ण साधना द्वारा, घातिया कर्मों के क्षय पर होता है। फलतः—आत्मोपलब्धि के लिए पूर्ण दिगम्बरत्व-अपरिग्रहत्व की प्राप्ति आवश्यक है। और अपरिग्रहत्व के लिए बारस-भावनाओं द्वारा पर-स्वभाव का चिन्तन (अनित्यादि विचार) आवश्यक है। "पर" से राग छूटते ही आत्मोपलब्धि होती है किसी जादूगर के उपदेश से आत्मोपलब्धि सर्वथा ही अशक्य है।

जैसे जादूगर के जादू से जादूगर स्वयं प्रभावित नहीं होता—जादू की बनावट जानता है, धन्दा चलाने के लिए जादू को अपनाता है। वैसे ही आत्मोपलब्धि की राह दिखाने की बात करने वाले कई जादूगर अपनी यश-ख्याति आदि के लिए इस धन्दे में लगे हैं—उन्हें आत्मोपलब्धि से क्या? अन्यथा, उनमे कोई तो परिग्रह से दूर हुआ होता, क्रमशः परिग्रह के कम करने में लगा होता या सच्चा मुनि बना होता। ठीक ही है—जादूगर को जादू से काम-धन्दा चलाने से काम—उसे आत्मोपलब्धि से क्या और अपने जादू से प्रभावित होने से क्या?

—संपादक

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Nev sr aper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४४ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९९१

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	सम्बोधन	१
२.	तत्त्वार्थवार्तिक में प्रयुक्त ग्रन्थ —डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर	२
३.	कर्नाटक में जैनधर्म—श्री राजमल जैन, दिल्ली	६
४.	केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल में सुरक्षित प्रतिमाएं —डा० नरेश कुमार पाठक	१२
५.	अचर्चित भक्त कवि हितकर और बालकृष्ण डा० गंगाराम गर्ग	१३
६.	तीर्थराज सम्मेद शिखर इतिहास के आलोक में —डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	१५
७.	देवगढ़ पुरातत्त्व की संभाल में औचित्य —श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली	१८
८.	आध्यात्मिक दो पद	२०
९.	साक्षी भाव—श्री बाबूलाल जैन	२१
१०.	आचार्य जिनसेन की काव्य कला —जस्टिस एम० एल० जैन	२२
११.	आचार्य कुन्दकुन्द की पाण्डुलिपियों की खोज —डा० ऋषभचन्द जैन फौजदार	२५
१२.	अपरिग्रही ही आत्म-दर्शन का अधिकारी —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री 'सम्पादक'	२७
१३.	देखो, कहीं श्रद्धा डगमगा न जाय —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली	३०
१४.	श्रद्धांजलि	कवर पृ० २

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्व० पं० श्री फूलचन्द्र सिद्धान्ताचार्य के प्रति

श्रद्धाञ्जलि:

मैं तो कांटों में रहा, और परेशां न हुआ :

फूलों में फूल गुलाब है जो कांटों में फूलता और स्वयं मुस्कुरा दूसरों को प्रसन्नता का उपहार देता है। ऐसे ही थे—स्व० पं० श्री फूलचन्द्र सिद्धान्ताचार्य; जो जीवन भर अपनी ज्ञानाराधना के बल पर भौतिक अभावों से जूझते-जूझते ज्ञान में ही विलीन हो गए। उनके अन्तिम दिनों में भी वे धवला के विशद-विवेचन करने जैसी अपनी इच्छा को रटते रहे—'बेटा अशोक, अभी धवला के कार्य की साध हमें शेष है, स्वस्थ हों तो इस कार्य को करें।' ठीक ही है--पंडित जी अपने जीवन में सदा से **'जिनवाणी की रटन हो, जब प्राण तन से निकलें'** के मूर्तरूप थे।

वे दिन कभी भुलाए न जाएँगे जब पंडित जी ने जिनवाणी की रक्षा में अपनी आजीविका की परवाह किए बिना 'धवला' में त्रुटित 'संजद' पद को सम्मिलित कराने के प्रसंग को छेड़ा और आगे बढ़ाया तथा उसे जुड़वा कर ही चैन की साँस ली। 'संजद' के प्रसंग में समाधिस्थ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्ति सागर जी महाराज का निम्न आशीर्वचन पंडित जी की विजय का स्पष्ट शंख नाद है—'अरे जिनदास, धवलातील ९३वें सूत्र भाव स्त्रीचें वर्णन करणारें आहे व तेथें 'संजद' शब्द अवश्य पाहिजे असें वाटतें।'

स्मरण रहे उक्त प्रसंग में पंडित जी को सर्विस छुटने जैसा तीव्र काँटा लगा और वे मुस्कुराते रहे।

खुदा बख्शे बहुत सी खूबियां थीं, जाने वाले में :

स्व० पंडित जी पक्के सुधारवादी थे। दस्सा पूजाधिकार दिलाने, 'वर्ण जाति और धर्म' जैसी पुस्तक लिखकर अन्तर्जातीय विवाह, समानाधिकार आदि का शंखनाद फूंकने वाले व फिजूलखर्ची जैसी गजरथादि प्रतिष्ठाओं के विरोधियों में उनका प्रमुख हाथ था। धवला, जयधवला, महाबंध आदि खण्डों का विस्तृत भाषान्तर और 'जैन तत्त्व मीमांसा' जैसी कृतियाँ उनके तत्त्वज्ञान का सदा सदा स्मरण कराती रहेंगी।

फल कुछ भी रहा हो पर, खानियाँ तत्त्वचर्चा के माध्यम ने उनके तत्त्वज्ञान के लोहे को जगजाहिर कर दिया। उनकी 'अकिंचित्कर एक अनुशीलन' जैसी अन्तिमकृति भी चिर-चिन्तनीय बनकर रह गई है।

देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में भागीदार और स्वतंत्रता के दीवाने होने से वे अपने भौतिक-शरीर में भी कैद न रह सके और धर्म-ध्यान पूर्वक शरीर से छूट गए। उनमें बहुत-सी खूबियाँ थीं। 'वीर सेवा मन्दिर' ऐसे महामना की आत्मिक सद्‌गति, हेतु कामना करते हुए उन्हें सादर श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

सुभाषचन्द्र जैन
महासचिव
वीर सेवा मन्दिर

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

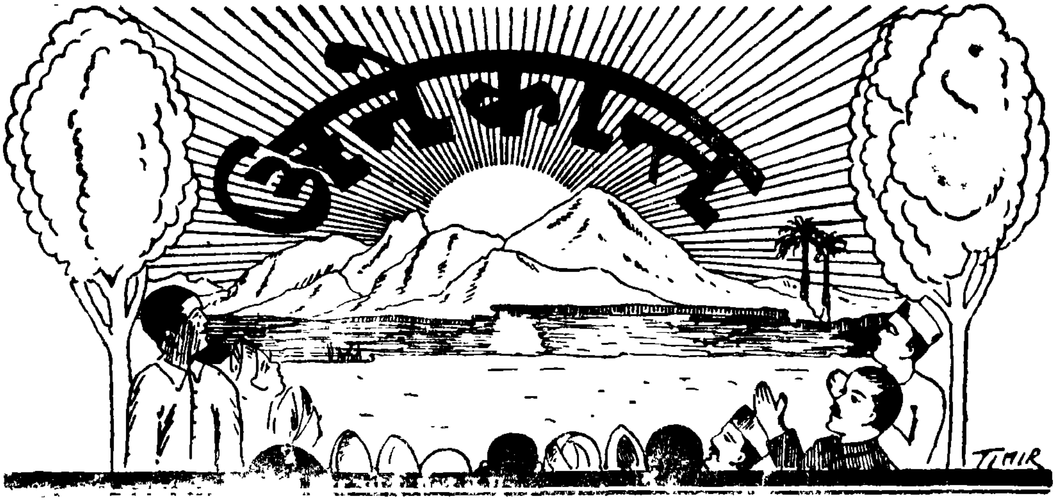

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४४ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | जुलाई-सितम्बर
वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० स० २०४८ | १९९१

सम्बोधन

कहा परदेसी को पतियारो ।
मन मानै तब चलै पंथ कों, साँझि गिनै न सकारो ।
सबै कुटुम्ब छाँड़ि इतही, पुनि त्यागि चलै तन प्यारो ॥१॥
दूर दिसावर चलत आपही, कोउ न राखन हारो ।
कोऊ प्रीति करौ किन कोटिक, अंत होयगो न्यारो ॥२॥
धन सौं रुचि धरम सों भूलत, झूलत मोह मझारो ।
इहि विधि काल अनंत गमायो, पायो नहिं भव पारो ॥३॥
साँचे सुख सौं विमुख होत है, भ्रम मदिरा मतवारो ।
चेतहु चेत सुनहु रे 'भैया', आप ही आप संभारो ॥४॥
कहा परदेसी को पतियारो ॥

गरब नहिं कीजै रे ए नर निपट गँवार ।
झूंठी काया झूंठी माया, छाया ज्यों लखि लीजै रे ।
कै छिन साँझ सुहागरु जोबन, कै दिन जग में जीजै रे ॥
बेगहि चेत बिलम्ब तजो नर, बंध बढ़ै थिति कीजै रे ।
'भूधर' पल-पल हो है भारी, ज्यों-ज्यों कमरी भीजै रे ॥

卐卐

गतांक से आगे :—

तत्त्वार्थवार्तिक में प्रयुक्त ग्रंथ

□ डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

तत्त्वार्थवार्तिक के पंचम अध्याय के ४२वें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि कोई (तत्त्वार्थाधिगम भाष्य-कार) धर्म, अधर्म, आकाश और काल मे अनादि परिणाम और जीव तथा पुद्गल में सादि परिणाम कहते हैं। उनका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि सभी द्रव्यों को द्रव्यात्मक मानने से ही उनमें सत्त्व हो सकता है। अन्यथा द्रव्यों मे नित्य अभाव का प्रसङ्ग आता है, इनको कैसे ग्रहण करना चाहिए।[1]

'शुभ विशुद्ध मव्याघाति' आदि सूत्र के भाष्य में शरीरों मे संज्ञा, लक्षण आदि से भेद बतलाया है। अकलङ्कदेव ने उनका विस्तृत विवेचन किया है। 'सम्यग्दर्शन' आदि सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने 'पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्', उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः, लिखा है। अकलङ्कदेव ने उन्हे वार्तिक बनाकर उनका आशय स्पष्ट किया है। दग्धे 'बीजे यथात्यन्त' आदि पद्य भी उद्धृत किया है, जो भाष्य मे पाया जाता है तथा ग्रन्थ के अन्त में 'उक्त च' करके कुछ श्लोक दिए हैं, जो भाष्य में मिलते है।[1]

सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद देवनन्दि की सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति को अन्तर्भूत करके अकलङ्क ने अपने तत्त्वार्थ-वार्तिक ग्रन्थ की रचना की है। उसकी बहुत सी पंक्तियो को वार्तिक बना लिया है। बहुत-सी पंक्तियों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके वार्तिक बना लिया है। जैसे—

सर्वार्थसिद्धि	तत्त्वार्थवार्तिक
चेतनालक्षणो जीव: १।४	चेतनास्वभावत्वाद्विकल्पलक्षणो जीव. १।४।१४
तद्विपर्ययलक्षणोऽजीव: १।४	तद्विपरीतत्वादजीवस्तदभावलक्षण: १।४।१५
शुभाशुभकर्मागमद्वार रूप आस्रव: १।४	पुण्यपापागमद्वारलक्षणः आस्रवः १।४।१६
आत्मकर्मणोन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः १।४	आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बन्धः १।४।१७
आस्रवनिरोधलक्षण: सवर: १।४	आस्रवनिरोधलक्षण: संवर: १।४।१८
एकदेशकर्मसक्षयलक्षणानिर्जरा १।४	एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा १।४।१९
कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः १।४	कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्ष: १।४।२०

सर्वार्थसिद्धि मे जहां बात संक्षेप मे कही गई है, वहा तत्त्वार्थवार्तिक मे विस्तार पाया जाता है। विस्तार मे पहुंचने पर अकलङ्कदेव की प्रौढ़ शैली के दर्शन होते है। सर्वार्थसिद्धि की एक एक पंक्ति के हार्द को खोलने में तत्त्वार्थवार्तिक का अध्ययन अत्यावश्यक है। उदाहरणार्थ उपर्युक्त निर्जरा के लक्षण को समझाते हुए वे कहते है—पूर्व सचित कर्मों का तपोविशेष का सन्निधान होने पर एकदेश क्षय होना निर्जरा है। जैसे मन्त्र या औषधि आदि से नि:शक्ति किया हुआ विष दोष उत्पन्न नहीं कर सकता, वैसे ही सर्वविपाक और अविपाक निर्जरा के कारणभूत तपोविशेष के द्वारा निरस्त किए गए व नि:शक्ति हुए कर्म ससार चक्र को नही चला सकते।[3]

दार्शनिक और व्याकरणिक प्रसङ्गो पर भी सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा वार्तिककार ने विस्तृत ऊहापोह किया है।

आप्तमीमांसा—तत्त्वार्थवार्तिक के दूसरे अध्याय में औदारिक शरीर रूप कार्य की उपलब्धि होने से कार्मण शरीर का अनुमान लगाया गया है। हेतु के रूप में आप्त-मीमासा की ६८वीं कारिका के अश 'कार्यलिङ्ग हि कारणम्' को उद्धृत किया है। पूरी कारिका इस प्रकार है—

कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्ति: कार्यलिङ्गं हि कारणम्।
उभयाभावतस्तस्थ गुण जातीतरच्च न ॥६८॥

छठे अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में तत्त्वार्थ-वार्तिक मे कर्म शब्द के अकलङ्कदेव ने अनेक अर्थ सप्रमाण बतलाए हैं। कहीं पर कर्त्ता को इष्ट हो वा कर्त्ता जिसको

करता हो, उसे कर्म कहते है। जैसे— 'घट करोति' घट को करता है, यहां कर्म शब्द का अर्थ कर्मकारक है। कही पुण्य-पाप अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग होता है। जैसे— 'कुशलाकुशलं कर्म' यहा कर्म शब्द का अर्थ पुण्य एव पाप है। कहीं क्रिया अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन ये कर्म हैं। यहां कर्म शब्द का क्रिया अर्थ विवक्षित है।

उपर्युक्त कुशलाकुशल कर्म का उदाहरण आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमासा की ८वी कारिका मे दिया है। पूरी कारिका इस प्रकार है—

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्त-ग्रहरक्तेषु नाथ स्व-पर वैरिषु ॥८॥

युक्त्यनुशासन— संवेदनाद्वैत के खण्डन मे अकलङ्क-देव ने समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन की निम्नलिखित कारिका का सहारा लिया है—

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र तल्लिङ्गगम्यं न तदर्थलिङ्गम्।
वचो न वा तद्विषयेण योगः कातद्गतिः कष्टमशृण्वतां ते ॥

युक्त्यनुशासन - २२

जहां प्रत्यक्षबुद्धि का प्रवेश नही है अर्थात् जो संवेदनाद्वैत प्रत्यक्षबुद्धि (ज्ञान) का विषय नहीं है, वह अनुमान-गम्य और अर्थरूप, लिङ्गरूप, वचनगम्य भी नहीं हो सकता और जिसके स्वरूप की सिद्धि वचनो के द्वारा नहीं है, उस संवेदनाद्वैत की क्या गति होगी? वह कष्ट से भी श्रवणगोचर नही है, अतः त्याज्य है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार के ८६वें श्लोक मे कहा है -

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृताविरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति ॥८६॥

जो अनिष्ट है, वह छोड़ और जो उत्तम कुल के सेवन योग्य नहीं, वह भी छोड़े; क्योंकि योग्य विषय से अभि-प्रायपूर्वक की हुई विरक्तता ही व्रत है।

अकलङ्कदेव ने व्रत की परिभाषा उपर्युक्त अभिप्राय से प्रभावित होकर की है। उनके अनुसार—'व्रतमभि-सन्धिकृतो नियमः[1]' अर्थात् अभिसन्धिकृत नियम व्रत कह-लाता है। बुद्धिपूर्वक परिणाम या बुद्धिपूर्वक पापों का त्याग अभिसन्धि है।

षट्खण्डागम—तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के ३०वें सूत्र की व्याख्या मे षट्खण्डागम की निम्नलिखित पक्ति उद्धृत है—

'पञ्चेन्द्रिय असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिनः'

अर्थात् असज्ञी पचेन्द्रिय से लेकर अयोगकेवली पर्यन्त पचेन्द्रिय है।

तत्त्वार्थवार्तिक के दूसरे अध्याय के ४६वे सूत्र की व्याख्या मे शङ्काकार ने शङ्का उठायी है कि षट्खण्डागम जीवस्थान के योगभङ्ग प्रकरण मे सात प्रकार के काययोग स्वामी प्ररूपण मे औदारिक काययोग और औदारिक मिश्र काययोग तिर्यञ्च और मनुष्यो के होता है। वैक्रियिक काययोग वैक्रियिक मिश्रकाययोग देव, नारकियो के होता है, ऐसा कहा है।[1] परन्तु यहां तो तिर्यंच और मनुष्यो के भी वैक्रियिक शरीर का विधान किया है—इससे आर्ष-ग्रन्थों मे परस्पर विरोध आता है।

इस शका के समाधान में कहा गया है कि यह विरोध नही है; क्योंकि अन्य ग्रन्थो मे इसका उपदेश पाया जाता है। जैसे—व्याख्याप्रज्ञप्ति दंडक के शरीर भंग मे वायु-कायिक के औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण ये ४ शरीर कहे है। मनुष्यो के पांच शरीर बतलाए है—

"अणुदिस जाव अवराइदविमाणवासियदेवाणमंतर केवचिर कालदो होदि? जहण्णेण वासपुधत्त। उक्कस्सेण बे सागरोवमाणिसादिरेयाणि ॥"

- षट्खण्डागम-खुद्दाबन्ध २।३।३०-३२

'द्व्यधिकादिगुणानां तु' सूत्र की व्याख्या मे उक्त च कहकर षट्खण्डागम की निम्नलिखित गाथा दी गई है—

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा[1] ॥

अर्थात् स्नेह का दो गुण अधिक वाले स्नेह से या रूक्ष से, रूक्ष का दो अधिक गुण वाले रूक्ष या स्निग्ध से बन्ध होता है। जघन्य गुण वाले का किसी भी तरह बन्ध नही हो सकता। दो गुण अधिक वाले सम (दो, चार, चार, छह आदि का) और विषम गुण वाले (तीन, पाच, सात आदि) का बन्ध होता है।

'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ' पाठ को आर्षविरोधी दिखलाते हुए तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है—वर्गणा मे बन्ध-

विधान के नो आगम बन्ध विकल्पसादि वैस्रसिक बन्ध निर्देश में कहा है कि विषम स्निग्धता और विषम रूक्षता में बन्ध और समस्निग्धता और समरूक्षता मे भेद होता है।[5] इसके अनुसार ही 'गुणसाम्ये सदृशानाम्' यह सूत्र कहा गया है। इस सूत्र में जब सम गुण वालों के बन्ध का प्रतिषेध कर दिया है, तब बन्ध में सम भी पारिणामिक होता है, यह कथन आर्षविरोधी होने से विद्वानों को ग्राह्य नहीं है।

भगवती आराधना—तत्त्वार्थवार्तिक के छठे अध्याय के १३वें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि यद्यपि संघ समूहवाची है, फिर भी एक व्यक्ति भी अनेक गुण का धारक होने से एक के भी संघत्व की सिद्धि होती है। इसकी सिद्धि मे भगवती आराधना की निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है—

संघो संघगुणादो कम्माण विमोयदो हवदि संघो।
दंसणणाणचरित्ते संघादित्तो हवदि संघो॥ भ० आ० ७१४

अर्थात् गुणसंघात को संघ कहते है। कर्मों का नाश करने और दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र का संघटन करने से संघ कहा जाता है।

मूलाचार—तत्त्वार्थवार्तिक के सातवें अध्याय के ग्यारहवें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि सत्त्वादि में मैत्री आदि भावना यथाक्रम आनी चाहिए। जैसे—

क्षमयामि सर्वजीवान् क्षाम्यामि सर्वजीवेभ्यः।
प्रीतिर्मे सर्वसत्त्वैः वैरं मे न केनचित्॥

उपर्युक्त पद्य मूलाचार की निम्नलिखित गाथा का संस्कृत रूपान्तर है—

खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झंण केण वि॥ मूला. गा. ४३

अर्थात् मैं सब जीवों के प्रति क्षमाभाव रखता हूं, सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों से प्रीति है, किसी के साथ वैरभाव नहीं है।

तत्त्वार्थवार्तिक के ९वें अध्याय के सातवें सूत्र की व्याख्या मे मूलाचार की निम्नलिखित गाथा उद्धृत की गई है—

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण[6]॥ मूला.गा. १२०४

अर्थात् एक निगोद के शरीर में द्रव्यप्रमाण से जीवों की संख्या सिद्धों की संख्या से और अतीतकाल के सर्व समयों की संख्या से अनन्तगुणी है।

सन्मति तर्क—आचार्य सिद्धसेन के सन्मति तर्क की निम्नलिखित गाथा तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के २६वें सूत्र में प्राप्त होती है—

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागोदु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो॥२।१६

शब्दों के द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थों से वचनातीत पदार्थ अनन्तगुने हैं अर्थात् अनन्तवें भाग पदार्थ प्रज्ञापनीय है और जितने प्रज्ञापनीय हैं और जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ है, उसके अनन्तवे भाग पदार्थ श्रुत में निबद्ध होते हैं[7]।

जम्बूद्वीप पण्णत्ती—तत्त्वार्थवार्तिक मे 'उक्तं च' करके एक गाथा उद्धृत की गई है, जो जम्बूद्वीप पण्णत्ती मे मिलती है—

णवदुत्तरसत्तसया दससीदिच्चदुतिगं च दुगचदुक्कं।
तारारविससिरिक्खा बुधभग्गवगुरु अंगिरा रसणी॥
ज. प. १२।९३

अर्थात् इस भूतल से सात सौ नव्वे योजन पर तारा, उससे दस योजन पर सूर्य, उससे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा, उससे तीन योजन पर नक्षत्र, उनसे तीन योजन ऊपर बुध, उससे तीन योजन ऊपर शुक्र, उससे तीन योजन ऊपर बृहस्पति, उससे चार योजन ऊपर मंगल और उससे चार योजन ऊपर शनैश्चर भ्रमण करता है।

यह गाथा सर्वार्थसिद्धि में भी उद्धृत की गई है।[8]

सौन्दरनन्द—तत्त्वार्थवार्तिक में प्रश्न किया गया है कि जैसे तेल, बत्ती और अग्नि आदि सामग्री से निरन्तर जलने वाला दीपक सामग्री के अभाव मे किसी दिशा या विदिशा में न जाकर वहीं अत्यन्त विनाश को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार कारणवश स्कन्धसन्तति रूप से प्रवर्तमान स्कन्धसमूह जीव व्यपदेशभागी होता है अर्थात् जिसे जीव कहते हैं, वह राग द्वेषादि क्लेशभावों के क्षय हो जाने से दिशा और विदिशा मे न जाकर वहीं पर अत्यन्त प्रलय को प्राप्त हो जाता है। इसके उत्तर में अकलङ्कदेव ने कहा है कि प्रदीप का निरन्वय नाश भी असिद्ध है, क्योंकि

प्रदीप पुद्गल है। वह पुद्गल जाति को न छोड़कर परिणामवश (परिणमन के कारण) मषि (राख) भाव को प्राप्त होता है। अतः दीपक की पुद्गल जाति बनी रहती है, अत्यन्त विनाश नहीं होता है। उसी प्रकार मुक्तात्मा का भी विनाश नहीं होता"।

उपर्युक्त प्रश्न बौद्ध महाकवि अश्वघोष के सौन्दरानन्द के निम्नलिखित पद्य के अभिप्रायस्वरूप ग्रहण किया है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो स्नेहक्षयात् केवलमति शान्तिम्। दिश न काचिट्ठिदिशं न काचिद् वैवानति गच्छति नान्तरिक्षम्। एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात् केवलमेतिशान्तिम्॥ सौन्दरनन्द १६।२८।२६

प्रवचनसार—तत्त्वार्थवार्तिक में आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की निम्नलिखित गाथा [८] उद्धृत की गई है—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामत्तेण समिदस्स॥ प्रव. ३।१७

जीव मरें या न मरे, परन्तु सावधानी की क्रिया नहीं करने वाले प्रमादी के हिंसा अवश्य होती है और जो अपनी क्रिया सावधानीपूर्वक करता है, जीवों की रक्षा करने मे प्रयत्नशील है, प्रमाद नहीं करता है। उसके द्वारा हिंसा हो जाने पर भी उसे बन्ध नहीं होता, पाप नहीं लगता।

सिद्धसेन द्वात्रिंशिका—राजवार्तिक मे एक पंक्ति उद्धृत" की गई है। यह पंक्ति सिद्धसेन द्वात्रिंशिका मे प्राप्त होती है—

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते॥ सिद्ध. द्वा. ३।१६

योनिप्राभृत (जोणिपाहुड) तत्त्वार्थवार्तिक में किसी ने प्रश्न किया है कि क्या साधु पात्र में लाए हुए भोजन की परीक्षा कर खा सकते है। इसके उत्तर में कहा गया है कि पात्र मे लाकर परीक्षा करके भोजन करने मे भी योनिप्राभृतज्ञ साधु को संयोग-विभाग आदि से होने वाले गुण-दोष विचार की उसी समय उत्पत्ति होती है। लाने में भी दोष देखे जाते है, फिर विसर्जन मे अनेक दोष होते हैं।

यहां योनिप्राभृत से तात्पर्य निमित्तशास्त्र सम्बन्धी उस ग्रंथ से है, जिसके कर्ता आचार्य धरसेन (ईसवी सन् की प्रथम और द्वितीय शताब्दी का मध्य) है। वे प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे। वि० स० १५५६ मे लिखी हुई बृहट्टिप्पणिका नाम की ग्रंथसूची के अनुसार वीर निर्वाण के ६० वर्ष पश्चात् धरसेन ने इस ग्रंथ की रचना की थी। ग्रंथ को कूष्माण्डिनी देवी से प्राप्त कर धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक अपने शिष्यों के लिए लिखा था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी इस ग्रंथ का उतना ही आदर था, जितना दिगम्बर सम्प्रदाय में। धवला टीका के अनुसार इसमें यन्त्र मन्त्र की शक्ति का वर्णन है और इसके द्वारा पुद्गलानुभाग जाना जा सकता है"। निशीथचूर्णि के कथनानुसार आचार्य सिद्धसेन ने जोणिपाहुड के आधार से अश्व बनाए थे। अग्रायणीय पूर्व का कुछ अंश लेकर धरसेन ने इस ग्रंथ का उद्धार किया है। इसमें पहले २८ हजार गाथाएँ थी, उन्ही को संक्षिप्त करके योनिप्राभृत मे कही है"।

सन्दर्भ सूची

१. तत्रानादिरूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेश्वति रूपादिष्वादिमान् (५-४३) रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान् परिणामोऽनेकविधः स्पर्शपरिणामादिः। योगोपयोगौ जीवेषु (५-४५) जीवेष्वरूपिष्वपि सत्सु योगोपयोगौ परिणामौ आदिमन्तौ भवतः। —तत्त्वार्थाधिगम भा०

२. न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भाग—प्रस्तावना पृ० ७१।

३. तत्त्वार्थवार्तिक १।४।१६, ४. वही ७।१।३

५. औदारिक काययोग। औदारिकमिश्रकाययोगश्च तिर्यङ्मनुष्याणाम् वैक्रियिक काययोगो वैक्रियिकमिश्रकाययोगश्च देवनरकाणां॥ षट्खण्डागम

६. षट्खण्डागम—वर्गणाखण्ड ५।६।२६

७. वेमादाणिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बंधो॥३२॥ समणिद्धदा समेलुक्खदा भेदो॥३३॥
षट्खण्डागम वर्गणाखण्ड पृ० ३०

८. गोम्मटसार जीवकांड गा. १६४, पंचसंग्रह १।८४

९. तत्त्वार्थवार्तिक ४।१२।१०

१०. सर्वार्थसिद्धि ४।१२, ११. तत्त्वार्थ० १०।४।१७

१२. वही ७।१३।१२, १३. वही ७।१३।१२

१४. डा० जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० ६७३।

१५. वही पृ० ६७४।

कर्नाटक में जैन धर्म

श्री राजमल जैन, जनकपुरी

कर्नाटक तथा दक्षिण भारत में जैनधर्म के प्रसार और प्रभाव पर पुरातत्त्वविदों, इतिहासज्ञों और जिज्ञासु मनीषियों ने भी गम्भीर अध्ययन और विचार किया है तथा उसके प्रभाव को धर्म, कला और संस्कृति की दृष्टि से व्यापक और महत्त्वपूर्ण माना है। कर्नाटक में जैनधर्म के इतिहास पर विचार करने से पहले कुछ महत्त्वपूर्ण मनीषियों के विचारों को जान लेना होगा :

श्री एम. एस. रामास्वामी अय्यंगर ने लिखा है—

"No topic of ancient Soth Indian History is more interesting than the origin and development of Jains, who in times past, profoundly influenced the political, religious and literary institutions of South India"[1]

अर्थात् दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास का कोई भी विषय इतना अधिक रुचिकर नहीं है जितना कि जैनों की उत्पत्ति और विकास से सम्बन्धित विषय। क्योंकि प्राचीन काल में जैनों ने दक्षिण भारत की राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक संस्थाओं को बहुत अधिक प्रभावित किया था।"

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् श्री सी. शिवराममूर्ति ने लिखा है -

"South India has been a great seat of the Digambara Jain faith"[2] अर्थात् दक्षिण भारत दिगम्बर जैनधर्म का एक बड़ा केन्द्र रहा है।

श्री शिवराममूर्ति की पुस्तक की भूमिका में स्व० प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने लिखा था -

"Jainism emboies deep investigations into the nature of reality. It has given us the message of non-violence. It was born in the heart-land of India but its influence pervaded all parts of the country. Some of the earliest literature of the Tamil region is of Jain origin. The great Jain Temples and sculptured monuments of Karnataka, Maharashtra, Gujarat and Rajasthan are world-renowned."

"Some historians tend to classify the cultural anb political development of India into water-tight religious groupings. But a little analysis will show that the evolution of Indian culture was by the union of many streams which make up the mighty river which it has become"[3]

अर्थात् "जैनधर्म में सत् की प्रकृति का गम्भीर अन्वेषण निहित है। उसने हमें अहिंसा का सन्देश दिया है। उसका उदय भारत के हृदय प्रदेश में हुआ था किन्तु उसका प्रभाव देश के समस्त भागों में फैल गया। तमिल प्रदेश के बहुत प्राचीन साहित्य के बहुत कुछ अंश का मूल जैन है। कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान के सुन्दर जैन मन्दिर और मूर्तियां सम्बन्धी स्मारक तो विश्वप्रसिद्ध हैं।"

"कुछ इतिहासकार भारत के सांस्कृतिक तथा राजनीतिक विकास को संकीर्ण धार्मिक समूहों में वर्गीकृत

1. M.S. RamaswamiAyyangar : Studies in South Indian Jainism, Part I, p. 3, Second Edition, 1982 (First Edition 1922, Delhi, Sri Satguru Publications).
2. C. Shivaramamurtti—Panorama of Jain Art, p. 15, Times of India, Oew Delhi, 1983.
3. Ibid, forword.

करने की प्रवृत्ति रखते हैं। किन्तु यदि थोड़ा-सा भी विश्लेषण किया जाए तो यह बात सामने आएगी कि भारतीय संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास अब अनेक धाराओं के संगम से हुआ है जिसने कि एक विशाल महानद का रूप ले लिया है।"

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि कर्नाटक मे जैनधर्म की स्थिति पर विचार के लिए सबसे पहली आवश्यकता है निष्पक्ष दृष्टि और गहरे अध्ययन-मनन की।

दूसरी आवश्यकता इस बात की भी है कि कर्नाटक मे जैनधर्म के अस्तित्व का निर्णय केवल शिलालेखों या साहित्यिक सन्दर्भों के आधार पर ही नही किया जाए और न ही यह दृष्टि अपनाई जाए कि शिलालेख आदि लिखित प्रमाणो के अभाव मे जैनधर्म का अस्तित्व स्वीकार नही किया जा सकता। वास्तव मे हमारे देश में मौखिक परंपरा बहुत प्राचीन काल से सुरक्षित रही आई है। जो कुछ प्राचीन इतिहास हमें ज्ञात होता है वह या तो मौखिक परम्परा से या फिर पुराणों के रूप मे रहा है। ये पुराण जैन भी हैं और वैदिक धारा के भी। इनमे कहीं तो महापुरुषों की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के विवरण है तो कहीं संकेत मात्र। ये भी सुने जाकर ही लिखे गए है। यदि इन्हे सत्य नही माना जाए तो रामायण या महाभारत अथवा राम या कृष्ण सबका अस्तित्व अस्वीकार करना होगा और तब तो किसी तीर्थंकर का अस्तित्व भी सिद्ध नही हो सकेगा। अत. आइये, हम भी परम्परागत या पौराणिक इतिहास पर एक दृष्टि डाले।

परम्परागत इतिहास

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने कर्मयुग की सृष्टि की थी और इस देश की जनता को कृषि करना सिखाया था। वे प्रथम सम्राट् भी थे। जब उन्होने राज्य की नींव डाली तब उन्होंने ही इस देश को मण्डलों, पुरों आदि मे विभाजित किया था। इस देश-विभाजन मे कर्णाटक देश भी था। ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि (ब्राह्मी) का ज्ञान दिया था। उसी लिपि से कन्नड लिपि के कुछ अक्षर निकले है। जब वे मुनि हो गये तो उन्होंने सारे देश में विहार किया और लोगों को धर्म की शिक्षा दी। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि उनके धर्म का प्रचार कर्णाटक देश में अधिक हुआ था (देखिए 'श्रवणबेलगोल' प्रकरण मे 'ऋषभदेव')।

चक्रवर्ती भरत—ऋषभदेव के पुत्र के नाम पर यह देश भारत कहलाता है। जैन पुराणो के अतिरिक्त वैदिक धारा के चौदह पुराण इस तथ्य का समर्थन करते है। वैदिकजन आज भी 'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे ...' का नित्य पाठ करते हैं। भरत ने छह खण्डों की दिग्विजय की थी। उनके समय मे भी कर्नाट देश म जैनधर्म का प्रचार था।

ग्यारह और चक्रवर्ती—जैन परम्परा के अनुसार भरत के बाद ग्यारह चक्रवर्ती और हुए है। ये जैन धर्मावलम्बी थे और उनका समस्त भारत पर शासन था।

किष्किन्धा के जैन धर्मानुयायी विद्याधर—बीसवे तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थकाल में रामायण की घटनाएँ घटी हैं। राम-चरित से सम्बन्धित जैन पुराणो मे उल्लेख है कि हनुमान विद्याधर जाति के वानरवंशी थे। वे वानर नही थे, उनके वंश का नाम वानर था और उनके ध्वज पर वानर का चिह्न होता था। हनुमान् किष्किन्धा के थे। यह क्षेत्र आजकल के कर्नाटक में हम्पी (विजयनगर) कहलाता है। जैन साहित्य में हनुमान के चरित पर आधारित अंजना-पवनंजय नाटक बहुत लोकप्रिय है।

नेमिनाथ का दक्षिण क्षेत्र पर विशेष प्रभाव—बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्म शौरिपुर में हुआ था किन्तु अपने पिता समुद्रविजय के साथ वे भी द्वारका चले गये थे। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव समुद्रविजय के छोटे भाई थे। श्रीकृष्ण ने प्रवृत्तिमार्ग का उपदेश दिया और नेमिनाथ ने निवृत्तिमार्ग का। नेमिनाथ ने गिरनार (सौराष्ट्र) पर तपस्या की थी और, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के अनुसार, "तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रभाव विशेषकर पश्चिमी एवं दक्षिणी भारत पर हुआ। दक्षिण भारत के विभिन्न भागो से प्राप्त जैन तीर्थंकर मूर्तियों में नेमिनाथ प्रतिमाओं का बाहुल्य है जो अकारण नही है। इसके अतिरिक्त कर्नाटक प्रदेश में नेमिनाथ की यक्षी कूष्माण्डिनीदेवी की आज भी व्यापक मान्यता इस तथ्य की पुष्टि करती है। श्रवणबेलगोल में गोमटेश्वर मूर्ति की प्रतिष्ठा के

साथ इस देवी के चमत्कार की कथा बहुत प्रसिद्ध है।

ऐतिहासिक युग

पार्श्वनाथ और नाग-पूजा:

तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। उनकी ऐतिहासिकता तो सिद्ध ही है। उन्होंने अपने जीवन मे ७० वर्षों तक विहार कर धर्म का प्रचार किया था। उन पर कमठ नामक वैरी ने घोर उपसर्ग किया था। सम्भवतः यह आश्चर्यजनक ही है कि कर्नाटक मे कमठान (कमठ स्थान?) कमठगी जैसे स्थान हैं और कमथ या कमठ उपनाम आज भी प्रचलित हैं। वैसे ये उपसर्ग उत्तर भारत मे हुए बताए जाते हैं किन्तु स्थान-भ्रम की सम्भावना से भी इनकार नही किया जा सकता।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ नागजाति की एक शाखा उरगवंश के थे (उरग-सर्प)। उनकी मूर्ति पर सर्पफणों की छाया होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि पार्श्वनाथ के समय में नाग-जाति के राजतन्त्रों या गणतन्त्रों का उदय दक्षिण में भी हो चुका था और उनके इष्टदेवता पार्श्वनाथ थे।

कर्नाटक में यदि जैन बसदियों (मन्दिरों) का वर्गीकरण किया जाए तो पार्श्वनाथ मन्दिरों की ही संख्या सबसे अधिक आएगी। इसी प्रकार पार्श्व-प्रतिमा स्थापित किए जाने के शिलालेख अधिक संख्या मे है।

एक तथ्य यह भी है कि कर्नाटक मे पार्श्वनाथ के यक्ष धरणेन्द्र यक्षी पद्मावती की मान्यता बहुत ही अधिक है। कुछ क्षेत्रो मे पद्मावती की चमत्कारपूर्ण प्रतिमाएँ है।

कर्नाटक के समान ही केरल मे नाग-पूजा सबसे अधिक है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि केरल में यह पूजा बौद्धो के कारण प्रचलित हुई। अन्य विद्वान् इसका खण्डन कर कथन करते है कि यह तुलु प्रदेश (मूडबिद्री के आस-पास के क्षेत्र) से केरल मे आई और वहा तो जैनधर्म और पार्श्वनाथ की ही मान्यता अधिक थी। कर्नाटक के दक्षिणी भाग मे नाग-पूजा भी पार्श्वनाथ के प्रभाव को प्रमाणित करती है।

महावीर और हेमांगद शासक जीवंधर:

चोबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर, जिनका निर्वाण आज (१९८८ ई०) से २५१५ वर्ष पूर्व हुआ था, के धर्म का प्रचार अश्मक देश (गोदावरी के तट का प्रदेश), सुश्मक देश (आन्ध्र-पोदनपुर) तथा हेमांगद देश (कर्नाटक) में भी था। हेमांगद देश की स्थिति कर्नाटक में बतायी जाती है। यहां के राजा जीवंधर ने भगवान महावीर के समवशरण में पहुंचकर दीक्षा ले ली थी। संक्षेप में, जीवंधर की कथा इस प्रकार है—जीवंधर के पिता सत्यंधर अपनी रानी मे बहुत आसक्त हो गए। इसलिए मन्त्री काष्ठांगार ने उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। सत्यंधर युद्ध मे मारे गये किन्तु उन्होंने अपनी गर्भवती रानी को केकियन्त्र मे बाहर भेज दिया था। शिशु ने बड़ा होने पर आचार्य आर्यनन्दि से शिक्षा ली और अपने राज्य को पुनः प्राप्त किया। काफी वर्ष राज्य करने के बाद उन्हें वैराग्य हुआ और हे भगवान महावीर के समवसरण में जाकर दीक्षित हो गए।

सन् १९८२ ई० में प्रकाशित 'Karnataka State Gazeteer' Vol-I में लिखा है—

"Jainism in Karnataka is believed to go back *to the days of Bhagawan Mahavir*. Jivandhara, a prince from Karnataka is described as having been initiated by Mahavir himself."

अर्थात् विश्वास किया जाता है कि कर्नाटक मे जैनधर्म का इतिहास भगवान महावीर के युग तक जाता है। कर्नाटक के एक राजा जीवंधर को स्वयं महावीर ने दीक्षा दी थी ऐसा वर्णन आता है।

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश मे तो लगभग एक हजार वर्षों तक जीवंधरचरित पर आधारित रचनाएँ लिखी जाती रहीं। तमिल और कन्नड़ में भी उनके जीवन से सम्बन्धित रचनाएँ हैं। जीवकचिन्तामणि (तमिल), कन्नड़ मे—जीवंधरचरिते (भास्कर, १४२४ ई.), जीवंधर-सांगत्य (बोम्मरस, १४८५ ई०) जीवंधर-षट्पदी (कोटीश्वर, १५०० ई०) तथा जीवंधरचरिते (बोम्मरस)।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष सुविचारित एव सुपरीक्षित नही लगता कि कर्नाटक में जैनधर्म का प्रचार ही उस समय प्रारम्भ हुआ जब चन्द्रगुप्त मौर्य और

श्रुतकेवली भद्रबाहु श्रवणबेलगोल आए। कम-से-कम भगवान महावीर के समय में भी जैनधर्म कर्नाटक मे विद्यमान था यह तथ्य हेमांगद नरेश जीवंधर के चरित्र मे स्वत सिद्ध है।

बौद्धग्रन्थ 'महावंश' का साक्ष्य :

श्रीलंका के राजा पाण्डुकाभय (ईसापूर्व ३७७ से ३०७) और उसकी राजधानी अनुराधापुर के सम्बन्ध मे चौथी शताब्दी के बौद्धग्रंथ 'महावंश' में कहा गया है कि श्रीलका के इस राजा निगंथ जोतिय (निगथ=निर्ग्रन्थ-जैनों के लिए प्रयुक्त नाम जो कि दिगम्बर का सूचक है) के निवास के लिए एक भवन बनवाया था। वहां और भी निर्ग्रन्थ साधु निवास करते थे। पाण्डुकाभय ने एक निर्ग्रन्थ कुंभण्ड के लिए एक मन्दिर भी बनवा दिया था। इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व श्री लंका मे जैनधर्म का प्रचार हो चुका था और वहां दिगबर जैन साधु विद्यमान थे। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि वहां जैनधर्म दक्षिण में पर्याप्त प्रचार के बाद ही या तो कर्नाटक-तमिलनाडु होते हुए या कर्नाटक-केरल होते हुए एक प्रमुख धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ होगा।

महावंश में उल्लिखित जैनधर्म सम्बन्धी तथ्य को प्रसिद्ध इतिहासकार श्री नीलकंठ शास्त्री ने भी स्वीकार करते हुए 'दी एज ऑफ नन्दाजएण्ड मौर्याज' मे लिखा है कि राजा पांडुकाभय ने निर्ग्रन्थों को भी दान दिया था।

नन्द-वंश :

महावीर स्वामी के बाद पाटलिपुत्र मे नन्दवश प्रतिष्ठित हुआ। यह वंश जैन धर्मानुयायी था। यह तथ्य सम्राट् खारवेल के लगभग २२०० वर्ष पुराने उस शिला लेख से स्पष्ट है जिसमे उसने कहा है कि कलिंगजिन की जो मूर्ति नन्द राजा उठा ले गया था, उसे वह वापस लाया है। इस वश का राज्य पूरे भारत पर था। कर्नाटक के बीदर को महाराष्ट्र से जोड़ने वाली सड़क नांदेड जाती है। विद्वानों के अनुसार नव (नौ) 'नन्द देहरा' उस स्थान का प्राचीन नाम है जो घिसकर नान्देड हो गया है। 'देहरा' जैन मन्दिर के लिए आज भी राजस्थान-गुजरात में प्रयुक्त होता है। नांदेड वह स्थान था जहां नन्दो ने जैन मन्दिर बनवाया था और (नांदेड) नगर बसाया था। इस बात के प्रमाण है कि कुंतल देश नन्द राजाओं की सीमा मे था। श्री एम. एस. रामास्वामी अय्यंगर 'कुंतल' देश को roughly Karnataka (मोटे तौर पर कर्नाटक) मानते है। इसके अतिरिक्त कुछ तमिल ग्रन्थो मे अन्तिम नन्द राजा धननन्द के अपार खजाने, उसके गंगा मे गड़े होने या बह जाने या उसके लालच का उल्लेख करते हैं। आशय यह कि तत्कालीन तमिल देश भी नन्दों के अधीन था और इस शासकों के सम्बन्ध मे चर्चा यहां के लोगों लेखकों मे अक्सर होती रहती थी।

प्राचीन भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ श्री हेमचन्द्रराय चौधरी ने 'इंडिया इन द एज ऑफ नन्दाज' नामक अध्याय मे लिखा है

"Jain writers refer to the subjugation by Nanda's minister of the whole country down to tne seas"

अर्थात् "जैन लेखक इस बात का उल्लेख करते हैं कि नन्द के मन्त्री ने समुद्र पर्यन्त सारे देश को अधीन कर लिया था।" यदि इन जैन लेखकों के कथन मे कुछ भी सच्चाई होती, तो श्री राय चौधरी उसका उल्लेख नहीं करते।

मौर्य-वंश :

दूसरे जो प्रमाण मिले है उनसे यह सिद्ध होता है कि कर्नाटक मे जैन धर्म का प्रसार चन्द्रगुप्त मौर्य और आचार्य भद्रबाहु के श्रवणबेलगोल आने से काफी पूर्व ही हो चुका था। यदि ऐसा नहीं होता तो चन्द्रगुप्त मौर्य बारह हजार मुनियों (उनके साथ एक लाख जैन श्रावक भी रहे होंगे) को अपने साथ लेकर कर्नाटक नहीं आते। यह तथ्य इस बात का भी खण्डन करता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने दक्षिण पर भी विजय की थी।

चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र बिन्दुसार और पोते सम्राट् अशोक ने भी श्रवणबेलगोल की यात्रा की थी। कर्नाटक मे कुछ स्थानो (रायचूर जिला) पर अशोक के लेख भी पाये जाते है। अशोक को बौद्ध बताया जाता है किन्तु यह पूरी तरह सत्य नही है। इस तथ्य के समर्थन में श्री एम. एस. रामास्वामी अय्यंगर ने लिखा है—

"Prof. Kern, the great authority on Buddhist scriptures, has to admit that nothing of a Buddhist can be discovered in the state policy of Ashoka. His ordinance concerning the sparing of life agree much more closely withe the ideas of the heretical Jains than those of the Buddhists.

अर्थात् बौद्ध धर्मग्रन्थों के महान् अधिकारी विद्वान् प्रो० कर्न को यह स्वीकार करना पड़ा है कि अशोक की राज्य-नीति में बौद्ध जैसी कोई बात नहीं पाई जाती। जीवों की रक्षा सम्बन्धी उसके आदेश बौद्धों की अपेक्षा विधर्मी जैनों से बहुत अधिक मेल खाते हैं।

अशोक के उत्तराधिकारी सभी मौर्य राजा जैन थे। अतः मौर्य राजाओ के शासनकाल मे कर्नाटक मे जैन धर्म का प्रचार-प्रसार चन्द्रगुप्त-भद्रबाहु परम्परा के कारण भी काफी रहा।

सातवाहन-वंश :

मौर्य वंश का शासन समाप्त होने के बाद, कर्नाटक में पैठन (प्राचीन नाम प्रतिष्ठानपुर, महाराष्ट्र) के सातवाहन राजाओं का शासन रहा। इस वंश ने ईसा पूर्व तीसरी सदी से ईसा की तीसरी शताब्दी अर्थात् लगभग ६०० वर्षों तक राज्य किया। थे तो ये ब्राह्मण किन्तु इस वंश के भी कुछ राजा जैन हुए हैं। उन सब मे शालिवाहन या 'हाल' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस राजा द्वारा रचित प्राकृत ग्रन्थ 'गाथा सप्तशती' पर जैन विचारों का प्रभाव है। इस वंश से सम्बन्धित कुछ स्थानो का पता गुलबर्गा जिले में चला है। स्वयं हाल का दावा था कि वह 'कुन्तलजनपदेश्वर' है। इसके समय में प्राकृत भाषा की भी उन्नति हुई। कर्नाटक में प्राकृत के प्रसार का श्रेय मौर्य और सातवाहन वंश का है।

कदम्ब-वंश :

सातवाहन वंश के बाद कर्नाटक मे दो नये राजाओं का उदय हुआ। एक तो था कदम्ब वंश (३०० ई० से ५०० ई०) जिसकी राजधानी क्रमशः करहद (करहाटक) वैजयन्ती (वनवासी) रही। इतिहास में वैजयन्ती के कदंब नाम से प्रसिद्ध हैं। यह वंश भी ब्राह्मण धर्मानुयायी था तथापि कुछ राजा जैन धर्म के प्रति अत्यन्त उदार या जैन धर्मावलम्बी थे। इस वंश का दूसरा राजा शिवकोटि प्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र स्वामी से जैन धर्म में दीक्षित हो गया था। कदम्बवंशी राजा काकुत्स्थवर्मन् का लगभग ४०० ई० का एक ताम्रलेख हलसी (कर्नाटक) से प्राप्त हुआ है, जिसके अनुसार उसने अपनी राजधानी पलासिका (कर्नाटक) के जिनालय को एक गाँव दान में दिया था। लेख में उसने 'जिनेन्द्र की जय' की है और ऋषभदेव को नमस्कार किया है।

काकुत्स्थवर्मन् के पुत्र शान्तिवर्मा ने भी अर्हन्तदेव के अभिषेक आदि के लिए दान दिया था और एक जिनालय भी पलासिका मे बनवाकर श्रुतकीर्ति को दान कर दिया था। उसके पुत्र मृगेशवर्मन् (४५०–४७८ ई०) ने भी कालवग नामक एक गांव के तीन भाग कर एक भाग अर्हन्महाजिनेन्द्र के लिए, दूसरा श्वेताम्बर महा संघ के लिए और तीसरा भाग दिगम्बर श्रमण (निर्ग्रन्थ) के उपयोग के लिए दान मे दिया था। उसने अर्हन्तदेव के अभिषेक आदि के लिए भूमि आदि दान की थी।

मृगेशवर्मन् के बाद रविवर्मन् (४७८–५२० ई०) ने जैन धर्म के लिए बहुत कुछ किया। अपने पूर्वजो के दान की उसने पुष्टि की, अष्टाह्निका मे प्रति वर्ष पूजन के लिए पुरखेटक गांव दान किया, राजधानी में नित्य पूजा की व्यवस्था की तथा जैन गुरुओं का सम्मान किया। उसने ऐसी भी व्यवस्था की कि चातुर्मास मे मुनियो के आहार मे बाधा न आये तथा कार्तिकी मे नन्दीश्वर विधान हो।

हरिवर्मन् कदम्ब (५२०–५४० ई.) ने भी अष्टाह्निका तथा संघ को भोजन आदि के लिए कूर्चक संघ के वारिषेणाचार्य को एक गाव दान में दिया था। उसने अहिरिष्ट नामक श्रमण-संघ को मरदे नामक गांव का दान भी किया था।

कदम्बों के दान आदि पर विचार कर पुरातत्त्वविद् श्री टी एन. रामचन्द्रन् ने लिखा है, 'कर्नाटक में वनवासि के कदम्ब के शासक···यद्यपि हिन्दू थे तथापि उनकी बहुत सी प्रजा के जैन होने के कारण वे भी यथाक्रम जैनधर्म के अनुकूल थे।" (अनेकान्त से)

गंग-वंश :

कर्नाटक में जैनधर्म के इतिहास मे इस वश का स्थान सबसे ऊंचा है। इस वंश की स्थापना ही जैनाचार्य सह-नन्दी ने की थी। एक शिलालेख मे इन आचार्य को 'नग-राज्य-समुद्धरण' कहा गया है। शिलालेखानुसार उज्जयिनी के राजा ने जब अहिच्छत्र के राजा पद्मनाभ पर आक्रमण किया तो राजा ने अपने दो पुत्रो बड्ढग और माधव को दक्षिण की ओर भेज दिया। वे कर्नाटक के पेरूर नामक स्थान में पहुंचे। उस समय वहां विद्यमान सिंहनन्दी ने उनमें राजपुरुषोचित गुण देखे। बल-परीक्षा के समय माधव ने तलवार से एक पाषाण-स्तम्भ के टुकडे कर दिए। आचार्य ने उन्हें शिक्षा दी, मुकुट पहनाया और अपनी पिच्छी का चिह्न उन्हें दिया। उन्हे 'जिनधर्म से विमुख नही होने तथा कुछ दुर्गुणों से बचने पर ही कुल चलेगा' यह चेतावनी भी दी। बताया जाता है कि घटना १८८ ई० अथवा तीसरी सदी की है। इस वश ने कर्नाटक में लगभग एक हजार वर्षों तक शासन किया। उसकी पहली राजधानी कुवलाल (आधुनिक कोलार), तलकाड (कावेरी नदी के किनारे) तथा मान्यपुर (मण्णे) रही। इतिहास मे यह तलकाड (तालवनपुर) का गगवश नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। इनके द्वारा शासित प्रदेश 'गगवाडी' कहलाता था और उसमे मैसूर के आसपास का बहुत बडा भाग शामिल था। कर्नाटक का यही राजवश ऐसा है जिसने कर्नाटक के सबसे लम्बी अवधि—ईसा की चौथी सदी से ग्यारहवी सदी तक— राज्य किया है।

गंगवश के समय में जैन धर्म की स्थिति का आकलन करते हुए श्री टी. एन. रामचन्द्रन् ने लिखा है, जैन धर्म का स्वर्णयुग साधारणतया "दक्षिण भारत मे और विशेष-कर कर्नाटक मे गगवश के शासकों के समय मे था, जिन्होंने जैनधर्म को राष्ट्रधर्म के रूप मे स्वीकार किया था।" उनके इस कथन मे अतिशयोक्ति नही जान पड़ती। किन्तु यह उचित इस वश के जैनधर्म के प्रचार सम्बन्धी प्रयत्नों का साराश ही है। कुछ प्रमुख गंगवशी राजाओं का सक्षिप्त परिचय यहाँ जैनधर्म के प्रसग मे दिया जा रहा है।

गगवश का प्रथम नरेश माधव था जो कि कोंगुणिवर्म प्रथम के नाम से प्रसिद्ध है। उसने मण्डलि नामक स्थान पर काष्ठ का एक जैन मन्दिर बनवाया था और एक जैन पीठ की भी स्थापना की थी। इसी वंश के अविनीत गंग के विषय मे यह कहा जाता है कि तीर्थंकर प्रतिमा सिर पर रखकर उसने बाढ से उफनती हुई कावेरी नदी को पार किया था। उसने अपने पुत्र दुर्विनीत गंग की शिक्षा आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद के सान्निध्य मे दिलाई थी तथा लालवन नगर की जैन बसदि के लिए तथा अन्य बसदियों आदि के लिए विविध दान दिए थे।

दुर्विनीत का काल ४८१ ई० से ५२२ ई० के लगभग माना जाता है। यह पराक्रमी होने के साथ ही साथ परम जिनभक्त और विद्यारसिक भी था। उसने कोगलि (कर्नाटक) मे चेन्न पार्श्वनाथ नामक बसदि का निर्माण कराया था। देवनन्दि पूज्यपाद उसके गुरु थे। प्रसिद्ध सस्कृत कवि भारवि भी उसके दरबार में रहे। उसने पूज्यपाद द्वारा रचित पाणिनिव्याकरण की टीका का कन्नड मे अनुवाद भी किया था। उनके समय में तलकाड एक प्रमुख जैन-विद्या केन्द्र था।

श्री रामास्वामी अय्यंगर का मत है कि दुर्विनीत के उत्तराधिकारी मुष्कर के समय में "जैनधर्म गंगवाडी का राष्ट्रधर्म था।" उसने बल्लारी के समीप एक जिनालय का भी निर्माण कराया था। इस वश की अगली कड़ी मे शिवमार प्रथम नामक राजा (५५० ई० में) हुआ है जो जिनेन्द्र भगवान का परम भक्त था। उसके गुरु चन्द्र-सेनाचार्य थे और उसने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था तथा दान दिया था।

श्रीपुरुष मुत्तरस (७२६–७७६ ई०) नामक गंगनरेश ने अनेक जैन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था। उसने तोल्ल विषय (जिला) के जिनालय, श्रीपुर के पार्श्व जिना-लय और उसके पास के लोकतिलक जिनमन्दिर को दान दिया था। आचार्य विद्यानन्द ने 'श्रीपुर-पार्श्वनाथ-स्तोत्र' की रचना की रचना भी श्रीपुर मे इसी नरेश के सामने की थी ऐसी अनुश्रुति है।

(क्रमशः)

केन्द्रीय संग्रहालय गूजरीमहल ग्वालियर में सुरक्षित सहस्त्र जिनबिंब प्रतिमाएँ

☐ नरेश कुमार पाठक

मध्यप्रदेश के पुरातत्व संग्रहालयो मे केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर का महत्वपूर्ण स्थान है, इस संग्रहालय म जैन प्रतिमाओ का विशाल संग्रह है। प्रस्तुत लेख मे संग्रहालय की सहस्त्र जिन बिम्ब प्रतिमाओ का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। यह स्तम्भाकृति, शिल्प-खंड जैन ग्रन्थो मे वर्णित मान स्तम्भ सहस्त्रकूट व जिन चैत्यालय का प्रतीक है। संग्रहालय में बलुआ पत्थर पर निर्मित ग्यारहवी शती ईस्वी की कच्छपघात कालीन तीन प्रतिमा सुरक्षित है, जिनका विवरण निम्नानुसार है :—

ग्वालियर दुर्ग मे प्राप्त एक गोलाकार स्तम्भ को पूर्व में जैन स्तम्भ खडित लिखा गया है।[1] जबकि यह सहस्त्र जिन बिम्ब स्तम्भ है, इस पर दस पंक्तियो म जिन प्रतिमाएँ अंकित है। (स० क्र० २६०) प्रथम पंक्ति मे प्रथम मूर्ति तीर्थंकर आदिनाथ की है, शेष ग्यारह पद्मासन जिन मूर्ति दूसरी पक्ति मे सात जिन मूर्ति, तीसरी पक्ति म पन्द्रह जिन मूर्ति, चौथी पंक्ति मे बारह जिन मूर्ति, ५वी पक्ति में आठ जिन मूर्ति, छठी पक्ति में सोलह जिन मूर्ति, सातवी पक्ति में तेरह जिन मूर्ति, आठवी पक्ति मे नो जिन मूर्ति, नौवी पंक्ति मे ग्यारह जिन मूर्ति, दसवी पंक्ति म बीस जिन मूर्ति, ग्यारहवी पक्ति मे सोलह जिन मूर्तियां अंकित हैं। सभी मूर्ति पद्मासन मुद्रा मे अंकित है। प्रतिमा का आकार १८५ ×७५×७५ से० मी० है। बालचन्द्र जैन ने इसे मान स्तम्भ माना है, जिसम एक सौ उनतालीस पद्मासन मे तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है[2]। जबकि इसमें एक सौ पैंतालीस तीर्थंकर प्रतिमाएं बैठी हुई है।

सुहोनिया जिला मुरैना म० प्र० से प्राप्त इस मूर्ति को पूर्व म पट्ट जिस पर अठारह तीर्थंकर प्रतिमा बनी है, लिखा गया है[3]। जबकि यह सहस्त्र जिन बिम्ब है। इस शिल्पकृति म तीन पक्तियों में पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे जिन प्रतिमाओं का अंकन है। (सं० क्र० ३१०१) प्रत्येक पंक्ति मे ६-६ प्रतिमाएँ अंकित की गई है। बायीं ओर अलंकृत घट पल्लवों से युक्त स्तम्भ का आलेखन है। प्रतिमा का आकार ३६×५०×१२ सें० मी० है। बालचन्द्र जैन ने इच्छा काल पन्द्रहवीं शताब्दी माना है[4]। जो उचित प्रतीत नही होता है। यह प्रतिमा ११वी शती ई० की है।

पढावली जिला मुरैना म० प्र० से प्राप्त प्रतिमा को स्तम्भ पर उत्कीर्ण चौबीस तीर्थंकर लिखा है[5]। जब कि यह सहस्त्र जिन बिम्ब है। इस शिल्प खंड के चारों ओर जिन प्रतिमाएँ बनाई गई है, जो सभी पद्मासन मे हैं। (स० क्र० ३४३) और सहस्त्र जिन प्रतिमाओं का संकेत करती है[6]। प्रस्तुत स्तम्भाकृति मे तीन पक्तियां हैं। प्रत्येक पक्ति म बनी प्रतिमाओं की सख्या इस प्रकार है:—

नीचे की पहली पंक्ति प्रत्येक ओर					३—३=१२
द्वितीय	,,	,,	,,		२—२=८
तीसरी	,,	,,	,,		१—१=४.

प्रत्येक जिन (तीर्थंकर) प्रतिमा के नीचे धर्मचक्र विपरीत दिशा में मुख किये सिंह अंकित हैं। नीचे की पक्ति में आदिनाथ एव पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्पष्ट है। दो खंडित प्रतिमा नेमिनाथ एवं महावीर की रही होगी। इसके नीचे अंजली हस्त मुद्रा मे सेवक बैठे हुए हैं। पार्श्व में चामरधारी अंकित है। सम्पूर्ण स्तम्भ अमृत कलश विद्याधर, पुष्प एवं गवाक्षों से अलंकृत है। प्रतिमा का आकार १४८×६०×६० सें०मी० है। बालचन्द्र जैन ने इसे मान स्तम्भ माना है एवं देव कोष्ठों के अन्दर तीर्थंकर की लघु प्रतिमाएँ बैठे हुए दर्शाया गया है[7]।

सन्दर्भ-सूची

१. शर्मा राजकुमार "मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ" भोपाल १९७४ पृ० ४७५।
२. घोष अमलानन्द "जैन कला एवं स्थापत्य" नई दिल्ली १९७५ पृ० ६०४।
३. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृ० ४७६, क्रमांक २०६।
४. घोष अमलानन्द पूर्वोक्त पृ० ६०३।
५. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृ० ४७७, क्रमांक ११६।
६. गर्दे एम. बी. "ए गाइड टू दी आर्केलाजीकल म्यूजियम एट ग्वालियर, १९२८ प्लेट—VI।
७. घोष अमलानन्द पूर्वोक्त पृ० ६०१।

अर्चचित भक्त कवि : 'हितकर' और और 'बालकृष्ण'

□ डा० गंगाराम गर्ग

भट्टारक सकलकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, ब्रह्म यशोधर, देवसेन के दो-दो पद तथा अपभ्रंश कवि बूचराज के आठ पद प्राप्त हो जाने से जैन पद परम्परा की पुरातनता तो अवश्य सिद्ध होती है किन्तु इसके प्रवर्तन के श्रेय के अधिकारी ६० पदों के रचयिता गगादास ही कहे जा सकते हैं। पंचायती दिगम्बर जैन मन्दिर भरतपुर मे प्राप्त एक गुटके में इनके विभिन्न रागों भैरव, ईमन, परज, सोहनी, विलावल, रेखता, चर्चरी, जैजैवन्ती, विभास, कान्हड़ो, रवमावच मे लिखित उक्त पद सग्रहीत है। गंगादास द्वारा आषाढ़ सुदि १५ सवत् १६१५ को लिखी गई रविवार व्रत कथा के आधार पर उनकी प्राचीनता असंदिग्ध है। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने कवि की रचना 'आदिनाथ की विनती' की प्रशस्ति के आधार पर उसे नरसिंहपुरा जाति वाले तथा सूरत निवासी पर्वत का पुत्र बतलाया है।

जैन भक्त गंगादास द्वारा प्रवर्तित यह पद परम्परा घोर शृंगारिक काल रीतिकाल मे अधिक विकसित हुई। प्रचुर पदों के रचयिता द्यानतराय, भूधरदास, बुधजन, नवलशाह, पार्श्वदास इसी काल मे आविर्भूत हुए।

अभी तक अर्चचित भक्त कवि 'हितकर' और 'बालकृष्ण' का पद साहित्य क्रमशः अग्रवाल जैन मन्दिर दीग (भरतपुर) कोटड़ियान मन्दिर डूगरपुर (राज०) मे प्राप्त हुआ है।

हितकर :

अग्रवाल जैन मन्दिर दीग (भरतपुर) में प्राप्त 'हेतराम' के नाम से लिखी 'चौबीस महाराजन की बधाई' प्राप्त हुई है एक गुटके के पृ० ६८-१०३ पर अंकित इस रचना मे तीर्थंकरों के जन्मोत्सव के रूप मे जन्म सस्कार, 'बाल-स्नान', दान, नृत्य, वाद्यवादन का वर्णन हुआ है। सम्भवतः इन्हीं हेतराम 'हितकरि' के उपनाम से पद लिखे। विभास, ईमन, धनाश्री, सारग, आसावरी तथा भैरु आदि कतिपय रागों में लिखित 'हितकर' के पद छोटे और भावपूर्ण हैं। दास्य भक्त के अनुरूप प्रभु के गुणगान की अपेक्षा 'हितकर' ने आत्मनिवेदन को अधिक प्रमुखता दी है। अज्ञानान्धकार में भटके हुए 'हितकर' अपने उद्धार के लिए अधिक आतुर रहे हैं—

किंकर अरज करत जिन साहब, मेरी ओर निहारो।
पतित उधारन दीन दयानिधि, सुन्यों तोय उपगारो।
मेरे औगुन पै मति जावो, अपनो सुजस विचारो।
अज्ञानी दीसत है जग में, पक्षपात उर भारो।
नाहीं मिलत बहाव्रत धारी, कैसे ह्वं निरवारो।
छवि रावरी नैनन निरखी, आगम सुन्यों तिहारो।
जात नहीं भ्रम को तम मेरो, या दुक्खन को टारो।

'घन' और 'चकोर' के प्रतिक्षण याद करते रहने में सलग्न 'मोर' और 'चोर' के समान ही 'हितकर' का स्वभाव भी बन गया है। सोते-जागते, रात-दिन मे किसी भी क्षण 'जिन प्रतिमा' को वह अपनी आखो से ओझल नही कर पाते—

प्यारी लागै श्री जी मैंनू, थांकि निहारी प्यारी।
चोर चकोर मोर घन जैसे, तैसे मैं नहिं सुरति बिसारी।
निसि बासर सोवत अरु जागत,
इक छिन पलक टरत न टारी।
'सेवग' ऊपर 'हितकरि' स्वामी,
तुमहू करो कछु चाह हमारी॥

'म्हे थाका थे म्हांका' (मैं तेरा और तू मेरा) कहकर 'हितकर' ने वैष्णव भक्तों के समान अपने आराध्य से प्रगाढ़ सम्बन्ध प्रस्थापित किया है तथा जन्म-मरण से छुटकारा दिलवाने के लिए दैन्य भी प्रकट किया है—

म्हे तो थाकां सूं याही अरज करां छां, हो जी जिनराज।
जामन मरन महा दुख संकट, मेट गरीब नवाज।

म्हे थांका ये म्हांका साहब, थांकै म्हांकी लाज।
जा विधि सौं भव उदधि पार हौं, 'हितकरि' करिस्यौ काज।

श्रेष्ठ भक्तों के समान 'हितकर' भी अपने भक्ति फल के रूप में कोई लौकिक कामना नहीं रखते। वह चाहते हैं केवल प्रभु भक्ति के भाव-धारण की निरन्तरता। इससे ही आत्मानुभव की प्रेरणा और मोक्ष मिल सकेगी—

अरज करां छां जिनराज जी।
तारण तिरण सुण्यौ मोहि तार्‌यौ, थांनं म्हांकी लाज जी।
भव भव भक्ति मिलौ प्रभु थांकी, याही बंध्या आज जी।
निज आतम ध्यांऊं शिव पांउ 'हितकरि' काज जी॥

तीर्थंकर नेमिनाथ के जन्मोत्सव और राजुल विरह के पद लिखकर 'हितकर' ने 'वात्सल्य' और मधुर भाव की भी अनुभूति की है। जन्मोत्सव का एक छोटा-सा पद है--

एरी आनन्द है घर घर द्वार।
समुद विजै राजा घरां री, हेली पुत्र भयौ सुकुमार।
जाके जनम उछाह को री एरी, आयो इन्द्र सहित परिवार।
जाचिक जन कौ मोद सौं री एरी, हेली दीनौं द्रव्य अपार।
नेम कवर सबनै कह्यौ री एरी हेली 'हितकरि' सुखकार॥

नेमिनाथ के विरह में संतप्त राजुल आठो प्रहर प्रिय ध्यान मे ही निमग्न रहती है। उसकी यह स्थिति निर्गुण संतो के विरभाव, मीरा आदि मधुर उपासकों की मनःस्थिति का प्रतिबिम्ब ही प्रदर्शित करता है—

तन की तपति जबै मिटि है मेरी,
नेम पिया कू दृष्टि भर देखूंगी ॥टेक॥
जब दरसन पाऊँगी मैं उनको,
जनम सुफल करि लेखूंगी।
अष्ट जाम मेरै ध्यान, उनकौ रहत है,
ना जानू कब भेंटूंगी।
'हितकरि' जो कोई आनि मिलावै,
जिनके पांयन सीस टेकूंगी॥

'बालकृष्ण' ५० पदों के रचयिता अज्ञात कवि सेढू ने दीग निवासी तथा नरपत्येला गोत्रिय खंडेलवाल जैन अभयराम और चेतनराम दो भाइयों की सम्पन्नता और दानशीलता की प्रशंसा दो फुटकर छंदों मे की है। इन दो भाईयों के पिता का नाम उन्होंने बालकृष्ण बतलाया है—

जैन कुल जन्म खंडेलवाल निरपतेला,
दीग सहर नांमी जास घर है।
पिता बालकिस्न जाको धर्म ही सों राग अति,
और विकल्प जो मन मैं न धरि है।
धन सो माता जिन जाये ये भ्रात,
कुल के आभूषण वित सारू पर दुख हरि है।
अभैराम चेतन नाम करायो श्री जी को धाम,
या तैं बड़ाई 'सेढू' ज्यौं की त्यौं करि है॥

सेढू ने बालकृष्ण को धर्मानुरागी बतलाया है अतः इनके द्वारा पद लिखे जाने की सम्भावना स्वाभाविक है। अभी बालकृष्ण के केवल दस पद डूगरपुर के कोटड़ियान जैन मन्दिर के एक गुटके मे प्राप्त हुए हैं। समवशरण में विद्यमान जिनेन्द्र की छवि पर बालकृष्ण की अपार श्रद्धा है—

मूरति कैसी राजै मेरै प्रभु की।
अद्भुत रूप अनूपम महिमा, तीन लोक में छाजै।
श्री जिननाथ जु ध्यान धरतु हैं, परमारथ पर काजै।
नासा अग्र दृष्टि कों धारं, मुखवान धुन गाजै।
अनुभो रस पुलकत है मन मै, आसन सुद्ध विराजै।
जाकी छवि देख इन्द्रादिक, चन्द्र सूरज गन लाजै।
धनु अनुराग विलोकति जाको, अशुभ करम गति भागै।
'बालकृष्ण' जाके सुमरन से, अनहद बाजे बाजै॥

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा मे ही परमात्मा का स्वरूप सन्निहित होने की धारणा के कारण जैन भक्ति काव्य मे तीर्थंकर-भक्ति के अतिरिक्त अध्यात्म-उपासना को बड़ा बल मिला। बालकृष्ण 'चेतन' को ही 'साहिब मानते हुए 'आतम-अनुभव' के लिए कृतसंकल्प है—

तू है साहिब मेरा चेतन जो।
अलख अमूरति सिद्ध स्वरूपी, ऐसा पद है तेरा जी।
विषय कषाय मगनता मानी, किया हे जगत में फेरा।
पर के हेत करम तैं कीनें, अजहूँ समझ सबेरा।
अपुन पर अपु नहिं बिसरो, मोह महानद पेरा।
दरसन शुद्ध मान तूं मन मैं, भवि तैं होय निबेरा।
अनुभो शक्ति संभार अपुनी, केवल ज्ञान उजेरा।
'बालकृष्ण' के नाथ निरंजन, पायो शिवपुर डेरा॥

(शेष पृ० १७ पर)

तीर्थराज सम्मेद शिखर–इतिहास के आलोक में

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

तीर्थराज सम्मेदशिखर जैन धर्म का प्राण है। भगवान आदिनाथ, वासपूज्य, नेमिनाथ एवं महावीर को छोड़कर सभी शेष २० तीर्थंकरों एवं अगणित साधुओं ने यहां से निर्वाण प्राप्त किया है। इसलिए इस पहाड का कण-कण वंदनीय है। यहां की पूजा, अर्चना एवं वंदना करने का विशेष महत्व है। एक कवि ने इसकी पवित्रता से प्रभावित होकर निम्न पंक्तियों में अपने भाव प्रगट किये हैं—"एक बार बन्दै जो कोई ताहि नरक पशु गति नहीं" कितना बडा अतिशय है सम्मेदशिखर वंदना का। कितना पावन है यह क्षेत्र जिसकी वंदना करना मानो चिन्तामणि रत्न पाना है। जब यात्री पहाड की वंदना करने लगता है या उसके पांव पहाड़ की प्रथम सीढी पर पडते हैं तो उसके मन के भाव ही बदल जाते है। जब वह पहाड चढकर प्रथम टोंक के दर्शन करता है तो उसका मन गदगद् हो जाता है और जब सभी टोंको की वंदना करता अंतिम टोंक पार्श्वनाथ पर पहुंच जाता है तो उसका मन प्रसन्नता से भर जाता है और उसे ऐसा लगने लगता है कि मानो उसका मानव जीवन सफल हो गया और उसका मन निम्न पद्य कह उठता है :—

णमोकार समो मंत्रो, सम्मेदाचल समो गिरि।
वीतरागात्परो देवो, न भूतो न भविष्यति॥

तीर्थराज सम्मेद शिखर का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना जैन धर्म का इतिहास पुराना है। दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए है। इसलिए हमारे इतिहास लेखकों ने सम्मेदशिखर के इतिहास लिखने की कभी आवश्यकता ही नहीं समझी। जहां प्रतिवर्ष हजारों वर्षों से लाखों यात्री दर्शनार्थ आते रहते है उसका यह इतिहास तो गतिशील है। प्रवाहमान है। यहां संघों के संघ दर्शनार्थ एवं वंदनार्थ आते जाते रहे इससे यहां इतिहास तो बनता रहा लेकिन उसका मौलिक स्वरूप अधिक रहा और लिपिबद्ध नहीं हो सका। वैसे दो हजार वर्ष पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने निर्वाण भक्ति में सम्मेदशिखर के बारे मे :—

बीसं तु जिणवरिंदा अमरासुर वंदिदा धुद किलेसा।
सम्मेदे गिरसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं॥

यह भी आश्चर्य की बात है कि हमारे आचार्यों में से अधिकांश आचार्यों ने सम्मेदशिखर की वंदना अवश्य की होगी। आचार्य समन्तभद्र जैसे वादविवाद पारगत आचार्य जब वाद के लिए देश के एक कोने से दूसरे कोने तक शास्त्रार्थ के लिए विहार किया तो वे भी सम्मेद शिखर तो अवश्य आये होंगे फिर पता नहीं उन्होंने सम्मेद शिखर के माहात्म्य का वर्णन क्यों नहीं किया। इसलिए मैं तो इस अवसर पर वर्तमान आचार्यों, मुनियों, विद्वान लेखकों से यही निवेदन करना चाहूंगा कि वे अपनी किसी एक रचना में इस तीर्थराज के महात्म्य एवं यहां की स्थिति का अवश्य वर्णन करें जिससे यहां का इतिहास बनता रहे। वर्तमान में सम्मेदशिखर के इतिहास की खोज एवं शोध आवश्यक है। इतिहास लेखन के जितने प्रयास आज तक होने चाहिये थे वे नहीं हो सके। महामनीषी प० सुमेरचंद जी दिवाकर ने सम्मेदशिखर के इतिहास को लिपिबद्ध करने का अवश्य प्रशंसनीय कार्य किया लेकिन उस पुस्तक मे केवल टोंकडो का ही वर्णन है। यहां के पिछले इतिहास की ओर उसमे वर्णन नहीं हो सका।

यात्रा संघों का वर्णन :

यात्रा संघों का इतिहास ही शिखर जी के इतिहास की एक कड़ी है। यहां के इतिहास की खुली पुस्तक है। इस संबंध में मुझे संवत् १३८४ के यात्रा संघ का उल्लेख मिला है जिसमें चाकसू (राज०) के संघपति जीको एव उसके परिवार ने शिखर जी की वंदना की थी।

सम्मेद शिखर के इतिहास पर प्रकाश डालने वाला एक और महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है वह है संवत १६५६

में रचित भट्टारक वादि भूषण के शिष्य आचार्य ज्ञानकीर्ति द्वारा रचित यशोधर चरित की प्रशस्ति में जिसमें लिखा है बंगाल देश के अकबर नगर के राजाधिराज मानसिंह के प्रधान साह नानू गोधा ने सम्मेद शिखर की वंदना की। दिगम्बर जैन मन्दिर बनवाये एवं बीस तीर्थंकरो के चरण स्थापित किये।

तस्यैव राज्ञोस्ति महानमात्यो नानू सुनाया विदितो धरिण्यां
समेदश्रृंगे च जिनेन्द्र गेहमष्टापदे वादि मचक्रधारी ॥८॥
यो कारयच्छत्र च तीर्थनाथाः सिद्धि गता विंशतिमान युक्तः।
यः कारयेन्नित्यमनेक संध्या यात्रां घनाद्यैः परमां च तस्य ॥६

इसी तरह महाकवि बनारसीदास के अर्ध कथानक मे शिखर जी की यात्रा का एक और वर्णन मिलता है जब बादशाह सलीम का मुनीम हीरानंद मुनीम प्रयाग से शिखर जी का यात्रा संघ चलाया—

तिनि प्रयागपुर नगर सौं, कीनौ उद्धम सार।
संघ चलायौं सिखिर कौं, उतर्यौ गंगा पार ।२२५।
ठौर-ठौर पत्री दई, भई खबर जित तित्त।
चीठी आई सेन को, आवहु जात निमित्त ।२२६।
खरग से न तब उठि चले, ह्वै तुरंग असवार।
जाइ नंद जी को मिले, तजि कुटुंब घरबार ।२२७।
संवत सोलहसै उनसठे, आय लोग संघसौनठे।
केई उबरे केई मुण, केई महा जहमती हुये ॥२३०॥

सवत १७३२ मे आमेर निवासी संघ ही नरहरदास सुखानन्द साह घासीराम और उनके दोनो पुत्रों ने सम्मेद-शिखर पर पचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न करायी। इसी समय प्रतिष्ठित ह्रींकार यंत्र जयपुर के खिन्दूकों के मन्दिर मे विराजमान है।

सम्मेदशिखर मुसलिम काल मे भट्टारकों का भी आवागमन का केन्द्र रहा। संवत १५७१ मे भट्टारक प्रभाचन्द्र का पट्टाभिषेक शिखर जी में ही हुआ था। इसी तरह संवत १६२२ में भट्टारक चन्द्रकीर्ति का पट्टाभिषेक संपन्न हुआ।

हेमराज पाटनी बागड प्रदेश के सागपत्तन (सागवाडा) के निवासी थे। उन्होंने संघपति बनकर सम्मेदशिखर की यात्रा कर सबको साथ लिया था। इसी हेमराज ने अपनी यात्रा को चिरस्थायी बनाने के लिए भट्टारक रत्नचन्द्र से सुभौमचक्रिचरित्र की रचना करने का आग्रह किया था। उन्होने संवत १६८३ में उक्त चरित्र की रचना विबुध तेजपाल की सहायता से की थी।

जयपुर के दीवान रायचन्द छाबड़ा बड़े प्रसिद्ध दीवान थे। संवत १८६१ मे उन्होने बहुत बड़ा पंचकल्याणक प्रतिष्ठा समारोह का आयोजन किया था। दीवान रायचन्द छाबड़ा ने संवत १८६३ में सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिए एक विशाल यात्रा संघ का नेतृत्व किया था।

संवत आठ दश सैकड़ा, अवर तरेसठ जान।
चल्यो संघ जय नगरतैं, महावीर भगवान ।१८

इस यात्रा संघ में प्रयाग आते आते पांच हजार यात्री हो गये थे। इन यात्रियो को ले जाने के लिए ४०० रथ और भैल, ४०० घोड़े तथा २०० ऊँट थे।

अधिक च्यारसै रथ अर भैल, अश्व चारसौ तिनकी गैल।
सुतर दोयसौ तिन परिमार, नर नारी गिनि पाँच हजार ॥४

यात्रा वर्णन में मधुबन की वृक्षावलि का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। यह भी लिखा है कि सभी यात्रियों ने सीता नाला पर जाकर स्नान किया तथा वहीं पूजा की सामग्री तैयारकी और फिर गिरिराज की वदना संपन्न की।

माघ कृष्ण सप्तमी, सुक्रवार सुमवार।
गिर सम्मेद पूजन कियो, उपज्यो पुण्य अपार ॥

इस संघ के साथ आमेर के भट्टारक सुखेन्द्र कीर्ति एवं आचार्य महीचन्द थे। सभी यात्री मधुबन में उतरे जहां एक विशाल मन्दिर था। यहां के निवासियों के बारे में निम्न पंक्तियां लिखी हैं :—

मधुबन के बासी नर नारि, सरल गरीब सुद्ध चितधारी।
तन ऊपर अति बोछो चीर, लंबी चोटी स्याम सरीर।
के ही मांगल ढोल बजाय, के ही कलस बंधावत आय।
बसतर दिये बहुत हरसाय, तिनकूं दान दिये बहु भाय।
माघ सुकल एकं सुभवार, संगपति दीनी जिमनार ॥२२

इस यात्रा संघ ने एक कार्य मेलूणी का भी लिया और सबने मिलकर एक हजार ७० रुपया मन्दिर को भेंट किया। इसके पूर्व मालाओं की बोली हुई थी और वह भी आय मन्दिर को ही गई। उस समय सोने की मोहरों में माला होती थी। माला एक दिन पांच मोहर एवं एक दिन २१ मोहरों में हुई थी। इस प्रकार यह शिखर

विलास इतिहास की दृष्टि से बहुत ही अच्छी रचना है जिसमे १५८ छंद हैं।

संवत १८८६ में प्रतापगढ़ (राज०) के टेकचन्द ने सम्मेद शिखर जी की यात्रा की थी तब रामपाल ने शिखर जी की पूजा लिखी थी।

शिखर जी के इतिहास के स्तोत्र और भी मिलते है। भट्टारक विद्यानंदि (१४९९-१५३६) ने भी शिखर जी की वंदना की थी तथा भ० सोमसेन के शिष्य जिनसेन ने भी शक संवत १६०७ में शिखर जी की वंदना करने का यशस्वी कार्य किया था।

१५वीं शताब्दी में होने वाले ब्रह्म जिनदास ने भी अपने जम्बूस्वामी रास एवं रामरास में सम्मेद शिखर जी का निम्न प्रकार वर्णन किया है :—

सम्मेद गिरि दीर्णे वलि चंग, जिणवर बीस पूज्या मनरंग।।

पूजा विलास की रचनायें :

सम्मेद शिखर हमारा पावन तीर्थ है। मन्दिरों में उसकी पूजा होती रहती है। राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में सम्मेद शिखर पूजा, सम्मेदाचल पूजा, सम्मेद-शिखर विलास, सम्मेदशिखर महात्म्य पूजा, सम्मेदशिखर यात्रा दर्शन, सम्मेदशिखर विलास, सम्मेद विलास आदि विभिन्न नामो से सैकड़ो पाण्डुलिपियां मिलती हैं। ये पाण्डुलिपियां बहुत महत्वपूर्ण है तथा प्रकाशन योग्य हैं। जिन कवियों ने पूजा विलास की रचनाये लिखी उनमें कवि ज्ञानतराय, बुधजन, भागीरथ, जवाहरलाल, भ० सुरेन्द्रकीर्ति, गंगादास, सेवाराम, हजारी मल्ल, ज्ञानचन्द्र, लालचन्द्र, मोतीराम, मनसुखसागर, दीक्षित देवदत्त, सतदास, रामचन्द, केशरीसिंह, देवाब्रह्म, गिरधारीलाल, भागचन्द के नाम उल्लेखनीय है। इन सभी कवियो की पूजायें, विलास, यात्रा वर्णन शिखर जी के इतिहास के लिए बहुत उत्तम सामग्री युक्त है। इनका प्रकाशन यदि दोनो ही कोठियो की ओर से अथवा तेरहपंथी कोठी की ओर से हो जावे तो परम पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज का शिखर जी की यात्रा ऐतिहासिक यात्रा बन जायेगी। आशा है तीर्थराज कमेटी का इस ओर अवश्य ध्यान जावेगा।[1]

□□

(पृ० १४ का शेषांश)

नेमिनाथ-राजुल प्रसग पर जैन कवियों ने पर्याप्त पद लिखे हैं। नेमिनाथ के शक्ति-परीक्षण, दया, विरक्ति और तप आदि गुणों पर बालकृष्ण की राजमती ने भी अपनी श्रद्धा व्यक्त की है—

छवि नेमि पिया की लखि कैं मुसकानी।
आवत सुंदर मूरत देखत, राजमती सकुचानी।
नाग सेज पर नाक चढ़ावत, देख सबै मनमानी।
ओरि आंन ब्याहन कों आये, कहि न सकै कोई ग्यानी।
तोरो हार वसन सब भूषन, जीव दया मनमानी।
ग्रह तजि कें गिरि ऊपर पहुंचे, मेरी बात न मानी।
तप कर कर्म सबै जिन नासे, भये निरंजन ज्ञांनी।
प्रभु के गुन सब तीन लोक में, सुनत पाप नसांनी।
'बालकृष्ण' की वीनती सुनीयै, वीजे भक्ति निशांनी।।

उक्त विवेचन के आधार पूर्ण अज्ञात कवि हितकर और बालकृष्ण जैन भक्ति परम्परा के श्रेष्ठ भक्त ज्ञात होते हैं। इनके अधिक पद होने की सम्भावना से इंकार नही किया जा सकता।

एसोसिएट प्रोफेसर
राजकीय स्वायत्तशासी जया विद्यालय,
भरतपुर (राज०)

देवगढ़ पुरातत्त्व को सँभाल में औचित्य

□ कुन्दन लाल जैन रिटायर्ड प्रिन्सिपल

अभी १५ जुलाई ९१ को देवगढ़ जैसी पावन पुण्य-स्थली के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वहां के जैन शिल्प को देखकर हृदय गद्‌गद हो उठा। देवगढ़ मध्य रेलवे के झांसी बीना सेक्सन के बीच ललितपुर नामक रेलवे स्टेशन से उत्तर पश्चिम की ओर लगभग ३२ कि० मी० दूर है। ललितपुर से बसें जाती रहती हैं। जैन मूर्ति कला का अनुपम केन्द्र यह देवगढ़ क्षेत्र एक सुरम्य, सुंदर एवं भव्य पहाड़ी पर अवस्थित है जिसकी तलहटी में वेत्र-वती (वेतवा) की कलकल धारा अबाध गति से बहती रहती है, इसे बुन्देलखंड की गंगा भी कहते हैं।

बचपन में सुना था कि देवगढ़ में इतनी मूर्तियां है कि एक-एक चावल प्रति मूर्ति पर चढ़ाया जावे तो एक बोरी चावल अपर्याप्त रहेगा। तब यह सब अतिशयोक्ति सा लगता था पर अब इस क्षेत्र के दर्शन से वह बात यथार्थ हो गयी। इस क्षेत्र पर असंख्य जैन मूर्तियां है जिनमे बहुत सी खण्डित हैं, कुछ दीवारों में चिनी हुई है, कुछ परकोटे पर पड़ी हैं, कुछ जमीन के अन्दर गड़ी पड़ी है और कुछ यत्र-तत्र लुकी-छुपी पड़ी हुई हैं।

यहां के प्रतिभाशाली श्रमजीवी शिल्पियों ने युग युगो तक अपने छैनी हथोड़े की कला से जैन मूर्तियो का सर्जन किया वे आज पुरातत्व, इतिहास एवं शिल्पकला की बहु-मूल्य धरोहर बन गई हैं। इन मूर्तियों के दर्शन कर उन शिल्पियों के प्रति श्रद्धा एवं कृतज्ञता से मस्तक झुक जाता है और उनका पुण्य स्मरण किए बिना नही रहा जाता।

देवगढ़ की मूर्तियां पद्मासन और खड्‌गासन (कायो-त्सर्ग मुद्रा) दोनों ही मुद्राओं की उपलब्ध हैं। यहाँ तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त उनके शासन देवता, यक्ष यक्षणियो अष्टप्रातिहार्यों, कुबेर, सरस्वती अम्बिका, मयूरवाहिनी आदि की भी प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। यहां कुछ जैन ऋषि मुनियों की चरण पादुकाएँ भी प्राप्त हैं। यहां के मान-स्तम्भ गोल और चौकोर दोनों ही तरह के हैं उन पर उकेरी गई कला तथा नाना तरह के बेलबूटे एवं चित्र विचित्रता अत्यधिक दर्शनीय एवं मनोरम हैं। यहां के मन्दिरों की स्थापत्य कला खजुराहो स्थापत्य से मिलती जुलती है। कहा जाता है कि यहां चालीस मन्दिरों का परिसर था जो नवमी सदी से बारहवी सदी के बीच निर्मित हुए थे। वर्तमान में कुल इकतीस मन्दिर ही हैं पर जीर्णोद्धार के फलस्वरूप इनकी संख्या बढ़ती जा रही है। यहा का प्रमुख मन्दिर भ० शान्तिनाथ का है जो सर्वाधिक प्राचीन और प्रसिद्ध है। इसके सामने चन्देल नरेश कीर्ति-वर्मन के लेख युक्त एक विशाल स्तम्भ खड़ा हुआ है जिस से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र का नाम कीर्तिनगर भी रखा गया था।

जहां नई धर्मशाला और म्यूजियम बना है वहां के पार्क में स्थित मानस्तम्भ में तीनों दिशाओ में तीन तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ विराजमान है पर चौथी ओर कोई आचार्य एक चोटीधारी श्रावक या गृहस्थ को उपदेश देती हुई मुद्रा म विराजमान है जो एक अद्‌भुत मानस्तम्भ सा लगता है। यहा एकाकी प्रतिमाओं के अतिरिक्त द्वितीर्थी, त्रितीर्थी, चतुर्मुखी (सर्वतोभद्र) प्रतिमाएँ एवं चौबीसीपट्ट बहुलता से प्राप्त होते हैं। त्रितीर्थी प्रतिमाओं में दो नमूने बड़े महत्वपूर्ण एवं इतिहास तथा पुरातात्विक दृष्टि से उपयोगी और कलापूर्ण लगे। प्रथम तो बाहुबली, ऋषभ-देव एवं भरत की त्रितीर्थी है जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है बाहुबली के चारों ओर माधवी लताओं एवं वमीठों का चित्रण कलापूर्ण है तथा भरत के पादपीठ में भारत का मान चित्र अंकित है। यह मानचित्र अविभाज्य है जिसमें श्याम, वर्मा आदि सम्मिलित हैं पर नीचे श्री लंका का कोई नामोनिशान नही है। बीच में भ० आदिनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस त्रितीर्थी प्रतिमा से

ज्ञात होता है कि तब तक अर्थात् १०वी-११वी सदी तक यह धारणा प्रामाणिक थी कि भारतवर्ष भ० ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर ही विख्यात था, न कि दुष्यन्त शकुन्तला के पुत्र भरत पर। यह त्रितीर्थी प्रतिमा चौकोर है और लगभग दो मीटर लबी चौड़ी होगी। देखें मारुतिनंदन तिवारी कृत "जैन प्रतिमा विज्ञान" नामक ग्रंथ का ७०वां चित्र जिसमें बाहुबली और ऋषभदेव का चित्र मन्दिर में स्थानाभाव के कारण नही आ सका।

दूसरी त्रितीर्थ है भ० नेमिनाथ की जिसके आस पास दोनों ओर कृष्ण और बलराम की मूर्तिया अकित है देखो उपर्युक्त ग्रंथ का २७वां चित्र। यहां के मन्दिरो के तोरणद्वार जिस तरह विभिन्न लताओं, फूलों, बेलबूटों एव घंटा घड़ियालों से अलंकृत है वे देखते ही बनते है। मानस्तंभों को किन कलात्मक ढगो से सजाया सवारा है कि देखते ही आखे अश्रुपूरित हो पुलकित हो उठती है। मन मे ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि काश वे शिल्पी आज मिल जावें तो उनके हाथ और छैनी हथौड़े चूम लिये जावें जिन्होंने देवगढ को ऐसा गरिमामय एव सौन्दर्यपूर्ण शिल्प प्रदान किया है। काल के प्रभाव से तथा हजारों वर्षों की सर्दी, गर्मी, बरसात ने एवं आततायियों के क्रूर आक्रमणो के कारण देवगढ़ का कला वैभव ध्वस्त एवं नष्ट-भ्रष्ट हो गया था जिससे पिछली कई सदियो तक देवगढ उपेक्षित पड़ा रहा किसी को स्वप्न में भी खबर न थी कि यह प्रदेश कभी कला की दृष्टि से इतना वैभव सम्पन्न रहा होगा।

भारतीय पुरातत्व के पितामह जनरल कनिंघम ने उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध में अन्य स्थानो की खोज की भांति जब देवगढ़ को खोज निकाला तो इसके कला वैभव को देखकर उनकी बाछें खिल उठी और इसके महत्व को उन्होंने अपनी सर्वे रिपोर्ट मे उल्लेख किया फिर भी जैन समाज कुम्भकर्णी निद्रा में सोता रहा। अभी विगत तीस सालों मे स्व० साहू शान्तिप्रसाद जी का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने देवगढ़ के जैन शिल्प से प्रभावित हो इसके जीर्णोद्धार हेतु स्वोपार्जित विपुल धनराशि दान मे दी, यहां एक म्यूजियम स्थापित कराया तथा केन्द्रिय शासन का इस क्षेत्र को पर्यटन स्थल बनाने हेतु ध्यान आकर्षित किया तथा भारतीय पुरातत्व विभाग से इसकी सुरक्षा हेतु प्रयत्न किया, फल स्वरूप इस क्षेत्र का काफी विकास और सुधार हुआ। परमपूज्य श्रद्धेय आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने यहां चतुर्मास की स्थापना कर सोने मे सुहागे का कार्य किया फलत: यहां जीर्णोद्धार का कार्य द्रुतगति से चला और आज यह क्षेत्र पूर्णतया दर्शनीय एवं पूजनीय बन गया है फिर भी और बहुत सा कार्य बाकी है, अभी जगह जगह मूर्तियां पड़ी हैं, कुछ खण्डित हैं उन सब को यथावत् प्रतिष्ठित करना है। फिर भी अब तक जो कुछ हो गया है उसे देखकर बड़ा सन्तोष और प्रसन्नता हुई। डा० बाहुबली जी इस दिशा में अत्यधिक प्रयत्नशील है।

पर यहा पुरातत्व और इतिहास के साथ जो खिलवाड़ और छेड़छाड़ हो रही है उसे देखकर बड़ी पीड़ा हुई। कुछ विद्वानो या मुनिजनों के आदेश उपदेश से यहां की मूर्तियों में फेर बदल और हेरा फेरी हो रही है। जैसे कि कुन्दकुन्द की गाथाओ को लोग मनमाने ढंग से तोड़ मरोड़ रहे है उसी तरह यहां प्राचीन मूर्तियों में चिह्न उकेरे जा रहे है जब कि मूल रूप से ऐसा कुछ नहीं है। इससे भावी पुरातत्त्वविदो को अनेकों भ्रान्तियों का सामना करना पड़ेगा। कुछ मूर्तियों को एकत्रित कर चौबीस की संख्या मे स्थापित कर उन भूतकाल की चौबीसी का मन्दिर बना दिया गया है हर वेदी पर भूतकाल के प्रत्येक तीर्थंकर का नाम भी लिख दिया है यहां तक तो ठीक है पर उन मूर्तियों पर भी उन तीर्थंकरों के नाम उकेर दिये हैं जो सर्वथा अनुचित है, ऐसा ही स्थिति भविष्यत् काल की चौबीसी के मन्दिर की कर डाली है। जब कि इन भूत भविष्यत् चौबीसियो मे एक रूपता या समानता नहीं है और ना ही इनका कोई पुरातात्त्विक या ऐतिहासिक अस्तित्व उपलब्ध होता है। इस तरह की पुरातात्विक धोखाधड़ी और हेरा फेरी कालान्तर में जैन पुरातत्व को बहुत घातक सिद्ध होगी और हमारी ऐतिहासिक प्रमाणिकता पर प्रश्न चिह्न लग जावेंगे अत: इस दुष्प्रवृत्ति को तुरन्त ही रोका जाय।

देवगढ़ का प्राचीनतम नाम इतिहास और पुरातात्विक लुअच्छगिरि के नाम से विख्यात था। जब ११वी सदी में चन्देल नरेश श्री कीर्तिवर्मा का शासन आया तो देवगढ़

कीर्तिनगर नाम से विख्यात हुआ जिसका उल्लेख भ० शान्तिनाथ के मन्दिर के सामने स्थित विशाल शिला स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इसके बाद इसका नाम देवगढ़ कब और कैसे पड़ा इस विषय मे इतिहास और पुरातत्व सर्वथा मौन है। लगता है देव प्रतिमाओ की बहुलता के ही कारण इसका नाम देवगढ़ पड़ गया हो जो अब तक तक चला आ रहा है। यहां स० १४८१ मे विख्यात धन-श्रेष्ठी सिंघई होलीचन्द्र नाम से एक प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ श्रावक हुए थे जिन्होने अपने गुरु आचार्य पद्मनंदी और उनकी गुरु परम्परा के प्रथम संस्थापक आचार्य वसन्तकीर्ति की प्रतिमाएँ स्थापित कराई थी जो काल प्रभाव के कारण आज अनुपलब्ध है, पर इन सबका द्योतक एक विशाल शिलालेख कलकत्ता म्यूजियम मे विद्यमान है, इसमे सस्कृत के ७५ श्लोक है। सिंघई होलीचन्द्र के सलाह-कार एव परम विद्वान् मित्र श्री शुभसोम, श्री गुणकीर्ति श्री वर्द्धमान और श्री वरपति नाम के चार सहायक थे जिनके सत्परामर्श पर ही सघाधिपति होलीचन्द्र ने यह पुनीत कार्य किया था। यह विस्तृत शिलालेख एक ६ फुट लम्बे ३ फुट चौड़े तथा १-१/२ फुट मोटे विशाल शिला-खण्ड पर उत्कीर्ण है।

"अंत मे देवगढ़ की प्रबंध समिति से निवेदन करूगा कि यहा की पुरातात्विक संपदा में किसी भी तरह की छेड़छाड़ या फेर बदल न करें जो जिस स्थिति में है उसी स्थिति में रहने दें।" हा, जो खण्डित मूर्तियां हैं और उनके नाक कान हाथ पैर आदि का जीर्णोद्धार करना है तो वह किसी विख्यात पुरातत्वविद् के निर्देशन मे ही किया जाय, आगम ग्रंथो मे फेर बदल की भाति इनमें मनमाने ढंग से अल्प ज्ञानवश किसी तरह का खिलवाड़ न किया जावे। श्रद्धेय आचार्य विद्यासागर जी महाराज से निवेदन करूगा कि जिस वट वृक्ष को उन्होंने पुष्पित एव पल्लवित किया है और ऐसा सुन्दर सलौना स्वरूप प्रदान कराया है उसे आन्तरिक रूप से दूषित एव विषाक्त और अप्रमाणित होने से बचाने म अपने आशीवचनो का प्रयोग कर जैन पुरातत्व की रक्षा करें। समाज के विख्यात पुरातत्वविद् भी इस ओर ध्यान दे और ऐसे अप्रमाणिक कार्यों को न होने दे। दिसबर जनवरी मे शायद वहां पचकल्याणक प्रतिष्ठा या गजरथ चल इस अवसर पर यहां हुई इस पुरातत्व सबधी छेडछाड की समीक्षा हो तथा उसका निराकरण किया जाव।

श्रुत-कुटीर, ६८ विश्वास मार्ग,
विश्वास नगर, शाहदरा दिल्ली

श्री नन्हें दास के दो आध्यात्मिक पद

(१. राग रामकली)

चलि पिय ताहि सरोवर जाहि।
जाहि सरोवर कमल, कमल रवि बिन बिगसाहि।
अति हो मगन मधुकर रस पिय रमाहि माहि समाहि। चल०
पहुप वास सुगध सीतल लेत पाप नसाहि ॥ चल०
एक प्रफुल्लित सद दलनि मुख नहि कुम्हिलाहि ॥ चल०
गुंजवारी बैठि तिन एव भमर हुई बिरमाइ ॥ चल०
हस पछी सदा उझुल तेउ मलिमलि न्हाइ ॥ चल०
अनगिनै मुक्ताफल मोती तेऊ चुनि चुनि खाई ॥ चल०
अचिरज एक जु छल छल समुझि लेऊ मन माहि ॥ चल०
अब बिनि उड़ उदास 'नन्हें' बहुरि उडिवो नाहि ॥ चल०

(२. राग गौरी)

मन पछी उडि जैहें।
जा दिन मन पंछी उडि जैहे,
ता दिन तेरे तन तरुवर को नाम न कोऊ लैहें ॥मन०
फूटी पार नीर के निकसत, सूख कमल मुरझैहें ॥ मन०
कित गई पुरइन कित गई सोभा जित तित धूरि उडैहें ॥मन०
जो जो प्रीतम प्रीति करैं हैं सोऊ देख डरैहें ॥ मन०
जा मदर सो प्रेत भये ते सब उठि उठि खैहे ॥ मन०
लोग कुटुम सब लकड़ी का साथी आगै कोउ न जैहें ॥ मन०
दहरी लो मेहरी को नातो हस अकेलो उड़ि जैहें ॥ मन०
जा संसार रैन का सपना कोउ काऊ न पतियैहें ॥ मन०
'नन्हें दास' वास जगल का हस पयानो लैहें ॥ मन पंछी०

—श्री कुन्दन लाल जैन के सौजन्य से

साक्षी भाव

□ श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली

मन से मुक्त होने का मात्र एक ही उपाय है वह है साक्षी भाव। साक्षीभाव का अर्थ होता है प्रतिरोध न करे। क्योंकि जैसे ही प्रतिरोध किया, कर्त्ताभाव आ जाता है।

हमारे मन में हर समय विचारों का कल्पनाओं का तांता लगा हुआ है, रात सपने देखते हैं, दिन विचार चलते हैं हम इन विचारों और विकल्पों के साथ एक हो जाते हैं। किसी विचार को बुरा मान लेते हैं। जिसको बुरा मानते हैं उसको भगाना चाहते हैं। जितना भगाने का उपाय करते हैं उतना ही वह गाढ़ा होता जाता है। जैसे गेंद को दीवाल पर जितने जोर से मारो वह उतने ही जोर से वापिस आती है। अगर दीवाल पर न मारे तो वापिस ही नही आती। जितने हम विचारो और कल्पनाओ का विरोध करते हैं उतना ही उनका घिराव बढ़ता है। दिन की जगह रात को सपनों मे घिराव हो जाता है। अत: उनका विरोध मत करो, उनसे लड़ें नहीं, उनको दबाये नहीं। नहीं तो दबाने दबाने मे जिंदगी नष्ट हो जायेगी। तब यह सवाल पैदा होता है अगर विचारो को नहीं दबावे तो अनाचार फैल जावेगा, आचरण बिगड़ जावेगा। दबावे नही तब क्या करे? इसका उत्तर है कि विचारों का साक्षी बने अगर दबाते हैं तो कर्त्ता बन जाते हैं जब कर्त्ता न बने तो ज्ञाता रह जाते हैं। दर्पण के समान मात्र ज्ञाता रह जावे। न उन विचारो की प्रशंसा करनी है, न पश्चाताप करना है मात्र साक्षीभाव देखते रहना। जब हम उसको देखते हैं तो वह दृश्य बन जाता है और देखने वाला दृश्य से अलग हो जाता है तब हमारी शक्ति उसमे नही लगती, देखने मे लगने लगती है। जैसे जैसे देखने पर जोर आता जाता है वैसे वैसे दृश्य दूर होता जाता है। फिर एक समय आता है तब दृश्य नहीं रहता मात्र दृष्टा रह जाता है। यही समाधि है। जो हो रहा है, उठ रहा है उसको दबाने की चेष्टा न करे, उसमें भला बुरा न माने, मात्र जो हो रहा है उसको जानने की चेष्टा करे और पूर्ण ताकत लगाकर मात्र उसको जाने। अगर ऐसा हुआ तो हम पायेंगे कि न विचार रहा, न विकार रहा न आगे की, भविष्य की आकुलता रही, बीते की याद रही, मात्र साक्षीपन बना हुआ है।

अगर हम नदी या तालाब मे उतरेंगे तो पानी मैला हो जायेगा परन्तु यदि किनारे बैठकर देखते रहें तो कुछ समय बाद मैला नीचे बैठ जावेगा। किनारे बैठकर देखते रहना है। अगर हमने यह क्यो हुआ, ऐसा नहीं होना चाहिए था तब साक्षीभाव नही बनेगा। परन्तु यह मान कर चलें कि जो विचार उठ रहे हैं वही उठने के है उसमे कुछ अच्छा बुरा नहीं है। यह तो कर्म का मैला है उसके अनुसार हो रहा है और मैं जान रहा हूं मैं जानने वाला हूं इनकी बदली करने वाला अथवा रोकने वाला नही हूं तब यह साक्षीभाव बनेगा। जहाँ साक्षीभाव बना, विकल्प का कार्य खतम होने लगेगा। जब मन का काम नही रहा तब संसार ही नही रहा। अब उसको किसी नाम से कहें कुछ देर के लिए शांत होकर बैठ जावो। शरीर को निढाल छोड दो फिर मन की धारा को देखते रहो, और कुछ भी न करो, न मंत्र, न भगवान का नाम। यह तो मन के खेल हैं। तुम अपने जीवन के ही दृष्टा बनो। खुद का जीवन भी ऐसे देखो जैसे वह भी एक अभिनय है। यह पत्नी, बच्चे, परिवार, धन-दौलत सब अभिनय के अंग हैं। हमे यह अभिनय करना पड़ रहा है। यह पृथ्वी की बड़ी मंच है। जिसने अपने को कर्त्ता समझा वही चूक गया, जिसने अपने को अभिनेता जाना उसने पा लिया। जिसको पाना है वह दूर नही है। मिला ही हुआ है सिर्फ उसकी तरफ हम पीठ किये हुए हैं। मुंह उधर कर लेना है। यह साक्षीभाव ही साधन है और यही साध्य है। श्वास चले और साक्षी रहे। श्वांस भीतर आई हमने देखी, श्वास बाहर गयी हमने देखी, बस मात्र श्वास के दृष्टा रहना है। उसने अपने जीवन मे व्यर्थ को छोड़ दिया और सार्थक को पकड़ लिया। जब श्वांस का दृष्टा बनना है तब न भविष्य का विकल्प बनता है न भूतकाल की याद। मात्र श्वांस को आते जाते देखता है। जोर श्वास लेने पर नहीं रहकर श्वांस

(शेष पृ० २२ पर)

आचार्य जिनसेन की काव्य कला

☐ एम. एल. जैन, नई दिल्ली

जिन महानुभावों ने जिनसेन का स्वाध्याय किया है वे जानते हैं कि महाकवि एक ओर दर्शन शास्त्र के अधिकारी थे तो दूसरी ओर अप्रतिम प्रतिभा वे साहित्यकार भी। जहां अपने गुरु वीरसेन की अधूरी धवला टीका को पूर्ण कर जिनवाणी का अक्षय-कोष भरा वहां महापुराण का लेखन भी किया। इसके प्रथम भाग आदि पुराण को वह पूरा नही कर पाये किन्तु जितना कुछ लिखा उससे उनको व्याकरण, कोष, छन्द अलंकार व साहित्य के विविध आयामों की व दिशाओं की जानकारी पद पद पर अंकित है। देखा जाए तो आदिपुराण की शैली संस्कृत-काव्य साहित्य की निराली शैली है। विशाल विद्वत्ता के कारण यह शैली एक ओर व्यास, कालिदास, माघ आदि कवियो से मुकाबला करती है तो दूसरी ओर बाण, हर्ष आदि साहित्यकारोंकी बराबरी करती है। नवी शताब्दी तक प्राप्त संस्कृत काव्य कला की सारी तकनीक इस अकेले महाकाव्य मे सदर्शित है। आइए इसका थोडा-सा आनद बांटा जाए।

माता मरुदेवी के गर्भाधान के पश्चात् का प्रसंग है। माता का मनोरंजन करने के लिए देवियां आई हैं और नाच गान के साथ-साथ काव्य गोष्ठी भी करती हैं जिसमें व्याजस्तुति आदि अलकारो के साथ-साथ पहेलियां, एकालपक, क्रियागुप्त, गूढक्रिया, स्पष्टान्धक, समानोपमा, गूढचतुर्थक, निरौष्ठ्य, बिन्दुमान, बिन्दुच्युत, मात्राच्युत-प्रश्नोत्तर, व्यञ्जनच्युत, अक्षरच्युतप्रश्नोत्तर, द्वयक्षरच्युत, एकाक्षरच्युत, निन्हुवैकालापक, बहिर्लापिका, अन्तर्लापिका, आदि विषम सन्तरालापक, प्रश्नोत्तर, गोमूत्रिका, अर्धभ्रम जैसे छन्दो का मनोहारी सरस प्रयोग है। कुछ नमूने पेश हैं—

पहेली नाभेरभिमतो राजस्त्वयि रक्तो न कामुकः,

न कुतोऽप्यधर कान्त्या यः सदोजोधर स कः।

इस पहेली का जवाब पहेली पर ही रखा है। देवी पूछती है—

आप मे रक्त (आसक्त) होते हुए भी जो नाभिराजा को अभिमत (प्रिय) है, कामुक भी नही है, अधर (नीचे) भी नही है, कान्ति के कारण वह सदा ओजधर (ओजस्वी) रहता है, वह कौन है ?

माता मरुदेवी का उत्तर है—अधर क्योकि अधर न स्वय कामुक है, शरीर के नीचे भाग मे स्थित नही है, सदा कान्तिमान है और पति नाभिराय को प्रिय है ही।

क्रियागुप्त :

नयनानन्दिनी रूपसंपद ग्लानिमम्बिके,

आहाररतिमुत्सृज्य नानाशानामृतं सति।

इस पद्य मे 'नय' और 'अशान' क्रियाएं गुप्त हैं।

हे सति, हे माता आप आनददायिनी रूप संपत्ति को ग्लानि में न लाएं (नय न) आहार से प्रेम छोड़कर नाना प्रकार के अमृत का भोजन कीजिए (अशान)।

स्पष्टान्धक :

वटवृक्ष. पुरोऽय ते घनच्छायः स्थितो महान्,

इत्युक्तोऽपि न त घर्मेश्रित कोऽपि वदाद्भुतम्।

(पृ० २१ का शेषांश)

देखने पर, देखने वाले पर रहना चाहिए। जब यह अभ्यास गहरा होगा तब अन्य कार्य करते हुए भी ज्ञाता पर जोर आ जायेगा और तत्काल ऐसा लगेगा वह काम तो हो रहा है परन्तु मैं जान रहा हूं, इसी रास्ते से आगे बढ़ने का उपाय होता है। उस समय भूत, भविष्यत् की बुद्धिपूर्वक वाली चिन्ताओं के रुकने से जो शांति का आभास होगा वह परमशांत अवस्था का नमूना है। पं. प्रवर टोडर मल जी साक्षीभाव के लिए यह लिखा है—"साक्षी भूत तो वाका नाम है जो स्वयमेव जैसे होय तैसे देख्या जान्या करै। जो इष्ट अनिष्ट मानि राग-द्वेष उपजावै ताको साक्षीभूत कैसे कहिए जातै साक्षीभूत रहना अर कर्त्ता हर्त्ता होना ये दोऊ परस्पर विरोधी हैं। एक कै दोउ सम्भवै नाहीं।" 卐

देवी का सवाल है—यह गहरी छाया वाला बड़ा बड़ का पेड़ आपके सामने खड़ा है ऐसा कहने पर भी धूप में खड़ा कोई व्यक्ति वहां नही गया—बताइए यह कैसा आश्चर्य है ?

जवाब में माता कहती है कि इसमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि दर असल इसका अर्थ इस प्रकार है—

वटवृक्ष (वट+वृक्ष अर्थात् हे वट्, यह रींछ) तेरे सामने घनच्छायः (बादल के समान काला) बड़ा भारी खड़ा है ऐसा कहने पर भला कौन वहां जाता चाहे धूप में ही क्यों न खड़ा हो।

निरोष्ठ्य :

जगज्जयी जितानङ्गः सता गतिरनन्तदृक्,
तीर्थकृत्कृत कृत्यश्च जयतात्तनयः स ते।

इस पद्य का अर्थ सरल है किन्तु इसमे उकार पवर्ग और उपध्मानीय अक्षर नही है।

एकाक्षर च्युत :

का—कः श्रयते नित्यं का—की सुरतप्रियाम्,
का—नने वदेदानी च—रक्षरविच्युतम्।

देवी पूछती है—हे माता, किसी वन में एक कौआ सम्भोगप्रिय कागली का निरन्तर सेवन करता है परन्तु इसमें चार अक्षर कम है।

मरुदेवी ने पूर्ति की—

कामुकः श्रयते नित्य कामुकी सुरतप्रियाम्,
कान्तानने वदेदानीं चतुरक्षर विच्युतम्।

हे सुन्दरमुखी, कामी पुरुष सम्भोग प्रिय कामिनी का सदा सेवन करता है। इस प्रकार चारो एकाक्षर की पूर्ति कर दी।

बिन्दु च्युत :

मकरन्दारुणं तोय धत्ते तत्पुरखातिका,
साम्बुजं क्वचिदुद्बिन्दु चलत् मकरदारुणम्।

देवी वर्णन करती है—उसके नगर की परिखा ऐसा जल धारण कर रही है जो लाल कमलों के पराग से लाल हो रहा है, कहीं कमलों से सहित है, कहीं उछती हुई जल की छोटी-छोटी बूंदो से शोभायमान है और कहीं जल मे चल रहे मगरमच्छ आदि से भयंकर है।

इस पद्य में तोयं व जलं शब्द पानी के लिए दो बार प्रयोग होने से जलं का बिन्दु लोप करके जल मकरदारुणम् पाठ किया जाता है। इसी प्रकार प्रारंभ के मकरदारुणम् बिन्दु लोप करके मकरदारुणम् तथा अंत के मकरदारुणम् में बिन्दु जोड़कर मकरंदारुणम् पाठ आसानी से करके भी वही अर्थ सारे पद्य का निकाला जा सकता है।

आदिव्यञ्जन पृथक्

वराशनेषु को रुच्यः को गम्भीरो जलाशयः,
का कान्तस्तव तन्वांगी वदादिव्यञ्जनैः पृथक्।

हे तन्वांगि उत्तम भोजनों में रुचि बढ़ाने वाला क्या है ? गहरा जलाशय क्या है और आपका पति कौन है ? तीनों प्रश्नों के जवाब मे आदि व्यञ्जन पृथक् हो ? श्लोक में जवाब नहीं है किन्तु कवि ने लिखा है कि माता मरुदेवी का जवाब था—'सूप', 'कूप' और 'भूप'।

गोमूत्रिक :

गो मूत्र के समान ऊँचे नीचे वाले छन्द का नाम गोमूत्रिका होता है—देवी कहती है—

त्वमम्ब रेचितं पश्य नाटके सुरसान्वितम्,
स्वमम्बरे चितं वैश्यपेटकं सुरसारितम्।

हे माता नाटक में होने वाले रसीले नृत्य को देखिए, तथा देवों द्वारा लाया हुआ और आकाश मे एक जगह इकट्ठा हुआ यह अप्सराओं का समूह भी देखिए।

इस गोमूत्रिका को समझने के लिए निम्न चित्र देखिए—

त्व		व	चि	प	ना	के		र	न्वि
	म	रे	त	श्य	ट		सु	सा	तं
स्व	ब	श्चि	वै	पे	कं		र	रि	

बीच की पंक्ति के अक्षर दोनों श्लोकार्धों में हैं इन्हीं को जहह स गोमूत्र सम पंक्ति निर्मित हो सकी है। बीच की पंक्ति के अक्षरों को दोनों ही प्रथम व तृतीय पंक्ति पढ़ने मे साथ में पढ़ना होगा।

इस विशिष्ट कवि गोष्ठी के अतिरिक्त सर्ग १९ ऐसी विशेषताओं से भरा पड़ा है। देखिए—

सानूनस्य द्रुतमुपयान्ती घनसारात्
सारासारा जलदघटेय समसारान्

तारातारा धरणिधरस्य स्वरसारा
सारान् व्यक्ति मुहुरुपयातिस्तनितेन ।।१७५।।
सारासारा सारसमाला सरसीयं सारं
कूजत्यत्र वनान्ते सुरकान्ते ।
सारासारा नीरदमाला नभसीयं तारं
मन्द्र निश्वनतीतः स्वनसारा ।
श्रित्वास्याद्रेः सारमणीद्ध तटभाग
सारं तारं चारुतरागं रमणीयम् ।
सम्भोगान्ते गायति कान्त रमयन्ती
सा रन्तारं चारुतरागं रमणीयम् ।।१७६-१७७।।

विजयार्ध पर्वत का वर्णन किया जा रहा है—

यह उत्कृष्ट वेग से बरसने वाली (सारासारा) तारा के समान अतिशय निर्मल (तारा तारा) यह जलद घटा इस धरणीधर की एकसी ऊँचाई (समसारान्) वाले शिखरो (सानून्) के पास बार बार (मुहु.) जल्दी से (हुतं) जोर से (घनसारात्) आती है किन्तु जब गरजती है (स्तनितेन) तब ही व्यक्त होती है (वर्ना पता ही नही चलता) ।।१७५।।

इधर देवों से शोभित (सुरकान्ते) वन के बीच में (वान्ते) तालाब में यह आने जाने वाली (सारासारा) सारस पंक्ति (सारसमाला) जोर से (सारं) कूजन कर रही हैं ।।१७६।।

आकाश मे जोर से बरसती (सारासारा) और शब्द करती हुई यह मेघमाला उच्च और गम्भीर स्वर से गरज रही है।

संभोग बाद इस अद्रि के श्रेष्ठ मणियों से देदीप्यमान (सारमणीद्ध) अतिशय सुन्दर तटभाग पर आश्रय लेकर उस पति को जो रमण करने के योग्य है (रंतारं) श्रेष्ठ व निर्मल व सुन्दर शरीर वाला है प्रसन्न करने के लिए (रमयन्ती) कोई स्त्री उच्च स्वर से मनोहारी गायन कर रही है।

इस काव्यानद के लिए पं० पन्नालाल जी द्वारा सपादित अनूदित आदिपुराण प्रथम भाग का सहारा लिया गया है। रसास्वादन के अरिरिक्त प्रस्तुत लेखक का कोई योगदान नही है। □□

सही क्या है ? एक प्रश्न

जिनसेन प्रथम के हरिवंशपुराण (७८३ ई०) के सर्ग ८, श्लोक १७६–१७७ मे भगवान आदिनाथ के कान कुण्डलों की शोभा का वर्णन इस प्रकार किया है—

कर्णाविक्षतकायस्य कथंचिद् वज्रपाणिना, विद्धौ वज्रघनौ तस्य वज्रसूचीमुखेन तौ।
कृताभ्यां कणयोरीशः कुण्डलाभ्यामभात्ततः, जम्बूद्वीपः सुभानुभ्यां सेवकाभ्यामिवान्वितः ।।

ऐसे अक्षतकाय जिन बालक के वज्र के समान मजबूत कानों को इन्द्र वज्रमयी सूची की नोक से किसी तरह वेध सका था। तदनंतर कानों मे पहनाए हुए दो कुण्डलों से भगवान् इस तरह शोभित हो रहे थे जिस तरह कि सदा सेवा करने वाले दो सूर्यों से जम्बूद्वीप सुशोभित होता है।

जिनसेन द्वितीय ने आदिपुराण (८४८ ई०) के चतुर्दश पर्व श्लोक १० में बताया है—

कर्णाविद्ध सच्छिद्रौ कुण्डलाभ्यां विरेजतुः।
कान्तिदीप्ती मुखे द्रष्टुमिन्द्रार्काभ्यामिवाभितौ ।।

भगवान के दोनो कान बिना भेदन किए ही छिद्र सहित थे। इन्द्राणी ने उनमे मणिमय कुण्डल पहनाए थे, जिसमे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों भगवान् के मुख की कान्ति और दीप्ति को रखने के लिए सूर्य और चन्द्रमा ही उनके पास पहुचे हों।

शंका यह है कि क्या तीर्थंकरों के कान बिना भेदन के जन्मजात सछिद्र होते थे अथवा इन्द्र वज्र सूची से उनका कर्णभेदन संस्कार करता था ? क्या तीर्थंकरों की मूर्तियों में कान सछिद्र दिखाये जाते हैं ?

पाठक शंका समाधान सम्पादक अनेकान्त को लिखकर करने की कृपा करें। —मांगीलाल जैन, नई दिल्ली

कुन्दकुन्द की प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोज

□ डॉ० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार

प्राचीन प्राकृत आगम परम्परा में कुन्दकुन्द का सातिशय महत्व है। इसीलिए भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर के साथ उनका स्मरण किया जाता है। उनके ग्रन्थों में श्रमण परम्परा का सांस्कृतिक इतिहास सुरक्षित है। भाषा की दृष्टि से भी उनके ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण हैं। कुन्दकुन्द के ग्रथों में ऐसे विषय सुरक्षित हैं, जो अन्य आगमों में उपलब्ध नहीं हैं। अभी भी भारत तथा विदेशों मे कुन्दकुन्द के ग्रंथों की शताधिक पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। आज तक उनका पूरा सर्वेक्षण नहीं हुआ। सर्वेक्षण के अभाव में उनके ज्ञात सभी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो पाये। सभी शास्त्र भंडारों का सर्वेक्षण होने पर उनके अन्य ग्रन्थ भी मिलना सम्भव है, जो आज तक मात्र सूचनाओं में है। उनके उपलब्ध ग्रन्थों की पाडुलिपियों की सूची भी प्रकाशित नहीं हुई, इससे यह निश्चित रूप से कह पाना सम्भव नहीं है कि किस ग्रन्थ की कितनी पाण्डुलिपियां कहां सुरक्षित है।

कुन्दकुन्द के प्रत्येक ग्रन्थ के अनेक संस्करण निकले हैं। उनमें प्राय एक-दो प्राचीन पाण्डुलिपियों का उपयोग हुआ है। सम्पादन और पाठालोचन के अभाव में अध्ययन-अनुसन्धान भी गलत दिशा में जा रहा है। अतः सम्पादन-पाठालोचन के मान्य सिद्धान्तों के आधार पर कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण अत्यन्त आवश्यक हैं। कुन्दकुन्द के दो हजारवें वर्ष में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्राकृत एवं जैनागम विभाग में उक्त कार्य प्राकृत एवं जैनविद्या के मान्य विद्वान् प्रोफेसर गोकुलचन्द्र जैन के निर्देशन में आरम्भ हुआ है। मैं उक्त विभाग मे यू० जी० सी० प्रोजेक्ट के अन्तर्गत नियमसार का पाठालोचन पूर्वक सम्पादन कर रहा हूं। अन्य ग्रन्थों पर दूसरे विद्वान् कार्य कर रहे हैं।

सम्पादन योजना के अन्तर्गत मैंने नियमसार की पाण्डुलिपियों की खोज का कार्य प्रारम्भ किया। इस सन्दर्भ मे देश-विदेश के शोध संस्थानों, पाण्डुलिपि संग्रहालयों, मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों, निजी संग्रहों के स्वामियों विद्वानों से पत्राचार द्वारा नियमसार की पाण्डुलिपियों की जानकारी हेतु निवेदन किया है। राजस्थान, दिल्ली एवं मध्यप्रदेश के कतिपय प्राचीन शास्त्र भंडारों में स्वयं जाकर सर्वेक्षण किया। सर्वेक्षण से प्राप्त कतिपय महत्वपूर्ण सूचनाओं का उल्लेख मैंने अपने विगत लेखों मे किया है।

नियमसार के प्रकाशित संस्करणों की प्रस्तावनाओं मे चार पाण्डुलिपियों की सूचना प्राप्त हुई। किन्तु उनमें से एक भी पांडुलिपि उपलब्ध नहीं हुई। प्रथम संस्करण मे उपयोग की गई पांडुलिपि भी शास्त्रभंडार मे उपलब्ध नहीं है। अन्य तीन से पूरे सम्पर्कसूत्र प्राप्त नही हो पाये।

नियमसार की पाण्डुलिपियों की खोज के क्रम में मैंने देश-विदेश के लगभग पचास पांडुलिपि संग्रहालयों की ग्रन्थसूचियों (कैटलाग्स) का सर्वेक्षण किया। इस सर्वेक्षण से लगभग तीस पांडुलिपियों की सूचना मिली है। उन सबकी फोटो या जीराक्स प्राप्त करने हेतु सम्पर्क किया जा रहा है। नियमसार की एक पांडुलिपि स्ट्रासवर्ग लायब्रेरी जर्मनी मे भी सुरक्षित है। उसे प्राप्त करने हेतु प्रयत्न हो रहे है।

राजस्थान की सर्वेक्षण यात्रा में चार नयी पांडुलिपियों की जानकारी मिली। उनमे दो महापूत चैत्यालय, अजमेर तथा दो सिद्धकूट चैत्यालय अजमेर की है। इनमें से दो पांडुलिपियां मूल गाथाओं की हैं। एक हिन्दी टीका तथा एक संस्कृत टीका सहित है। मध्यप्रदेश के सर्वेक्षण में गौराबाई दि० जैन मन्दिर, कटरा बाजार, सागर के मंदिर में एक पांडुलिपि की सूचना मिली, किन्तु पांडुलिपि वहां उपलब्ध नही है। इन दो सर्वेक्षण यात्राओं में पाँच नई पांडुलिपियों की सूचनायें प्राप्त हुई हैं।

नियमसार की अब तक प्राप्त पांडुलिपियों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं :—

१. आमेर शास्त्रभंडार, जयपुर (संख्या ५८६)

इसमें मूलप्राकृत गाथायें, संस्कृत छाया तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका है। इसकी पत्रसंख्या १२६ है। प्रत्येक पृष्ठ पर ६ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में अक्षरों की संख्या ३८-३६ तक है। इसकी मूल पांडुलिपि साहु राजाराम के पढ़ने के लिए महात्मा गोवर्द्धन ने पाटसूनगर में संवत् १७६६ में लिखी थी। उसी से संवत् १८२४ में यह प्रतिलिपि की गई है।

२. आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर (५८८)

यह मूलप्राकृत, संस्कृत छाया एवं तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका सहित है। इसकी पत्रसंख्या ८४ है। पंक्तियां प्रति पृष्ठ ११ हैं। यह संवत् १८३७ की पांडुलिपि से सं० १६१५ में प्रतिलिपि की गई है।

३. सरस्वती भवन, मंदिरजी ठोलियान, जयपुर (संख्या ३१७)

यह प्रति मूलप्राकृत, संस्कृतछाया, तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका सहित है। पत्रसंख्या १२७ तथा प्रतिपृष्ठ पंक्ति संख्या ६ है। इसमें दो प्रकार की लिपि है। अन्तिम प्रशस्ति मे लिपिकाल सूचक श्लोक इस प्रकार है—
"संवत् कृपानाथगजर्षिचन्द्रे मासे सिते वर्तिनि मार्गशीर्षे।
षष्ठयां तिथौ संलिखितो मयैष ग्रंथो विचार्यो विदुषादरेण॥"

४. दि० जैन सरस्वती भंडार लूणकरण पांड्या जयपुर

इसमें मूल प्राकृत, संस्कृत छाया, तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका संकलित है। पत्रसंख्या ८३ तथा पंक्ति संख्या प्रति-पृष्ठ १२ है। इसका लेखनकाल संवत् १७६४ है।

५. दि० जैन सरस्वती भंडार, नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली (संख्या ई-१३(क))

प्रति मूल प्राकृत, संस्कृत छाया एवं तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका सहित है। पत्रसंख्या ७७ तथा प्रतिपृष्ठ पंक्तियाँ १२ हैं। प्रति पंक्ति अक्षर ४२-४६ हैं। संवत् १८६१ में महात्मा गुमानीराम के पुत्र ने इसे लिपिबद्ध किया है।

६. दि० जैन मन्दिर पार्श्वनाथ चौगान, बूंदी

इसमें मूल प्राकृत गाथाएं तथा हिन्दी भाषा टीका है। इसकी पत्र संख्या १५३, पंक्तियाँ प्रति पृष्ठ १२ तथा प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ३८-४० है। संवत् १६७६ में प्रति तैयार की गई है। हिन्दी टीका ब्र० शीतलप्रसाद कृत है। ऐसा नियमसार के प्रथम संस्करण की भूमिका से स्पष्ट है, जो स्वयं ब्र० शीतलप्रसाद द्वारा सम्पादित एवं हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित है। डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल ने राजस्थान के शास्त्र भंडारों की सूची भाग ५, पृ० ७० पर भाषा टीकाकार जयचन्द छाबड़ा को लिखा है। प्रति के लेखनकाल में भी १२ वर्ष का अन्तर है। इसकी एक प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा के संग्रह में है। पत्र संख्या १२० है। लिपिकार संवत् १६७७ है।

इसकी एक अन्य प्रति महापूत चैत्यालय, सरावगी मुहल्ला, अजमेर में भी है। यह संवत् १६८६ में लिखी गई है।

७. सेनगण दि० जैन मन्दिर, कारंजा

प्रति में मूलप्राकृत, संस्कृत छाया, तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका है। पत्र संख्या १५६ है। प्रत्येक पृष्ठ पर ६ पंक्तियाँ हैं तथा प्रति पंक्ति अक्षर संख्या २६-३० है। प्रति में लिपिकाल का उल्लेख नहीं है।

८ सिद्धकूट चैत्यालय, अजमेर

इसमे मूल प्राकृत गाथाएँ हैं। पत्र संख्या ११ तथा प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ८ है। लिपिकाल का उल्लेख नहीं है।

६. ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, ब्यावर

मात्र मूल प्राकृत गाथाएँ हैं। पत्र संख्या १० तथा पंक्ति संख्या प्रति पृष्ठ १४ है। लिपिकाल का उल्लेख नहीं है।

१०. महापूत चैत्यालय, अजमेर

मूल प्राकृत गाथाएँ मात्र हैं। पत्र संख्या १३ है। प्रत्येक पृष्ठ पर ८ पंक्तियाँ हैं। लेखनकाल का उल्लेख नहीं है।

क्रम संख्या ८, ६, १० की तीनों मूल गाथाओं की पांडुलिपियाँ संस्कृत टीका की प्रति से तैयार हुई हैं।

(शेष पृ० २६ पर)

गतांक से आगे :

अपरिग्रही ही आत्मदर्शन का अधिकारी

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री संपादक 'अनेकान्त'

जैन का मूल अपरिग्रह है और अहिंसा आदि सभी इसी की सन्तान हैं। इसी हेतु हमारे पूर्व महापुरुषों व आचार्यों ने अपना लक्ष्य अपरिग्रह को बनाया। और वे पूर्ण अपरिग्रही होने से पूर्व मोक्ष न पा सके। गत अंकों में हम इसी विषय को आधार बनाकर जैन के महत्त्व को दर्शाते रहे हैं। हमारा उद्देश्य है कि आज का जैन, जो इस मूलमार्ग से भटक गया है और कहीं-कहीं परिग्रह समेटे ही आत्मा को देखने-दिखाने की बातें करने लगा है प्रकारान्तर से तीर्थंकरों के आचारयुक्त व वैराग्यभाव के मार्ग से मुंह मोड़ने लगा है, वह सु-मार्ग पर आए। आश्चर्य नहीं कि कुछ परिग्रह-प्रेमी लोग अपरिग्रह जैसे मूल जैन सिद्धान्त से मुकर रहे हों। अभी हमने लिखा था—'अपरिग्रही ही आत्म-दर्शन का अधिकारी।' इस पर हमें एक विचार मिला कि—

चौथे गुण स्थान में नाम मात्र को चारित्र—परिग्रह-त्याग व संयम नहीं होता, पर वहां पर सम्यग्दर्शन के कारण आत्मानुभव हो जाता है। सो क्या यह परिग्रह अवस्था में आत्मानुभव की बात ठीक नहीं? इस गुण-स्थान में तो जीव परिग्रही ही होता है—आदि।

हमारी समझ से आगम के विभिन्न उद्धरणों से तो अपरिग्रह में ही आत्मानुभव की पुष्टि होती है। अधिक क्या, सम्यग्दर्शन भी अपरिग्रही भाव में उत्पन्न होता है यही सिद्ध होता है। यथा—

१. सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।

२. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥

३. एकान्ते नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेवनियमादात्मा च तावानयम्,।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमां आत्मायमेकोऽस्तुनः।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकरूपताहोना मोक्ष का मार्ग है। निर्मोही—मूर्च्छा रहित अपरिग्रही गृहस्थ मोक्षमार्ग-स्थित है और मोही ग्रहत्यागी-मुनि नाम धारक व्यक्ति से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है। 'जीव वस्तु चेतना लक्षण तो सहज ही है परन्तु मिथ्यात्व परि-णाम के कारण भ्रमित हुआ अपने स्वरूप को नहीं जानता इसे अज्ञानी ही कहना। अतएव ऐसा कहा कि मिथ्या परिणाम के जाने से यही जीव अपने स्वरूप का अनुभव-शीलो होग्रो। क्या करके? 'इमां नवतत्त्व सन्तति मुक्त्वा' नव तत्त्वों की अनादि सन्तति को छोड़कर। भावार्थ इस प्रकार है—संसार अवस्था मे जीवद्रव्य नौ तत्त्वरूप परि-णमा है, वह तो विभाव परिणति है, इसलिए नौ तत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्वरूपी परिग्रह को छोड़कर शुद्धनय से अपने एकत्व में आना सम्यक्त्व है।' इसी प्रकार आत्मदर्शन के लिए भी सर्व प्रकारके उस परिग्रह (जो विभाव रूप है) को छोड़ना जरूरी है और इसी परिग्रह के छोड़ने पर हम जोर दे रहे है और यही परिग्रह-त्याग जैन का मूल है।

इसमें मतभेद नहीं कि सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है और गुणस्थानो की चर्चा भी उपयोगी है। पर हमारे अनुभव में ऐसा आने लगा है कि आज कुछ लोगों को पहिचान से बाह्य होने जैसे सम्यग्दर्शन और गुणस्थानों की चर्चा परिग्रह-सचय का बहाना जैसी बन बैठी है और ऐसे लोग चतुर्थ गुणस्थान से आगे-पीछे नहीं हटना चाहते—आगे बढ़े तो त्याग, व्रतादि में प्रवेश का सकट और पीछे चले तो सम्यग्दर्शन मे मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीरूप भूत की बाधा। ऐसे जिस व्यक्ति से बात करो वह आत्म दर्शन को सम्यग्दर्शन से जोड़ने लगता है। कहता है—जिसको सम्यग्दर्शन होगा उसे ही आत्मदर्शन होगा या आत्मदर्शन वाले को नियम से सम्यग्दर्शन होगा, आदि।

सो हम भी इसका निषेध नहीं करते। हां, हम कुछ और गहराई में जाकर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे भी मूल कारण मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी परिग्रहों के अभाव पर भी लक्ष्य दिलाते है। क्योंकि इनके अपरिहार मे सम्यग्दर्शन दुर्लभ है। और इस परिग्रह के त्याग के बिना आगे के गुणस्थान और अन्ततः मोक्ष भी दुर्लभ है। इसलिए हम अपरिग्रह से आत्मदर्शन की व्याप्ति बिठाते है मात्र बाह्य वेष से नहीं।

चौथे गुणस्थानवर्ती जीव के लिए छहढाला मे स्पष्ट कहा गया है—

'गेही पै गृह मे न रुचे ज्यो जल मे भिन्न कमल है।
नगर नारि को प्यार यथा, कादे मे हेम अमल है॥'

उक्त भाव अपरिग्रहरूप ही है। आचार्यों ने मूर्च्छा-ममत्वभाव को अन्तरंग परिग्रह मे लिया है और इसके बिना ही बहिरंग का त्याग सम्भव है। यदि बाह्य मे त्याग है और अन्तरग मे मूर्च्छा है तो वह अपरिग्रह भी मात्र कोरा दिखावा-छलावा है। हम मात्र बाह्यवेश को ही अपरिग्रह मे नही मानते। 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः', 'निर्मोही नैव मोहवान्' और 'नवतत्त्व सतति के विकल्प को छोड़ना' व 'द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्' भी तो अपरिग्रह की श्रेणी मे ही है।

हम तो स्पष्ट कहेंगे कि समस्त जैन, अपरिग्रह से सराबोर है और जैन की जड़ मे भी अपरिग्रह समाया हुआ है। ऐसे मे कैसे सम्भव है कि मूर्छा-परिग्रह सजोते हुए आत्मदर्शन हो जाय या सम्यग्दर्शन भी हो जाय ?

चतुर्थ गुणस्थान का नाम अविरत सम्यग्दृष्टि है। इस गुणस्थान के विषय मे कहा गया है कि—

'णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्त, सम्माइट्ठो अविरदो सो॥'

जो इन्द्रिय-विषयो से विरत नही है, त्रस-स्थावर रक्षा मे सन्नद्ध नही है, पर जिन-वचनों, सप्त तत्त्वो मे श्रद्धा मात्र रखता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि जीव होता है। पर इस गुणस्थान के लिए मिथ्यात्व (जो घोर परिग्रह है) और अनतानुबधी चौकड़ी रूप परिग्रह का न होना अनिवार्य है। और उनके अभाव मे ही सम्यग्दर्शन होता है। फलतः—यदि मूर्च्छा (पर में अपनत्वबुद्धि) के त्यागरूप अपरिग्रह के साथ सम्यग्दर्शन और आत्मदर्शन की व्याप्ति की जाय तो इसमे गहराई ही है। आखिर, हमने ऐसा तो कहा नही कि 'पूर्ण अपरिग्रही ही सम्यग्दर्शन का अधिकारी है। हमने तो परिग्रह के एकांश और मिथ्यात्वरूपी जड़ को भी पकड़ा है जिसे आचार्यों ने परिग्रह माना है।

जीव को सम्यग्दर्शन के लिए जिन तत्त्वो का श्रद्धान होना बतलाया है वे तत्त्व भी विभाव भावरूप—कर्मरूप परिग्रह के ज्ञान कराने और त्याग भाव में ही है और तत्त्वों का क्रम भी कर्म-परिग्रह को दर्शाने के भाव मे ही है और मोक्ष मार्गरूप रत्नत्रय भी अपरिग्रह से ही फलित होता है। फिर भी हम 'सम्यग्दृष्टि को आत्मदर्शन होता है' इसका निषेध नही करते, हम तो और गहराई मे जाकर उन परिग्रहों (मिथ्यात्व आदि व बाह्यपरिग्रह) के अभाव पर ही जोर देते हैं जो कि सम्यग्दर्शन के होने मे और आगे बढने में भी बाधक हैं।

कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीव भी, जब तक चारित्रमोहनीय का प्रबल उदय है, चारित्र धारण नहीं कर सकता। सो हमे यह स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नही—यदि यह निश्चय हो जाय कि अमुक जीव सम्यग्दृष्टि है या अमुक के अमुक गुणस्थान है। वरना प्रायः जो हो रहा है, वही और वैसा ही होता रहेगा। सम्यग्दर्शन और आत्मोपलब्धि कराने के बहाने परिग्रह-संचय चलता रहेगा। आज इसी आत्मदर्शन प्राप्ति की रट मे चारित्र भी स्वाहा हो रहा है। यदि किसी पर कोई पैमाना सम्यग्दर्शन और गुणस्थानों की पहिचान का हो तो देखें। खेद यह है कि आज इस पहिचान का कोई पैमाना नही तब लोग सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए ढोल पीटे जा रहे है और पहिचान का जो पैमाना (अन्तरंग-बहिरंग) परिग्रह मूर्च्छा के त्याग जैसा है उसकी उपेक्षा कर रहे हैं—बाह्य परिग्रह में भी लिपट रहे हैं जब कि तीर्थंकरो ने उसे भी सर्वथा निषिद्ध कहा है।

आगम मे पच्चीस दोषों का वर्णन आता है और सभी दोष कर्म (परिग्रह) जन्य होते हैं तथा जब तक इन दोषों का परिहार नही होता तब तक सम्यग्दर्शन निर्दोष नही कहलाता। इसके सिवाय आगम में सम्यग्दर्शन का मुख्य

(अन्तरंग) हेतु दर्शन मोहनीय रूप परिग्रह (जो मिथ्यात्व ही है) के क्षय आदि को ही कहा है—

'अंतर हेऊ भणिदा दंसण मोहस्स खयपहुदी।' इस भांति सम्यग्दर्शन का मूल अपरिग्रह ही ठहरता है। फिर आश्चर्य है कि अपरिग्रह के साथ आत्मोपलब्धि की व्याप्ति पर लोगों को आपत्ति हो और वे मात्र पहिचान से बाह्य—सम्यग्दर्शन के गुणगान में लगे हों और आत्मदर्शन की उत्पत्ति में बाधक मूर्च्छा और बाह्य परिग्रह से भी नाता जोड़े—आत्मा को दिखा रहे हों? विचारना यह भी होगा जिस सम्यग्दर्शन को आचार्यों ने सराग और वीतराग के भेदों में विभक्त किया है उनमें चौथे गुणस्थान में सराग सम्यग्दर्शन होता है या वीतराग? यदि सराग होता है तो राग में आत्मदर्शन कैसे? यदि वीतराग सम्यग्दर्शन होता है तो श्रेणी माड़ने पर कौनसा सम्यग्दर्शन होता है? आदि। पाठक इस पर विचार करें। हम इस पर आगे कुछ लिखेंगे। यह तो हम पहिले ही लिख आए हैं कि अरूपी आत्मा का शुद्ध-स्वरूप मोही छद्मस्थ की पकड़ से बाह्य है और परिग्रह-संचय करते क्षण तो उसकी पकड़ सर्वथा ही असम्भव-सी है।

एक बात और। जैन, निवृत्तिप्रधान धर्म है और तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र में भी निवृत्ति की ही बात कही गई है—मोक्षमार्ग को प्रधान रखा गया है। सम्यग्दर्शनादि उसी के साधन हैं और इन साधनों का साधन भी परिग्रह से निवृत्ति—अपरिग्रह—एकाकीपन ही है। फिर ऐसे मे कैसे सम्भव है कि हम एकाकी होने की बात करें और पर—परिग्रह से जुड़े रहें? फलतः—न तो सम्यग्दृष्टि अन्तर परिग्रहों मे रत होता है और ना ही कोई आत्म-दृष्टा ऐसा कर सकता है। तथा ना ही परिग्रही-भाव क्षण मे आत्मदर्शन होता है। अधिक क्या खुलासा करें? हमारा अभिप्राय निश्चय आत्मदर्शी से है—बनावटी या बाजारू आत्मदर्शियों से नही।

हम कई बार स्पष्ट कर चुके हैं कि हम जो भी लिखते हैं—'स्वान्तः सुखाय' लिखते हैं और आगम के आलोक में लिखते हैं। किसी को रास न आए तो इसे छोड़ दें? सचमुच आज के ससार में विरले हैं जो जैन के मूल—अपरिग्रह पर दृष्टि दे। (क्रमशः)

(पृ० २६ का शेषांश)

संस्कृत टीका के अनुसार इनमे मूल का विभाजन १२ अधिकारों में किया गया है।

उक्त सभी पाण्डुलिपियाँ कागज पर देवनागरी लिपि में लिखी हुई है। परिचय से यह भी स्पष्ट है कि प्रायः सभी प्रतियाँ उत्तर भारत की है। मात्र एक प्रति महाराष्ट्र के कारंजा भंडार की है।

कन्नड़ लिपि में ताडपत्र पर लिखी प्रतियों मे अभी तक जिनकी सूचना मिली हैं, उनमें जैन मठ श्रवणबेलगोला जैन मठ मूडबिद्री, ऐलक पन्नालाल सरस्वती, भवन उज्जैन की प्रतियां हैं। कुन्दकुन्द भारती दिल्ली मे भी कुछ प्रतियाँ सुरक्षित हैं। इनकी फोटो या जीराक्स हेतु सस्थाओं के सम्बद्ध अधिकारियों से निवेदन किया है।

उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर में विभिन्न कालों में धार्मिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान होते रहे हैं। इसमें मध्यप्रदेश की अहं भूमिका होना स्वाभाविक है। अतः कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की प्राचीन पाण्डुलिपियां मध्य-प्रदेश में भी सुरक्षित होनी चाहिए। इसके लिए विस्तृत सर्वेक्षण कार्यक्रम बनाया जा रहा है समय एव साधनो की सीमा होने पर भी मैंने कुछ सर्वेक्षण कार्य जून ९१ में किया है। अब पत्राचार एव अन्य माध्यमो से सम्पर्क किया जा रहा है।

नियमसार की प्राचीन पाण्डुलिपियो की खोज का कार्य निरन्तर चल रहा है। इस सन्दर्भ में देश के विभिन्न राज्यो के शोध सस्थानों, पांडुलिपि संग्रहालयो, मन्दिरों के शास्त्र भंडारों, निजी संग्रहों के मालिकों से सम्पर्क किया जा रहा है। खोज के क्रम मे मध्यप्रदेश तथा दक्षिण भारत की यात्रा का कार्यक्रम भी बनाया जा रहा है। सम्बद्ध व्यक्तियों, विद्वानों एवं कुन्दकुन्द प्रेमी जनों से मेरा विनम्र निवेदन है कि उनकी जानकारी मे कहीं भी नियमसार की प्राचीन पांडुलिपि हो तो उसकी सूचना मुझे देने की कृपा करें तथा उसकी जीराक्स या फोटो या माइक्रोफिल्म उपलब्ध कराने मे सहयोग करें।

आवास—२९, विजयानगरम् कालोनी,
भेलूपुर, वाराणसी-२२१०१०

देखो, कहीं श्रद्धा डगमगा न जाए

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री संपादक 'अनेकान्त'

जैसे हिन्दुओं के मूल ग्रन्थ वेद हैं और उन्हें ईश्वरकृत मानने जैसा विश्वास है। यह विश्वास कोरा और व्यर्थ नहीं है—इनमें श्रद्धा का बल हिन्दू के हिन्दुत्व को कायम रखने मे कारगर है। वैसे ही जैन आगम सर्वज्ञ-वाणी हैं और ऐसी श्रद्धा ही जैनियो के जैनत्व को कायम रखे हुए है। उक्त प्रकार की श्रद्धा जिस दिन क्षीण हो जायगी—जैनत्व भी लुप्त हो जायगा। जिनवाणी को परम्परित पूर्वाचार्य ही कायम रखे रहे—वे लगाव रहित—अपरिग्रही होने के कारण ही जिनवाणी के रहस्यो का उद्घाटन करने में समर्थ हुए। उन पूर्वाचार्यों मे हमारी उत्कट श्रद्धा है। यह कार्य रागी-द्वेषी जनो के वश का नहीं था।

जब मूल वेदो की विविध व्याख्याएँ स्व-मन्तव्यानुसार हुई तो हिन्दू लोग कहीं सायणाचार्य, कहीं महीधराचार्य और कहीं महर्षि दयानन्द के मत को मानने वाले जैसे विविध भागों में बंट गए। वैसे ही जैनियो में भी मूल की विविध व्याख्याओ को लेकर अनेकों मान्यताएं चल पड़ी और विवाद पनपने लगे। जैसे कही सोनगढ़ी, कहीं जयपुरी और कहीं स्थितिपालक की मान्यताएँ आदि। फिर भी आश्चर्य यह कि सभी अपने को मूलाम्नायी कहते रहे। हिन्दुओ में विवाद होने पर भी किसी ने वेदकर्ता और ऋचावाहक को लांछित नही किया—सबकी श्रद्धा उन पर टिकी रही। ऐसे ही जैनियो मे भी आगमवाहक आचार्यों और मूल में श्रद्धा जमी रही और जमी भी रहनी चाहिए।

कदाचित् यदि कोई तर्कवादी व्यक्ति (परिग्रही को आत्मदर्शन होना मानने जसी परिग्रह-प्रेमियो की मान्यतानुरूप—भ्रान्त परिपाटी की भाति) अपने तर्कों के बल पर आचार्यों को सन्देहास्पद स्थिति मे ला खड़ा करने की कोशिश करे और कहे कि जब 'सम्यग्दृष्टि की पहिचान दुर्लभ है और आगम में ग्यारह अंग नौ पूर्व के ज्ञाता को सुदृष्टि और द्रव्यलिंगी—मिथ्यादृष्टि होने तक के दोनों भांति के कथन हैं, और उसके उपदेशों से अनेकों जीवों के उद्धार होने की बात भी है। तब क्या गारण्टी है कि हमारे कुन्दकुन्दादि आचार्य सर्वथा सम्यग्दृष्टि ही रहे हों, आदि।' तो ऐसे वचनों से समाज की श्रद्धा डगमगा जायगी और जैन की हानि ही होगी। तथा प्रश्न यह भी खड़ा होगा कि जो पूर्वाचार्यों को सम्यग् या मिथ्यादृष्टि होने जैसी सन्देहास्पद लाइन में खड़ा करने की बात कर रहा हो, उसके वचनों को भी प्रामाणिकता कहाँ रहेगी। क्योंकि वह भी तो उन्ही आचार्यों के वचनों को आधार बना अपनी सचाई घोषित कर रहा है, जिन्हें उसने स्वयं सन्देहास्पद स्थिति मे ला खड़ा किया हो। सो हमें परम्परित आचार्यों को सन्देहास्पद न मानकर उन्हें सादर, सर्वथा सम्यग्दृष्टि ही मानना चाहिए—ऐसा हमारा निवेदन है।

यतः शुद्ध आत्मा सम्यग्ज्ञान स्वभावी है और सम्यग्ज्ञान मे मुख्य कारण सम्यक्त्व है। लोक में भी जिसे हम सरल आत्मा की आवाज के नाम से कह दिया करते हैं उससे भी अन्तरंग-भाव का बोध होता है और सम्यग्ज्ञानी के अन्तरग भावों से प्रसूत वाक्य को प्रमाणता होती है। और ऐसी प्रमाणता सम्यग्दृष्टि मे ही होती है। द्रव्यलिंगी तो मिथ्यादृष्टि होता है और उसका ज्ञान भी सम्यक्त्व बिना मिथ्या होता है और वचन भी उससे प्रभावित होते है। कदाचित् उसके उपदेश से कइयो को लाभ भी मिल जाय; पर उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही कहला सकता और न उसमे (सम्यक्त्व के बिना) वैसे कथन की शक्ति होती है जो 'आप्तोपज्ञमनुलंघ्यमदृष्टेष्ट विरोधकम्, तत्त्वोपदेशकृत' की समता को धारण कर सके। हमारे परम्परित आचार्य कुन्दकुन्दादि जैसा वस्तुतत्त्व का विवेचन कर

सके वह उनके सम्यक्त्व का ही प्रभाव था—जिसके कारण उनका ज्ञान निर्मल हुआ और वे जिनवाणी के रहस्य को वहन कर सके। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि की श्रद्धा तो 'जिन' से भी डगमगाई रहती है; तब वह जिन की वाणी का यथार्थ कथन कैसे कर सकता है ? अतः निश्चय ही हमारे परम्परित आचार्य सम्यग्दृष्टि ही थे जो 'अहमिक्को खलु-सुद्धो' जैसे वाक्य और वस्तु के गुण-पर्याय आदि का कथन करने में समर्थ हुए। ऐसी स्थिति में परम्परित किन्हीं भी आचार्य में अपने मिथ्या तर्क के बल पर 'वे सम्यग्दृष्टि थे या मिथ्यादृष्टि' जैसा भ्रम फैलाना आगम का घात करना होगा।

प्रश्न यह भी उठेगा कि आज जो नवीन-नवीन व्याख्यायें की जा रही हैं और छोटे-मोटे अनेक लेखक अनेक स्व ग्रन्थ लिखकर अपने नामों से प्रकाशित कराने की धुन मे हैं—जिन्हें नाम या अर्थ संग्रह का भूत सवार है। क्या, उन पर सम्यग्दृष्टि होने की कोई मुहर लगी है ? या कही वे भी विभिन्न वेषों में द्रव्यलिंगीवत् बाह्याचार-क्रिया तो नहीं कर रहे ? या वे निश्चय सम्यग्दृष्टि जिन भगवान की जिनवाणी को न कह अपनी वाणी कह रहे है तो उनके कथनानुसार कदाचित् मिथ्यादृष्टियों (?) द्वारा वहन की गई जिनवाणी और वे स्वयं भी प्रामाणिक कैसे है ? क्योंकि जैनियों में द्रव्यलिंगी को प्रामाणिकता नही दी गई—उसे मिथ्यादृष्टि कहा गया है और मिथ्यादृष्टि का वचन मद्यपायी के वचनों सदृश बावला जैसा वचन होता है। अतः उसकी बात सही कैसे मानी जाय ?

एक प्रसंग में हम पहिले भी लिख चुके हैं कि आधुनिक लेखकों की पुस्तकों से अल्पज्ञ भले ही धर्म-प्रचार होना मान लें पर, दूरगामी परिणाम तो जिनवाणी का लोप ही है। आश्चर्य नहीं कि ऐसे लेखन, व्यवहार से मूल आगमों के पठन-पाठन और परम्परित आचार्यों के नामों के स्मरण भी लुप्त हो जायें और वर्तमान लेखन व लेखकों के नाम उभर कर सामने रह जायें। यदि वर्तमान सिलसिला चलता रहा तो निश्चय ही जिनवाणी का लोप समझिए।

जिनवाणी की रक्षा के लिए प्राचीन आचार्य और उन द्वारा संकलित आगम के मूल का संरक्षण आवश्यक है और वह मूल-पाठी तैयार करने से ही होगा। जब तक नई वाणी लिखी जाती रहेगी तब तक मूल पीछे छूटता चला जायगा और एक दिन ऐसा आयगा कि जिनवाणी नाम शेष भी लुप्त हो जायगा तथा उसका स्थान अल्पज्ञ वाणी ले लेगी। फिर इसकी भी क्या गारण्टी है कि आज जो लिखा जा रहा है वह मूल का सही मन्तव्य ही हो, क्योंकि—"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना"—वर्तमान पन्थवाद भी इसी का जीता जागता उदाहरण है।

आगम के विषय मे 'अनात्मार्थं विनारागैः' और 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्त्वोपदेश कृत्' आदि कथन आए हैं। सो आज के कितने नए लेखक वीतरागी है, कितने परमार्थ चाहने वाले हैं, तथा उनमे कितने निष्पक्ष हैं, कितनों के ग्रन्थ सर्वथा अनुल्लंघ्य है, कितनों के कथन में प्रत्यक्ष—परोक्ष प्रमाणों से दूषण नहीं है, और कितने सर्व हितकारी हैं ? इस पर विचार किया जाय। पर यह निर्णय करना भी सरल नहीं—इसमें भी पक्षपात रहने की सम्भावना है। फलतः—मूल आगम और परम्परित आचार्य-नामों को स्थायी रखने के लिए आवश्यक है कि मूलपाठी तैयार किए जाय—अन्धाधुन्ध नए लेखनो पर रोक हो। क्योंकि जिनवाणी ही हमारा संबल है। उसकी व्याख्याएँ मौखिक वाचनो तक ही सीमित हों—ताकि गलत रिकार्ड से बचा जा सके।

दि० जैनों में स्तुति बोली जाती रही है—'जिनवाणी माता दर्शन की बलिहारियाँ' और सुना भी गया है कि किसी जमाने में लोग दक्षिण में जाकर महान् शास्त्रों के दर्शन मात्र से अपना जन्म सफल मान लिया करते थे। वर्तमान वातावरण के परिप्रेक्ष्य में कहीं भविष्य में उक्त तथ्य भी न झुंठला जाय और लोग परम्परित आचार्यों द्वारा संकलित परम्परित जिनवाणी के दर्शनो तक को भी न तरस जाएँ और उन्हें स्थान-स्थान पर जिनवाणी के स्थान पर नवीन लेखकों की वाणी जिनवाणी के रूप में दर्शन देने लगे। हम नहीं समझ पा रहे कि वर्तमान के

कितने लेखक परम्परित आचार्यों से महान् और सम्यग्ज्ञानी हैं, जो उनकी मूल रचनाओं से लोगों को वंचित कर स्वयं को आगे लाने में तत्पर होने जैसा कर रहे है और लोगो को जिनवाणी का सही तत्त्व दे पा रहे है ?

कभी-कभी हम सोचते हैं कि क्या हम उन जैसे श्रद्धानी भी नही जिन्होंने कुरआन के भावो को तोड़-मरोड कर लिखने जैसे दुःसाहस को बर्दाश्त नहीं किया था। काश, हममे एक भी ऐसा कट्टर श्रद्धालु निकला होता जो सम्यग्दृष्टिवत् आगम की रक्षा में सन्नद्ध होता, तो हममें आगम के प्रति भ्रान्त-विविध मतभेद न होते और हमें आगम के सुरक्षित रहने का स्पष्ट संकेत मिलता।

अन्त में निवेदन है कि यश अथवा अर्थ संग्रह से तत्पर कई लेखक गण हमारे कथन को उनके प्रति बगावत न समझें और ना हों एकाकी या संगठित हो, हमारे प्रति विद्रोह को सन्नद्ध हो—क्योंकि हम तो **'कहीं हमारी श्रद्धा न डगमगा जाए'** इसी भाव म कुछ लिख सकते हैं।

—:o:—

(पृ० ३ कवर का शेषांश)

कि मैं घट बनाऊँ, उसके अनन्तर उसके आत्मप्रदेश चञ्चल होते हैं जिनसे हस्तादि व्यापार होता है। हस्त के व्यापार द्वारा मृत्तिका को आर्द्र करता है पश्चात् दोनों हाथो मे उसे खूब गीली करता है, पश्चात् मिट्टी को चाक के ऊपर रखता है, पश्चात् दण्डादि द्वारा चक्र को घुमाता है। इसी भ्रमण मे हस्त के द्वारा मिट्टी को घटाकार बनाता है। पश्चात् जब घट बन जाता है तब उसे सूत के द्वारा पृथक कर पश्चात् अग्नि में पका लेता है। यहाँ पर जितने व्यापार हैं सब जुदे जुदे है फिर भी एक दूसरे मे सहकारी कारण है किन्तु जब घट निष्पन्न हो जाता है तब केवल मिट्टी ही उपादान कारण रह जाती है। अनन्तर जब घट फूट जाता है तब भी मिट्टी ही रहती है। इसी आशय को लेकर अष्टावक्र गीता मे लिखा है—

"मत्तो विनिर्गतं विश्वं, मय्येव च प्रशाम्यति।
मृदि कुम्भो जले वीचिः, कटकं कटके यथा॥"

जो पदार्थ जहाँ उदय होता है वही उसका लय होता है। यही कारण है कि वेदान्ती जगत का मूल कारण ब्रह्म मानते हैं। परमार्थ से देखा जाये तो आत्मा की विभावपरिणति ही का नाम संसार है किन्तु केवल आत्मा मे ही यह संसार नहीं हो सकता है। अतएव उन्होंने माया को स्वीकार किया है। इसका यह भाव है कि केवल ब्रह्म जगत का रचयिता नहीं। जब उसे माया का संसर्ग मिले तभी यह संसार बन सकता है। अब कल्पना करो कि यदि ब्रह्म सर्वथा शुद्ध था तब माया का ससर्ग कैसे हुआ ? शुद्ध विकार होता नही अतएव मानना पड़ेगा कि यह माया का सम्बन्ध अनादि से है। यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि अनादि से सम्बन्ध है तो छूटे कैसे ? उसका उत्तर सरल है कि बीज से अकुर होता है। यदि बीज दग्ध हो जावे तो अंकुरोत्पत्ति नही हो सकती। यही माया भव का बीज है। जब वास्तव तत्त्वज्ञान हो जाता है तब वह ससार का कारण जो भ्रमज्ञान है वह आप से आप पर्यायन्तर हो जाता है। (६, १०।१२।५१)

७. बहुत से मनुष्यों की यह धारणा हो गई है कि निमित्त कारण इतना प्रबल नही जितना उपादान होता है। यह महती भ्रान्ति है। कार्य की उत्पत्ति न तो केवल उपादान से होती है और न केवल निमित्त से किन्तु उपादान और सहकारी कारण के योग से कार्य उत्पन्न होता है। यद्यपि कार्य उपादान में ही होता है परन्तु निमित्त की सहकारिता बिना कदापि कार्य नही होता। जैसे कुम्भ मिट्टी से ही होता है परन्तु कुलालरूप निमित्त बिना कार्य नही होता। (२८।१२।५१)

(वर्णीवाणी से साभार)

निमित्त और उपादान

१. लोगों की भावना तो उत्तम है किन्तु परिणमन पदार्थों के कारण कूट के मिलने पर होता है। उपादान कारण में ही कार्य की उत्पत्ति होती है। किन्तु सहकारी कारण के बिना उपादान का विकास असम्भव है। (३।८।४७)

२. निमित्त के बिना उपादान का विकास नहीं होता। यद्यपि उपादान का विकास निमित्तरूप नहीं परिणमता परन्तु निमित्त की सहकारिता के बिना केवल उपादान कार्य का उत्पादक नहीं। (१६।११।४७)

३. जो काम होते हैं वह होते ही हैं, सामग्री से ही होते हैं। अहम्बुद्धि से आप अपने को सर्वथा कर्ता मानते हैं यही महती अज्ञानता है। यह कौन कहता है कि निमित्त रूप कार्य हुआ परन्तु अपने को सर्वथा कर्ता मानना न्याय सिद्धान्त के प्रतिकूल जाता है। घट उत्पत्ति कुम्भकार आदि के निमित्त से होती है परन्तु घट बना कहाँ? इसको मत छोड़ दो। तब तुम्हारा निमित्त भी चरितार्थ है। अन्यथा अभाव में संसार भर के कुम्भकार प्रयत्न करें क्या घट बन जावेगा? मृत्तिका के उपादान वाले यही पाठ घोषणा करते हैं कि मिट्टी ही घट की जनक है, कुम्भकार तो कुम्भकार ही है। तब जगत भर की मृत्तिका का सग्रह कर लो क्या कुम्भकार के बिना घट बन जावेगा? अतः यही मानना पड़ेगा कि घट के उत्पादन में सामग्री कारण है। केवल उपादान और केवल निमित्त दोनों ही अपने अस्तित्व को रक्खे रहो कुछ नहीं होगा। यही पद्धति सर्वत्र जानना। यदि इस प्रक्रिया को स्वीकार न करोगे तब कदापि कार्य की सत्ता न बनेगी। इस विषय मे वाद-विवाद कर मस्तिष्क को उन्मत्त बनाने की पद्धति है। इसी प्रकार जो भी कार्य हो उसके उपादान और निमित्त को देखो, व्यर्थ के विवाद में न पड़ो।

(२३।६।५१)

४. बहुत मनुष्यों की धारणा हो गई है कि जब कार्य होता है तब निमित्त स्वयं उपस्थित हो जाता है। यहाँ पर विचार करना चाहिए कि यदि निमित्त कुछ करता ही नहीं तब उसकी उपस्थिति की क्या आवश्यकता है? यदि कुछ आवश्यकता उसकी कार्य मे है तब उपादान ही केवल कार्य का उत्पादक है ऐसे दुराग्रह से क्या प्रयोजन? अष्टसहस्री मे श्री विद्यानन्द स्वामी ने लिखा है कि **"सामग्री हि कार्यजनिका नैकं कारणं"** कार्य की उत्पादक होती है, एक कारण नहीं। (१७।७।५१)

५. पदार्थों के परिणमन उपादान और निमित्त की सहकारिता मे होते हैं परन्तु जो सहकारी कारण होते है उसी समय किसी को सुख मे निमित्त होते है तथा किसी को दुःख मे निमित्त होते हैं। अतः उपादान कारण पर लोग विशेष बल देते हैं। यह ठीक है घट की उत्पत्ति मिट्टी से ही होगी, चाहे कुम्भकार ही बनावे, चाहे जुलाहा बनावे, चाहे वैश्य बनावे, किन्तु निमित्त कारण अवश्य वांछनीय है। (१५।१०।५१)

६. यद्यपि सभी पदार्थ अपने में ही परिणमन करते हैं परन्तु कार्य जब होता है तब उस विकास परिणाम के लिए उपादान कारण और निमित्त की अपेक्षा करता है। जैसे जब कुम्भकार घट बनाता है उस काल में मिट्टी, चक्र, चीवर, जल, दण्ड सूत्र को लेकर ही घट के निर्माण का उद्यम करता है। प्रथम तो उसके यह विकल्प होता है

(शेष पृ० ३२ पर)

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश ; पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड

पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४४ : कि० ४ अक्तूबर-दिसम्बर १९९१

इस अंक में—

क्रम	विषय	पृ०
१.	जिनवाणी-महिमा	१
२.	कर्नाटक में जैनधर्म—श्री राजमल जैन, दिल्ली	२
३.	अतिशय क्षेत्र अहार के यंत्र —डा० कस्तूरचन्द 'सुमन'	८
४.	मुनि श्री मदनकीर्ति द्वय—श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली	१५
५.	देवीदास भाय जी के दो पद	१८
६.	जैन यक्ष-यक्षी प्रतिमाएँ —श्री रमेश कुमार पाठक	१९
७.	कामा के कवि सेढूमल का काव्य —डा० गंगाराम गर्ग	२०
८.	परिग्रह पाप	२२
९.	सम्यग्दर्शन के तीन रूप —श्री मुन्नालाल जैन 'प्रभाकर'	२३
१०.	पद्मावती पूजन, समाधान का प्रयत्न —जस्टिस श्री मांगीलाल जैन	२६
११.	काशी के आराध्य सुपार्श्वनाथ —डा० हेमन्तकुमार जैन	२८
१२.	वर्तमान के सन्दर्भ में विचारणीय —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली	३०
१३.	आगमिक ज्ञान-कण	कवर पृ० २
१४.	हमने क्या खोया क्या पाया—श्री प्रेमचंद जैन	,, ३

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

आगमिक ज्ञान-कण

—ज्ञानी की ऐसी बुद्धि है कि जिसका संयोग हुआ उसका वियोग अवश्य होगा इसलिए विनाशीक से प्रीति नहीं करनी।

× × × ×

—जानने में और करने में परस्पर विरोध है। ज्ञाता रहेगा तो बन्ध न होगा यदि कर्ता होगा तो अवश्य बन्ध होगा।

× × × ×

—ज्ञान से बन्ध नहीं होता अज्ञान से बन्ध होता है। अविरत सम्यग्दृष्टि का पर का स्वामीपना छूट गया है चारित्रमोहनीयरूपी विकार होता है सोई बन्ध भी होता है मगर वह अनन्त ससार का कारण नही है क्योंकि स्वामीपना छूटने से अनन्त ससार छूट गया।

× × × ×

—आचार्य कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि तो मैं शुद्ध चैतन्य मात्र मूर्ति हू। परन्तु मेरी परिणति मोहकर्म के उदय का निमित्त पाकर मैली है—राग-द्वेष रूप हो रही है।

× × × ×

—द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्यो मे अपनी कल्पना करने को सकल्प और ज्ञेयो के भेद से ज्ञान में भेदों की प्रतीति को विकल्प कहते है।

× × × ×

—पर-द्रव्य मे आत्मा का विकल्प करता है वह तो अज्ञानी है। और अपने आत्मा को ही अपना मानता है वह ज्ञानी है।

× × × ×

—सर्वज्ञ ने ऐसा देखा है कि जड और चेतन द्रव्य ये दोनो सर्वथा पृथक् है कदाचित् किसी प्रकार से भी एक रूप नही होते।

× × × ×

—जब तक पर-वस्तु को भूलकर अपनी जानता है तब तक ही ममत्व रहता है और जब यथार्थ ज्ञान हो जाने से पर को पराई जाने, तब दूसरे की वस्तु से ममत्व नही रहता।

× × × ×

कषाय के उदय से होने वाली मिथ्या प्रवृत्ति को असयम कहते है।

× × × ×

—सम्यक्त्व तथा चारित्र के घातक का उदय सर्वथा थम जाने पर जो स्वभाव प्रकट होते है उन्हें औपशमिक कहते है।

× × × ×

— इच्छा है वह परिग्रह है जिसके इच्छा नही है उसके परिग्रह नही है।

(श्री शान्तिलाल जैन कागजी के सौजन्य से)

विद्वान् लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्राय: नहीं लिए जाते।

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

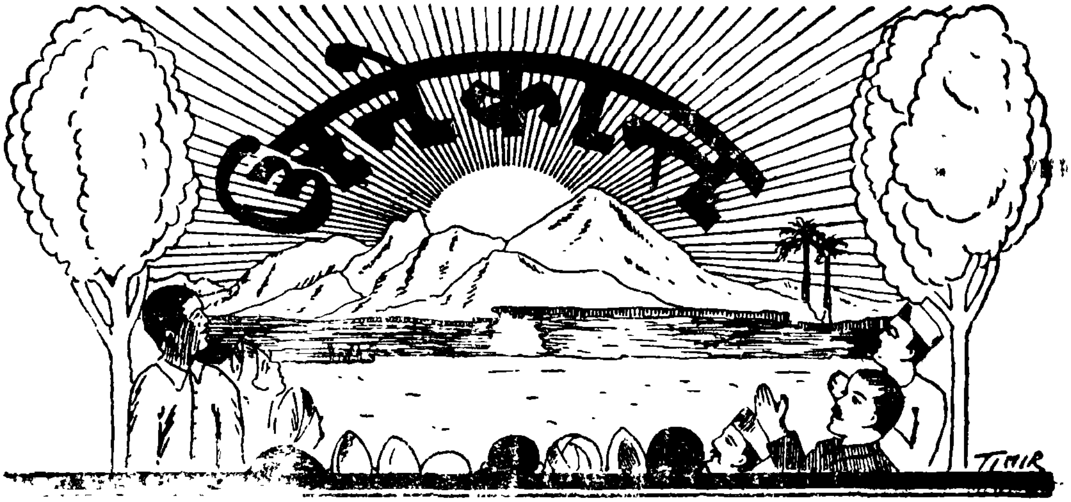

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४४ किरण ४

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०४८

अक्टूबर-दिसम्बर १९९१

जिनवाणी-महिमा

नित पीजो धी-धारी ।

जिनवानि सुधासम जानके नित पीजो धी-धारी ॥
वीर-मुखारविन्द तें प्रगटी, जन्म जरा गद-टारी ।
गौतमादिगुरु उर घट व्यापी, परम सुरुचि करतारी ॥
सलिल समान कलित, मलगंजन, बुध-मन-रंजनहारी ।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी ॥
कल्यानकतरु उपवन धरनी, तरनी भवजल-तारी ।
बन्धविदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी ॥
स्वपरस्वरूप प्रकाशन को यह, भानु-कला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदिनि-मोदन-शशिभा, शम सुख सुमन सुवारी ॥
जाको सेवत, बेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ॥
कोटि जीभि सौं महिमा जाको, कहि न सके पविधारी ।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी ॥

卐卐

गतांक से आगे :

कर्नाटक में जैन धर्म

□ श्री राजमल जैन, जनकपुरी

शिवकुमार द्वितीय सैगोत (७७६-८१५ ई.) को अपने जीवन में युद्ध और बन्दीगृह का दु:ख भोगना पड़ा। फिर भी उसने जैनधर्म की उन्नति के लिए कार्य किया। उसने श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर 'शिवमार बसदि' का निर्माण कराया था, ऐसा वहां से प्राप्त एक लेख से ज्ञात होता है। आचार्य विद्यानन्द उसके भी गुरु थे।

राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (८१५-८५३ ई.) ने अपनी राजनीतिक स्थिति ठीक की। किन्तु उसने धर्म के लिए भी कार्य किया था। उसने चित्तूर तालुक मे वल्लमलै पर्वत पर एक गुहा-मन्दिर भी बनवाया था। सम्भवत: इसी के आचार्य गुरु आर्यनन्दि ने प्रसिद्ध 'ज्वालामालिनी कल्प' की रचना की थी।

सत्यवाक्य के उत्तराधिकारी एरेयगंग नीतिमार्ग (८५३-८७० ई.) को कुडलूर के दानपत्र मे 'परमपूज्य अर्हद्भट्टारक के चरण-कमलों का भ्रमर कहा गया है। इस राजा ने समाधिमरण किया था।

राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीय (८७०-९०७ ई.) पेन्नेकडंग नामक स्थान पर सत्यवाक्य जिनालय का निर्माण कराया था और बिलियूर (वेलूर) क्षेत्र के बारह गांव दान में दिये थे।

नीतिमार्ग द्वितीय (९०७-९१७ ई.) ने मुडहल्लि और तोरमवु के जैन मन्दिरों को दान दिया था। विमलचन्द्राचार्य उसके गुरु थे।

गंगनरेश नीतिमार्ग के बाद, बुतुग द्वितीय तथा मरुलदेव नामक दो राजा हुए। ये दोनों भी परम जिनभक्त थे। शिलालेखों में उनके दान आदि का उल्लेख है।

मारसिंह (९६१-९७४ ई.)नामक गंगनरेश जैनधर्मका महान् अनुयायी था। इस नरेश की स्मृति एक स्मारक स्तम्भ के रूप मे श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पर के मंदिर-समूह के परकोटे मे प्रवेश करते ही उस स्तम्भ पर आलेख के रूप में सुरक्षित है। मारसिंह ने अपना अन्तिम समय जानकर अपने गुरु अजितसेन भट्टारक के समीप तीन दिन का सल्लेखना व्रत धारण कर बंकापुर मे अपना शरीर त्यागा था : उसने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। वह जितना धार्मिक था उतना ही शूर-वीर भी था। उसने गुर्जर देश, मालवा, विन्ध्यप्रदेश, वनकासि आदि प्रदेशो को जीता था तथा 'गगसिंह', 'गगवज्र' जैसी उपाधियो के साथ-ही-साथ 'धर्म-महाराजाधिराज' की उपाधि ग्रहण की थी। वह स्वय विद्वान था और विद्वानों एव आचार्यों का आदर करता था।

राचमल्ल सत्यवाक्य चतुर्थ (९७४-९८४ ई.)—इस शासक ने अपने राज्य के प्रथम वर्ष मे ही पेग्गूर ग्राम की बसदि के लिए इसी नाम का गांव दान मे दिया और पहले के दानों की पुष्टि की थी।

राचमल्ल का नाम श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर महामूर्ति के कारण भी इतिहास प्रसिद्ध हो गया है। इसी राजा के मन्त्री एवं सेनापति चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर की मूर्ति का निर्माण कराया था। राजा ने उनके पराक्रम और धार्मिक वृत्ति आदि गुणों से प्रसन्न होकर उन्हें 'राय' (राजा) की उपाधि से सम्मानित किया था।

उपर्युक्त नरेश के बाद, यह गंग साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। किन्तु जो भी उत्तराधिकारी हुए वे जैनधर्मके अनुयायी बने रहे। रक्कसगंग ने अपनी राजधानी तलकाड में एक जैन मन्दिर बनवाया था और विविध दान दिए थे।

सन् १००४ ई. में चोलों ने गंग-राजधानी तलकाद पर आक्रमण किया औरउस पर तथा गंगवाड़ी के बहुत से भाग पर अधिकार कर लिया। परवर्ती काल में भी, कुछ विद्वानों के अनुसार, गंगवंश १६वीं शती तक चलता रहा किन्तु होयसल, चालुक्य, चोल, विजयनगर आदि राज्यों के सामन्तों के रूप में।

जैनधर्म-प्रतिपालक गंगवंश कर्नाटक के इतिहास में सबसे दीर्घजीवी राजवश था। उसकी कीर्ति उस समय और भी अमर हो गई जब गोम्मटेश्वर महामूर्ति की प्रतिष्ठापना हुई।

चालुक्य राजवंश :

कर्नाटक में इस वश का राज्य दो विभिन्न अवधियों मे रहा। लगभग छठी सदी से आठवीं सदी तक इस वंश ने ऐहोल और वादामि (वातापि) नामक दो स्थानों को क्रमशः राजधानी बनाया। दूसरी अवधि १०वीं से ११वीं सदी की है जबकि चालुक्य वंश की राजधानी कल्याणी (आधुनिक बसव कल्याण) थी। जो भी हो, इतिहास मे यह वश पश्चिमी चालुक्य कहलाता है।

पहली अवधि अर्थात् छठी से आठवीं सदी के बीच चालुक्य राजाओं का परिचय ऐहोल और वादामी के प्रसग में इसी पुस्तक मे इसी पुस्तक मे दिया गया है। फिर भी यह बात पुनः उल्लेखनीय है कि चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय उसके आश्रित जैन कवि रविकीर्ति द्वारा ६३४ ई. मे ऐहोल म बनवाया गया जैन मन्दिर (जो कि अब मेगुटी मन्दिर कहलाता है) चालुक्य-नरेश की स्मृति अपने प्रसिद्ध शिलालेख मे सुरक्षित रखे हुए है। यह शिलालेख पुरातत्त्वविदो और सस्कृत साहित्य के मर्मज्ञो के बीच चर्चित है। इसी लेख से ज्ञात होता है कि पुलकेशी द्वितीय ने कन्नौज के सम्राट हर्षवर्धन को प्रयत्न करने पर भी दक्षिण भारत मे घुसने नही दिया था। उसके उत्तराधिकारी मंगेश ने वातापि मे राजधानी स्थानान्तरित कर ली थी। उस स्थान के पहाड़ी के ऊपरी भाग में बना जैन गुफा-मन्दिर और उसमे प्रतिष्ठित बाहुबली की सुन्दर मूर्ति कला का एक उत्तम उदाहरण है। आश्चर्य होता है कि चट्टानों को काटकर सैकड़ो छोटी-बड़ी मूर्तिया इस गुफा-मन्दिर में बनाने में कितना कौशल अपेक्षित रहा होगा और कितनी राशि व्यय हुई होगी।

अनेक शिलालेख इस बात के साक्षी हैं कि चालुक्य-नरेश प्रारम्भ से ही जैनधर्म को, जैन मन्दिरो को सरक्षण देते रहे हैं। अन्तिम नरेश विक्रमादित्य द्वितीय ने पुलिगुरे (लक्ष्मेश्वर) के 'धवल जिनालय' का जीर्णोद्धार कराया था।

कल्याणी को जैन राजधानी के रूप मे स्मरण किया जाता है (देखिए 'कल्याणी' प्रसंग)। तैलप द्वितीय का नाम इतिहास मे ही नहीं, साहित्य मे भी प्रसिद्ध है। तैलप द्वारा बन्दी बनाये गये धारानगरी के राजा मुंज और तैलप की बहिन मृणालवती की कथा अब लोककथा-सी बन गई है। तैलप प्रसिद्ध कन्नड़ जैन कवि रत्न का भी आश्रयदाता था। इस नरेश ने ९२७ ई. में राष्ट्रकूट शासकों की राजधानी मान्यखेट पर भीषण आक्रमण, लूटपाट करके उसे अधीन कर लिया था। कोगुलि शिलालेख (९९२ ई.) से प्रतीत होता है कि वह जैनधर्म का प्रतिपालक था। एक अन्य शिलालेख में, उसने राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाले को वसदि, काशी एव अन्य देवालयों को क्षति पहुंचाने वाला घातकी घोषित किया है। वसदि या जैन मन्दिर का उल्लेख भी उसे जैन सिद्ध करन में सहायक है।

तैलप के पुत्र सत्याश्रय इरिवबेडंग (९९७-१००९ ई.) के गुरु द्रविड़ सघ कुन्दकुन्दान्वय के विमलचन्द्र पण्डितदेव थे। इस राजा के बाद जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल (१०१४-१०४२ ई.) इस वंश का राजा हुआ। यह जैन गुरुओं का आदर करता था। उसके समय मे आचार्य वादिराज सूरि ने शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की थी और इस नरेश ने उन्हें जयपत्र प्रदान कर 'जगदेकमल्लवादी' उपाधि से विभूषित किया था। इन्हीं सूरि ने 'पार्श्वचरित' और 'यशोधरचरित' की रचना की थी।

जयसिंह के बाद सोमेश्वर प्रथम (१०४२-६८ ई.) ने शासन किया। कोगलि से प्राप्त एक शिलालेख में उसे स्याद्वाद मत का अनुयायी बताया गया है। उसने इस स्थान के जिनालय के लिए भूमि का दान भी किया था। उसकी महारानी केयलदेवी ने भी पोन्नवाड के त्रिभुवन-तिलक जिनालय के लिए महासेन मुनि को पर्याप्त दान दिया था। एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि सोमेश्वर ने तुंगभद्रा नदी मे जलसमाधि ले ली थी।

सोमेश्वर द्वितीय (१०६८-१०७६ ई.) भी जिनभक्त था। जब वह बंकापुर मे था तब उसने अपने पादपद्मोपजीवी चालुक्य उदयादित्य की प्रेरणा से बन्दलिके की शान्तिनाथ वसदि का जीर्णोद्धार कराके एक नयी प्रतिमा स्थापित की थी। अपने अन्तिम वर्ष मे उसने गुड्डिगेरे के श्रीमद् भुवनैकमल्ल शान्तिनाथ देव नामक जैन मन्दिर को

'सर्वनमस्य' दान के रूप में भूमिदान किया था।

विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल साहसतुंग (१०७६-११२८ ई.) इस वंश का अन्तिम नरेश था। कुछ विद्वानों के अनुसार, उसने जैनाचार्य वासवचन्द्र को 'बालसरस्वती' की उपाधि से सम्मानित किया था। गद्दी पर बैठने से पहले ही उसने बल्लियगांव में 'चालुक्यगंगपेर्म्मानडि जिनालय, नामक एक मन्दिर बनवाया था और देव पूजा मुनियों के आहार आदि के लिए एक गांव दान में दिया था। एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने हुनसि हदल्गे में पद्मावती-पार्श्वनाथ बसदि का निर्माण कराया था। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों पर मन्दिर बनवाए तथा चोलों द्वारा नष्ट किए गए मन्दिरों का जीर्णोद्धार भी कराया था। उसके गुरु आचार्य अर्हनन्दि थे। उसकी रानी जक्कलदेवी भी परम जिनभक्ता थी।

उपर्युक्त चालुक्य नरेश के उत्तराधिकारी कमजोर सिद्ध हुए। अन्तिम नरेश सम्भवतः नूर्म्मडि पैलप (११५१-५६ ई.) था जिसे परास्त कर कल्याणी पर कलचुरि वंश का शासन स्थापित हो गया। इस वंश का परिचय आगे दिया जाएगा।

राष्ट्रकूट-वंश :

इस वंश का प्रारम्भिक शासन-क्षेत्र मुख्यतः महाराष्ट्र प्रदेश था किन्तु उसके एक राजा दन्तिवर्मन् ने चालुक्यों को कमजोर जान आठवीं शती के मध्य में (७५२ ई.) कर्नाटक प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया था। कुछ विद्वानों का मत है कि उसने प्रसिद्ध जैनाचार्य अकलंक का अपने दरबार में सम्मान किया था। इसका आधार श्रवणबेलगोल का एक शिलालेख है जिसमे कहा गया है कि अकलंक ने साहसतुंग को अपनी विद्वत्ता से प्रभावित किया था। सहसतुंग दन्तिवर्मन् की ही एक उपाधि थी।

दन्तिवर्मन् के बाद कृष्ण प्रथम अकालवर्ष शुभतुंग (७५७-७७३ ई.) राजा हुआ। उसी के समय मे एलोरा के सुप्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ जिनमें वहां के प्रसिद्ध जैन गुहा मन्दिर भी है। उसने चालुक्यों के सारे प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। उसने आचार्य परवादिमल्ल को भी सम्मानित किया था। इस नरेश की परम्परा मे ध्रुव-धारावर्ष-निरुपम नामक शासक हुआ जिसने (७७९-७९३ ई.) तक राज्य किया। उसकी पट्टरानी शैंग के चालुक्य नरेश की पुत्री थी और जिनभक्ता थी। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के अनुसार, अपभ्रंश भाषा के जैन महाकवि स्वयम्भू ने अपने रामायण, हरिवंश, नागकुमारचरित, स्वयम्भू छन्द आदि महान ग्रन्थो की रचना, इसी नरेश के आश्रय में, उसी की राजधानी मे रहकर की थी। कवि ने अपने काव्यों में ध्रुवराय धवलइय नाम से इस आश्रयदाता का उल्लेख किया है।...पुन्नाटसंघी आचार्य जिनसेन ने ७८३ ई. में समाप्त अपने 'हरिवंशपुराण' के अन्त में इस नरेश का उल्लेख "कृष्ण नृप का पुत्र श्री वल्लभ जो दक्षिणापथ का स्वामी था" इस रूप मे किया है।

राजा ध्रुव के बाद गोविन्द तृतीय (७९३-८१४ ई.) राजा हुआ था। उसके समय मे राज्य का खूब विस्तार भी हुआ और उसकी गणना साम्राज्य के रूप में होने लगी थी। उसने कर्नाटक में मान्यखेट (आधुनिक मलखेट) में नई राजधानी और प्राचीर का निर्माण कराया था। कुछ विद्वानों के अनुसार, वह जैनधर्म का अनुयायी तो नहीं था किन्तु वह उसके प्रति उदार था। उसने मान्यखेट के जैन मन्दिर के लिए ८०२ ई. मे दान दिया था। ८१२ ई. मे उसने पुनः शिलाग्राम के जैन मन्दिर के लिए अर्ककीर्ति नामक मुनि को जालमंगल नामक ग्राम भेंट मे दिया था। इसके समय में महाकवि स्वयम्भू ने भी सम्भवतः मुनि-दीक्षा धारण कर ली थी जो बाद मे श्रीपाल मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम (८१५-८७७ ई.)—यह शासक जैनधर्म का अनुयायी महान् सम्राट् और कवि था। वह बाल्यावस्था मे मान्यखेट राजधानी का अभिषिक्त राजा हुआ। उसके जैन सेनापति बकथरस और अभिभावक कर्कराज ने न केवल उसके साम्राज्य को सुरक्षित रखा अपितु विद्रोह आदि का दमन करके साम्राज्य मे शान्ति बनाए रखी तथा वैभव मे भी वृद्धि की। अनेक अरब सौदागरों ने उसके शासन की प्रशंसा की है। सुलेमान नामक सौदागर ने तो यहाँ तक लिखा है कि उसके राज्य मे चोरी और ठगी कोई भी नही जानता था, सबका धर्म और धार्मिकसम्पत्ति सुरक्षित थी। अन्य राजा लोग अपने-अपने राज्य में स्वतन्त्र रहते हुए भी उसकी प्रभुता स्वीकार करते थे।

सम्राट् अमोघवर्ष ने कन्नड़ भाषा में 'कविराजमार्ग' नामक एक ग्रन्थ अलकार और छन्द के सम्बन्ध में लिखा है जिसका आज भी कन्नड़ में आदर के साथ अध्ययन किया जाता है। उसके समय मे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और कन्नड़ में विपुल साहित्य का सृजन हुआ। उसके बचपन के साथी आचार्य जिनसेन ने जैन-जगत् मे सुप्रसिद्ध 'आदिपुराण' जैसे विशालकाय पुराण की रचना की। वे आचार्य ऋषभदेव और भरत का जीवन-चरित्र लिखने के बाद ही स्वर्गस्थ हो गए। उनके शिष्य आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण मे शेष तीर्थंकरो का जीवन-चरित लिखा। ग्रन्थ के अन्त में उन्होने लिखा है कि सम्राट् अमोघवर्ष जिनसेनाचार्य के चरणो की वन्दना कर अपने आपको धन्य मानता था। आयुर्वेद, व्याकरण आदि से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ उसी के आश्रय में रचे गए। उसने 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' नामक पुस्तक स्वय लिखी है जिसके मगला-चरण मे उसने महावीर स्वामी की वदना की है। उसके कुन्नूर लेख तथा सजन ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि वह एक श्रावक का जीवन व्यतीत करता था तथा जैन गुरुओ और जैन मन्दिरों को दान दिया करता था। रत्नमालिका' से यह भी सूचना मिलती है कि वह अपने अन्त समय मे राजपाट को त्याग कर मुनि हो गया था। सम्बन्धित श्लोक है—

विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः॥

अर्थात् विवेक का उदय होने पर राज्य का परित्याग करके राजा अमोघवर्ष ने सुधीजनो को विभूषित करने वाली इस रत्नमालिका नामक कृति की रचना की।

प्राचीन भारतीय इतिहासज्ञ डॉ. अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स' में लिखा है कि सम्राट् अमोघवर्ष के शासनकाल में जैन धर्म एक राष्ट्रधर्म या राज्यधर्म (State Religion) हो गया था और उसकी दो-तिहाई प्रजा जैनधर्म का पालन करती थी। उनके बड़े-बड़े पदाधिकारी भी जैन थे। उन्होंने यह भी लिखा है कि जैनियों की अहिंसा के कारण भारत विदेशियों से हारा यह कहना गलत है। (सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का भी उदाहरण हमारे सामने है।) डा. ज्योति प्रसाद जैन ने लिखा है कि "प्रो० रामकृष्ण भण्डा-रकर के मतानुसार, राष्ट्रकूट नरेशों मे अमोघवर्ष जैनधर्म का महान् संरक्षक था। यह बात सत्य प्रतीत होती है कि उसने स्वयं जैनधर्म धारण किया था।"

सम्राट् अमोघवर्ष के महासेनापति परम जिनभक्त बंकेयरस ने कर्नाटक में बंकापुर नामक एक नगर बसाया जो कर्नाटक के एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र के रूप मे प्रसिद्ध हुआ और आज भी विद्यमान है।

कृष्णराज द्वितीय (८७८-९१४ ई.) सम्राट् अमोघवर्ष का उत्तराधिकारी हुआ। 'उत्तरपुराण' के रचयिता आचार्य गुणभद्र उसके विद्यागुरु थे। उसी शासनकाल मे आचार्य लोकसेन ने 'महापुराण' (आचार्य जिनसेन के आदिपुराण और आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण) का पूजोत्सव बंकापुर में किया था। आज इस नगरी में एक भी जैन परिवार नही है, ऐसी सूचना है। पूजोत्सव के समय इस नरेश का प्रतिनिधि शासक लोकादित्य वहां राज्य करता था। इस राष्ट्रकूट शासक ने भी मूलगुण्ड, वदनिके आदि के अनेक जैन मन्दिरों के लिए दान दिए थे। स्वयं राजा और उसकी पट्टरानी जैनधर्म के प्रति श्रद्धालु थे। उसके सामन्तों, व्यापारियों ने भी जिनालय बनवाए थे।

इन्द्र तृतीय (९१४-९२२ ई.) भी अपने पूर्वजों की भांति जिनभक्त था। उसने चन्दनपुरिपत्तन की बसदि और बड़नगरपत्तन के जैन मन्दिरो के लिए दान दिए थे और भगवान शान्तिनाथ का पाषाण-निर्मित सुन्दर पाद-पीठ भी बनवाया था। अपने राज्याभिषेक के समय उसने पहले से चले आए दानो की पुष्टि की थी तथा अनेक धर्मगुरुओ, देवालयों के लिए चार सौ गांव दान किए थे।

कृष्ण तृतीय (९३९-९६७ ई.) इस वश का सबसे अन्तिम महान् नरेश था। वह भी जैनधर्म का पोषक था और उसने जैनाचार्य वादिघंगल भट्ट का बड़ा सम्मान किया था। ये आचार्य गंगनरेश मारसिंह के भी गुरु थे। इस शासक ने कन्नड़ महाकवि पोन्न को 'उभयभाषाचक्र-वर्ती' की उपाधि से सम्मानित किया था। ये वही कवि पोन्न हैं जिन्होंने कन्नड़ में 'शान्तिपुराण' और 'जिनाक्षर-माले' की रचना की है। उसके मन्त्री भरत और उसके

पुत्र नन्न ने अपभ्रंश भाषा मे रचित 'महापुराण' के महाकवि पुष्पदन्त को आश्रय दिया था। कवि ने लिखा है कि नन्न जिनेन्द्र की पूजा और मुनियो को दान देने में आनंद का अनुभव करते थे। कवि पुष्पदन्त ब्राह्मण थे किन्तु मुनि के उपदेश से जैन हो गए थे। उन्होंने सल्लेखनाविधि से शरीर त्यागा था।

खोट्टिग नित्यवर्ष (९६७-९७२ ई.) ने शान्तिनाथ के नित्य अभिषेक के लिए पाषाण की सुन्दर चोकी समर्पित की थी ऐसा दानवलपाडु के एक शिलालेख से ज्ञात होता है। उसी के समय मे ९७१ ई. मे राजरानी आर्यिका पम्बव्वे ने केशलोंच कर आर्यिका दीक्षा ली थी और तीस वर्ष तपस्या कर समाधिमरण किया था।

गोम्मटेश्वर महामूर्ति के प्रतिष्ठापक वीरमार्तण्ड चामुण्डराय एव गगनरेश मारसिंह जब अन्य स्थानों पर युद्धों मे उलझे हुए थे तब मालवा के परमार सियक ने मान्यखेट पर आक्रमण किया जिसमे खोट्टिग मारा गया। उसके पुत्र को भी मारकर चालुक्य तैलप ने मान्यखेट पर अधिकार कर लिया।

कृष्ण तृतीय के पौत्र और गगनरेश मारसिंह के भान्जे राष्ट्रकूट वंशी इन्द्र चतुर्थ की मारसिंह ने सहायता की, उसका राज्याभिषेक भी कराया। श्रवणबेलगोल के शिलालेखानुसार, मारसिंह ने ९७४ ई. मे बकापुर मे समाधिमरण किया। इन्द्रराज भी ससार से विरक्त हो गया था और उसने भी ९८२ ई. मे समाधिमरण किया। इस प्रकार राष्ट्रकूट वंश का अन्त हो गया। इस वंश के समय में लगभग २५० वर्षो तक जैनधर्म कर्नाटक का सबसे प्रमुख एवं लोकप्रिय धर्म था।

कलचुरि वंश :

चालुक्य वश के शासन को इस वश के विज्जल कलचुरि नामक चालुक्यों के ही महामण्डलेश्वर और सेनापति ने ११५६ ई. मे कल्याणी से समाप्त कर दिया। लगभग तीस वर्षों तक अनेक कलचुरि राजाओं ने कल्याणी से ही कर्नाटक पर शासन किया।

कलचुरियो का शासन मुख्य रूप से वर्तमान महाभारत, महाकोसल एवं उत्तरप्रदेश में तीसरी सदी से ही था। इनके सम्बन्ध मे डा. ज्योति प्रसाद जी का कथन है कि अनुश्रुतियों के अनुसार इस वंश का आदिपुरुष कीर्तिवीर्य था, जिसने जैन मुनि के रूप म तपस्या करके कर्मों को नष्ट किया था। 'कल' शब्द का अर्थ कर्म भी है और देह भी। अतएव देहदमन द्वारा कर्मो को चूर करने वाले व्यक्ति के वशज कलचुरि कहलाये। इस वश मे जैनधर्म की प्रवृत्ति भी अल्पाधिक बनी रही। प्रो० रामास्वामी आय्यगर आदि अनेक दक्षिण भारतीय इतिहासकारो का मत है कि पांचवी छठी शती ई. मे जिन शक्तिशाली कलभ्रजाति के लोगो ने तमिल देश पर आक्रमण करके चोल, चेर तथा पाण्ड्य नरेशो को पराजित करके उक्त समस्त प्रदेश पर अपना शासन स्थापित कर लिया था वे प्रतापी कलभ्र नरेश जैनधर्म के पक्के अनुयायी थे। यह सम्भावना है कि उत्तर भारत के कलचुरियो की ही एक शाखा सुदूर दक्षिण मे कलभ्र नाम से प्रसिद्ध हुई और कालान्तर मे उन्ही कलभ्रो की सन्तति मे कर्नाटक के कलचुरि हुए।

आयंगार के ही अनुसार, कलचुरि शासक विज्जल भी "अपने कुल की प्रवृत्ति के अनुसार जैनधर्म का अनुयायी था। उसका प्रधान सेनापति जैनवीर रेचिमय्य था। उसका एक अन्य जैन मन्त्री ब्राह्म बलदेव था जिनका जामाता बासव भी जैन था।" इसी बासव ने जैनधर्म और अन्य कुछ धर्मों के सिद्धान्तो को सम्मेलित कर 'वीरशैव' या 'लिंगायत' मत चलाया (इस आशय का एक पट्ट भी 'कल्याणी' के मोड़ पर लगा है। देखिए जैन राजधानी 'कल्याणी' प्रकरण)। जो भी हो, विज्जल और उसके वशजो ने इस मत का विरोध किया। किन्तु वह फैलता गया और जैनधर्म को कर्नाटक में उसके कारण काफी क्षति पहुंची। कहा जाता है कि विज्जल ने अपने अन्त समय मे पुत्र को राज्य सौप दिया और अपना शेष जीवन धर्म-ध्यान मे बिताया। सन् ११८३ ई. में चालुक्य सोमेश्वर चतुर्थ ने कल्याणी पर पुनः अधिकार कर लिया और इस प्रकार कलचुरि शासन का अन्त हो गया।

अब्लूर नामक एक स्थान के लगभग १२०० ई. के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वीरशैव आचार्य एकान्तद रामय्य ने जैनो के साथ विवाद किया और उनसे ताड़पत्र पर यह शर्त लिखवा ली कि यदि वे हार गये तो वे

जिनप्रतिमा स्थापित करेंगे। कहा जाता है कि रामय्य ने अपना सिर काटकर पुन: जोड़ लिया। जैनों ने जब शर्त का पालन करने से इनकार किया तो उसने सैनिकों, घुड़सवारो के होते हुए भी हुलिगेरे (आधुनिक लक्ष्मेश्वर) मे जैन मूर्ति आदि को फेंककर जिनमन्दिर के स्थान पर वीरसोमनाथ शिवालय बना दिया। जैनो ने राजा बिज्जल से इसकी शिकायत की तो राजा ने जैनो को फिर वही शर्त लिख देने और रामय्य को वही करिश्मा दिखाने के लिए कहा। जैनो ने राजा से क्षतिपूर्ति की माँग की, न कि झगड़ा बढ़ाने की। इस पर राजा ने रामय्य को जय-दिया। इस चमत्कार की कथनी मे विद्वानो का सन्देह है और इसका यही अर्थ लगाया जाता है कि वीरशैव या लिंगायत मत के अनुयायियो ने जैनो पर उन दिनो अत्याचार किये थे। एक मत यह भी है कि बिज्जल भी वासव की बहिन और अपनी सुन्दर रानी पद्मावती के प्रभाव से वीरशैव मत की ओर झुक गया था किन्तु उसे विषाक्त ग्रास खिलाकर मार दिया गया।

होयसल राजवंश :

यह वंश कर्नाटक के इतिहास मे सबसे प्रसिद्ध राजवंश है। इस वश से सम्बन्धित सबसे अधिक शिलालेख श्रवणबेलगोल तथा अन्य अनेक स्थानों पर पाये गये हैं। इस वश के राजा विष्णुवर्धन और उसकी परम जिनभक्त, सुन्दरी, नृत्यगानविशारदा पट्टरानी शान्तला तो न केवल कर्नाटक के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास तथा जनश्रुतियो मे अमर हो गये है अपितु उपन्यास आदि साहित्यिक विधाओ के भी चिरजीवी पात्र हो गये है। मूडबिद्री के प्राचीन जैन ग्रथो मे भी उसके चित्र सुरक्षित हैं।

उपर्युक्त वश अपनी अद्भुत मन्दिर और मूर्ति-निर्माण कला के लिए भी जगविख्यात है। बेलूर, हलेबिड और सोमनाथपुर (सभी कर्नाटक मे) के तारों (star) की आकृति के बने, लगभग एक-एक इंच पर सुन्दर, आकर्षक नक्काशी के काम वाले मन्दिरों ने उनके शासन को स्मरणीय बना दिया है। उसके समय की निर्माणशैली अब इस वश के नाम पर होयसल शैली मानी जाती है। उसकी पृथक् पहिचान है और पृथक् विशेषता।

होयसल वंश की राजधानी सबसे पहले सोसेयूरु या शशकपुर (आजकल का नाम अंगडि) फिर बेलूर और उसके बाद द्वारावती या द्वारसमुद्र या दोरसमुद्र में रही। अन्तिम स्थान आजकल हलेबिड (अर्थात् पुरानी राजधानी) कहलाता है और नित्य ही यहा सैकड़ों पर्यटक मन्दिर देखने के लिए आते है।

इस वश की स्थापना जैनाचार्य सुदत्त वर्धमान ने की थी। होयसलनरेश जैनधर्म के प्रतिपालक थे, उसके प्रबल पोषक थे। रानी शान्तला तो अपनी जिनभक्ति के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसके द्वारा श्रवणबेलगोल में बनवायी गयी 'सवतिगन्धवारण बसदि' और वहां का शिलालेख उसकी अमर गाथा आज भी कहते है। इस वश का इतिहास बड़ा रोचक और कुछ विवादास्पद (सही दृष्टि हो तो विवादास्पद नही) है। विशेषकर विष्णुवर्धन को लेकर तरह-तरह की अनुश्रुतियां प्रचलित है। जो भी हो, होयसलवश का इतिहास और उससे सम्बन्धित तथ्यों की सक्षिप्त परीक्षा इसी पुस्तक मे 'हलेबिड' के परिचय के साथ की गई है। वह पढ़ने पर बहुत सी बातें स्पष्ट हो जाएँगी।

होयसल का अन्त १३१० ई. मे अलाउद्दीन खिलजी के और १३२६ ई. मे मुहम्मद तुगलक के आक्रमणो के कारण हो गया।

विजयनगर साम्राज्य (१३३६-१५६५ ई.) :

यह हम देख चुके है कि होयसल साम्राज्य का अन्त अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक के आक्रमणो के कारण हुआ। अन्तिम होयसलनरेश बल्लाल की मृत्यु के बाद उसके एक सरदार सगमेश्वर या सगम के दो बेटों—हरिहर और बुक्का ने मुसलमानों का शासन समाप्त करने की दृष्टि से सगम नामक एक नये राजवंश की १३३६ ई. मे नीव डाली। उन्होंने अपनी राजधानी विजयनगर या (विद्यानगर) मे बनाई जो कि आजकल हम्पी कहलाती है। यह वाल्मीकि रामायण में वर्णित किष्किन्धा क्षेत्रमे स्थित है और प्राचीन साहित्य मे पम्पापुरी कहलाती थी। अजैन तीर्थयात्री इसे पम्पाक्षेत्र कहते हैं और आज भी बाली-सुग्रीव की गुफा आदि की यात्रा करने आते हैं।

(क्रमशः)

अतिशय क्षेत्र अहार के जैन यंत्र

□ डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (राज०)

मध्यप्रदेश के टीकमगढ़ जिले में जैनपुरातत्त्व की दृष्टि से अतिशय क्षेत्र अहार का मौलिक महत्त्व है। यहाँ चन्देल कालीन स्थापत्य एवं शिल्प कला का अपार वैभव संग्रहीत है। निश्चित ही यह स्थली अतीत मे जैनों की उपासना का केन्द्रस्थल रही है।

मध्यकाल मे श्रावकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के व्रतों की साधनाएँ की तथा उन व्रतो से सम्बन्धित यन्त्र भी प्रतिष्ठापित किये। अहार क्षेत्र में जिन व्रतों की साधनाएँ हुई तथा उनसे सम्बन्धित जो यन्त्र प्राप्त हुए हैं, उनकी संख्या छत्तीस है। इन यन्त्रों मे पीतल और तांबा धातु व्यवहृत हुई है। पीतल धातु से निर्मित फलक तेरह और तांबा धातु के फलक अठारह है। इनके आकार दो प्रकार के हैं—गोल और चौकोर। पीतल धातु के गोल आकार में बारह और एक चौकोर यत्र है। इसी प्रकार ताम्र धातु के गोल यंत्र दस तथा आठ चौकोर यत्र हैं। इन यंत्रों का विवरण निम्न प्रकार है—

(१) ऋषिमण्डल यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु के तेरह इंच वाले फलक पर निर्मित है। इसमे निर्माण काल आदि से सम्बन्धित कोई लेख नहीं है।

(२) चिन्तामणि पार्श्वनाथ यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु से निर्मित चौदह इंच वर्तुलाकार फलक पर उत्कीर्ण है। इस यन्त्र पर भी निर्माण काल आदि से सम्बन्धित कोई लेख उत्कीर्ण नही है। यत्र प्राचीन प्रतीत होता है।

(३) श्रीवृहद् सिद्धचक्र यन्त्र

यह यन्त्र १३ इंच के वर्तुलाकार ताम्रधातु के एक फलक पर उत्कीर्ण है। गुलाई में एक पंक्ति का लेख भी उत्कीर्ण है। इस लेख की लेखन शैली आधुनिक लेखन-शैली से भिन्न है। उर्दू भाषा के समान इसमें दायीं से बायीं ओर लिखा गया है। शब्द रचना में वर्णों का प्रयोग दायीं ओर न किया जाकर बायी ओर किया गया है। शब्द के आदि का वर्ण अन्त मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे टीकमगढ़ निम्न वर्ण क्रम में लिखा गया है—'ढ़ ग म क टी'। अभिलेख निम्न प्रकार उत्कीर्ण है—

संवत् २०२६ श्री सिद्धक्षेत्र अहारमध्ये गजरथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठाप्य इह श्री सिद्धचक्र यत्र नित्यं प्रणमति टीकमगढ म. प्र.

(४) सरस्वती यन्त्रम्

यह यंत्र ताम्र धातु के एक चौकोर फलक पर उत्कीर्ण है। इस फलक की ऊंचाई सत्रह इंच और चौड़ाई दस इंच है। इसके शिरोभाग पर चार पंक्ति का संस्कृत भाषा और नागरी लिपि में निम्न लेख उत्कीर्ण है—

१. विक्रम संवत् २०१४ फाल्गुन शुक्ला पंचम्यां
२. रविवासरे अहार क्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज पंच-
३. कल्याणक गजरथ प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापि-
४. तम्।

(५) मातृका यन्त्र

यह यन्त्र ताम्रधातु के एक चौकोर फलक पर उत्कीर्ण है। इस फलक की लम्बाई-चौड़ाई दस इंच है। इसके शिरोभाग पर संस्कृत भाषा और नागरी लिपि में निम्न चार पंक्ति का लेख है—

१. विक्रम संवत् २०१४ फाल्गुन शुक्ला पंचाम्यां रवि-
२ वासरे अहारक्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज पञ्चकल्या-
३ णक गजरथ-प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापि-
४ तम्।

(६) अचल यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु के फलक पर उत्कीर्ण है। यह १० इंच ऊँचा और ६.३ इंच चौड़ा है। यन्त्र के नीचे दो पंक्ति का संस्कृत भाषा और नागरीलिपि में निम्न लेख

उत्कीर्ण है—

१. सवत् १६६६ फागुण वदी ११

२. प्रतिष्टत नग्र सरकनपुर

विशेष

इस यत्र लेख से ज्ञात होता है कि ग्राम सरकनपुर मे सम्वत् १६६६ मे कोई विधान आयोजित हुआ था जिसमे जिसमे इस यत्र की प्रतिष्ठा कराई गयी थी। यह यन्त्र सम्भवत: सुरक्षा की दृष्टि से अहार क्षेत्र को सौपा गया प्रतीत होता है। यह भी सम्भव है कि सरकनपुर के जैनों ने अहारक्षेत्र मे आकर विधान आयोजित करके इस यन्त्र की प्रतिष्ठा कराई हो।

(७) ऋषिमण्डल-यन्त्र

पीतल धातु मे वर्तुलाकार मे निर्मित इस यन्त्र का फलक ६.६ इच आयताकार है। नीचे सस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे निम्न लेख उत्कीर्ण है—

सवत् १७६१ वर्षे फागुन सुदि ६ बुधवासरे श्री मूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुदकुदाचार्यान्वये भट्टारक श्री विश्वभूषणदेवास्तत्पट्टे भ० (भट्टारक) श्री देवेन्द्रभूषणदेवास्तत्पट्टे श्री सुरेन्द्रभूषणदेवास्तदाम्नाये लंवकंचुकान्वये सा० (साधु) परता पु०···प्रासापति पा० सुभा (शुभा) एसे नित्य प्रणमति श्री·······

(८) सिद्धचक्र यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु के १०.३ इच वर्तुलाकार एक फलक पर उत्कीर्ण है। यत्र के नीचे यत्र-प्रतिष्ठाता श्रावक श्रावक का हिन्दी भाषा और नागरी लिपि में नामोल्लेख भी किया गया है। यह यत्र सम्वत् विहीन है। भाषा प्रयोग से यह अर्वाचीन प्रतीत होता है। लेख इस प्रकार है—

श्री सिघई वृन्दावन शिखरचन्द जी लार।

(९) कल्याण त्रैलोक्यसार यन्त्रम्

यह यन्त्र ९ इच के वर्तुलाकार एक ताम्र धातु से निर्मित फलक पर उत्कीर्ण है। यन्त्र की गुलाई मे सस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे निम्न लेख भी अंकित है—

विक्रम सवत् २०१४ फाल्गुण शुक्ला पचम्यां रविवासरे अहारक्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज-पचकल्याणक गजरथ प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापितम्।

(१०) मोक्षमार्ग-चक्र यन्त्र

ताम्र धातु से निर्मित वर्तुलाकार ८ इच के एक फलक पर उत्कीर्ण इस यन्त्र के नीचे भी लेख है, जिसमें यन्त्र की अहार क्षेत्र मे संवत् २०१४ मे प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है। लेख निम्न प्रकार है—

विक्रम सवत् २०१४ फाल्गुण शुक्ला पञ्चम्यां रविवासरे अहारक्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज पचकल्याणक गजरथ प्रतिष्ठ यां प्रतिष्ठापितम्।

(१२) वर्द्धमान-यन्त्रम्

ताम्र धातु से निर्मित ९.९ वर्तुलाकार फलक पर निर्मित इस यन्त्र पर सस्कृत भाषा और नागरी लिपि में निम्न लेख उत्कीर्ण है—

विक्रम संवत् २०१४ फाल्गुण शुक्ला पंचम्यां रविवासरे अहारक्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज पंचकल्याणक गजरथ प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापिताम्।

(१३) नयनोन्मीलन यन्त्र

यह यन्त्र फलक आठ इच वर्तुलाकार ताम्र धातु से निर्मित है। नीचे संस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे तीन पक्ति का निम्न लेख है—

१. विक्रम संवत् २०१४ फाल्गुण शुक्ला पंचम्यां

२. रविवासरे अहारक्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज पंचकल्याणक

३. गजरथ प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापितम्।

(१४) पूजा यन्त्रम्

यह यन्त्र ताम्र धातु से निर्मित ८ इच के वर्तुलाकार एक फलक पर अकित है। दुलाई मे निम्न लेख सस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे उत्कीर्ण है—

स० (सवत्) २०१४ फाल्गुण शुक्ला ५ रविवासरे अहारक्षेत्रे गजरथ पचकल्याणक प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापितम्।

(१५) विनायक यन्त्र

इस यन्त्र का फलक ताम्र धातु से निर्मित है। यह फलक ८ इच वर्तुलाकार है। नीचे लेख उत्कीर्ण है जिसमे लाला राजकुमार सुशीलकुमार बहरामघाट जिला बाराबंकी द्वारा सवत् २०२५ में कार्तिक शु० (शुक्ला) ८ अष्टमी मंगलवार के दिन इस यन्त्र की प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है। ज्ञात होता है यह यन्त्र प्रतिष्ठाकर्ता ने इस क्षेत्र को भेंट में दिया था।

(१६) पंचपरमेष्ठी यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु के वर्तुलाकार ६ इंच के एक फलक पर उत्कीर्ण है। नीचे संस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे चार पंक्ति का निम्न लेख अंकित है—

१. संवत् १६५६ श्री·········(शुभ नाम समये वर्षे) फागुन मासे सुक्ल (शुक्ल) पक्षे तिथि १०मी गुर (गुरु) वासरे पुष (पुष्य) नक्षत्रे श्री मूलसंघे बनात्कारगने (णे)

२. सरस्वतीगछे (गच्छे) कुंदकुद आचार्यान्वये श्रीमत् सा (शा) स्त्रोपदेशात् जिनबिंब जत्रोपतिष्ठतं परगनो ओड़छो नग्र वांघ (बंधा) श्री महाराजाधिराज श्रीमहोराजा

३. श्री महेंद्र महाराजा (।) विक्रमाजीत राज्योदयात् ज्यात (जात) गोलापूरब बैंक षु(खु)रदेले मनीराय तत् भ्राता मौनदेतवो पुत्र २ जेष्ट पुत्र खले भार्या भगुतो तयो पुत्र-२ दीपसा लारसा झुतारे

४. दुतीय पुत्र उमेद भार्या स्याणे (सयानी) तयोः पुत्र-४ एवसुष(ख) दुलारे गुडारात लाडेले नित्य प्र-(ण)मति।

इस यन्त्रलेख में 'ख' वर्ण के लिए 'ष' वर्ण का प्रयोग हुआ है प्रस्तुत लेख में आये मनीराम का नामोल्लेख सोनागिरि मे संवत् १८८३ के एक हिन्दी शिलालेख की सातवीं पंक्ति मे भी हुआ है। दोनों नाम अभिन्न ज्ञात होते हैं।

(१७) सोलहकारण यंत्र

यह यन्त्र पीतल के ६.६ इची गोल फलक पर उत्कीर्ण है। यन्त्र के नीचे निम्न लेख है—

संवत् १६६६ फाल्गुन मासे कृष्ण पक्षे प्रतिष्ठतं नग (नग्र) सरकनपुर मध्ये माथौ सेठ मूलचं-(द) पलए।

(१८) सोलहकारण यंत्र

पीतल धातु के गोल ६ इंच के एक फलक पर उत्कीर्ण इस यन्त्र पर तीन पंक्ति का एक लेख अंकित है—

१. सवत् १८५६ श्री सुव (शुभ) नाम समये व्रषे (वर्षे) फाल्गुन मासे सुक्ल (शुक्ल) पक्षे तिथ (थि) १० दसमी गुर (रु) बासरे श्री मूलसंघे वलात्कारगने(णे) सरस्वतीगच्छे श्री कुंदकुद आचार्य(र्य)न्वये श्रीमत्

२. सा (शा) स्त्रोपदेशात् श्री जिनबिंब जंत्रो पतिष्टतं (प्रतिष्ठतं) परगनो ओडछो नग्र बाध (बधा) श्री महाराजाधिराजा श्री महाराजा श्री महेंद्र महाराजा। विक्रमाजीत देवराज्योदयात् जात (जाति) गोलापूरब बैंक षु(खु) रदेले मनीराम तत भार्या मौनदे तयोः पुत्र·····

३. जेष्ट (ज्येष्ठ) पुत्र लले भार्या भगुती तयोः पुत्र-२ दीपसा···············दुतिय पुत्र उमेद भार्या स्याभेतयोः पुत्र-४ सवसुष(ख) दुलारे तुडाव्रत लाडिले नित्य प्रन(ण) मति (मंति)।

इस लेख मे ख वर्ण के लिए 'ष' वर्ण का प्रयोग हुआ है। श के स्थान स का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

(१९) दशलक्षण धर्म यंत्र

यह यंत्र पीतल धातु के ६.५ इंच वर्तुलाकार एक फलक पर उत्कीर्ण है। यत्र पर निम्न लेख भी अंकित है—

सवत् १८५६ श्री सुत्र (शुभ) नाम समए (ये) व्रषे (वर्षे) नाम फाल्गुन (ण) मासे सु (शु)क्ल पक्षे तिथौ १० गुरुवासरे श्री मूलसघे वलात्कारगने (णे) सरस्वतीगछे (च्छे) श्री कुदकुदाचार्ज(र्य)न्वये श्रीमत सा(शा स्त्रोपदेशात् श्री जिनविब जत्रो पतिष्ठत (प्रतिष्ठित) नग्र············ ········· नित्यं प्रन(ण)मति।

(२०) दशलक्षणधर्म यंत्र

यह यन्त्र पीतल धातु से निर्मित ८.५ इच के वर्तुलाकार एक फलक पर उत्कीर्ण है। नीचे निम्न लेख है—

सवत् १६६६ फाल्गुन सु(शु)क्ल ११ प्रतिष्ठत नग्र सरकनपुर मध्ये माधौ सेठ मूलचद पलए।

(२१) सिद्धचक्र यंत्र

पीतल धातु से निर्मित ७.३ इच के वर्तुलाकार एक एक फलक पर उत्कीर्ण इस यन्त्र के नीचे दो पक्ति का लेख है—

१. संवत् १६८१ जेष्ठ (ज्येष्ठ) कृष्ण १० को सेठ पल्टूलाल श्री कुंदकुंदाचार्यान्वये·······················

२. ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···सरकनपुर········

(२२) अष्टांग सम्यग्दर्शन यंत्र

यह यन्त्र ५.३ इंच के वर्तुलाकार पीतल धातु के एक फलक पर निर्मित है। अहार क्षेत्र में प्राप्त यन्त्रो मे एक मात्र यही यन्त्र है जिसमें ४क सम्वत् का प्रयोग हुआ है। श्री गोविन्ददास कोठिया ने इस यन्त्र का सम्वत् विक्रम सम्बत् बताया है। उन्होंने सम्वत् सूचक अंकों मे शून्य को सात अंक मानकर इस यन्त्र का सम्वत् १६६७ माना है।

इसी प्रकार एकम तिथि का उल्लेख किया है। इस यन्त्र-लेख का उल्लेख 'प्राचीन शिलालेख' पुस्तक मे लेख नम्बर १२८ से हुआ है। शक सम्वत् होने से यह लेख विक्रम सम्वत् १७४२ का ज्ञात होता है। लेख निम्न प्रकार है—

मूलपाठ

१. शके (शक् सम्वते) १६०७ मार्गसिर (मार्गशीर्ष) शुक्ल १० बुधे श्री मूलसघे सरस्वतीगछे (गच्छे) वलात्कारगणे कुंदकुंदाच्चर्यो (चार्यो) भट्टारक श्रीविशालकीर्त्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्री पद्मकीर्त्तिस्तयो: उपदेशान् ज्ञानी-(सी) छी (छि)

१. तवान् मीवनकारे सेमवा भार्या निवाउभागाइर नयो. पुत्र यादोजी भार्या देवाउ प्रणमंती-(ति)।

पाठ टिप्पणी

दूसरी पंक्ति मे मीवनकार विशेषण शब्द है जिसका अर्थ सम्भवत: मिलाई करने वाला है।

भावार्थ—शक् सम्वत् १६०७ के अगहन मास के शुक्ल पक्ष की १०वीं बुधवार के दिन मूलसंघ सरस्वती गच्छ वलात्कारगण और आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय के भट्टारक विशालकीर्ति तथा उनके पट्ट पर बैठने वाले पद्मकीर्ति इन दोनों के उपदेश इपानियों मे सुशोभित मिलाई करके जीविका करने वाले सेमवा और उसकी पत्नी निवाउभागा इन दोनों का पुत्र यादोजी और पुत्रवधू देवाउ प्रणाम करते है।

(२३) तेरहविधचारित्र यंत्र

यह यन्त्र ताम्र धातु से ६ इंच की गुलाई में निर्मित है। यन्त्र के बाह्य भाग मे दो पंक्ति का संस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे निम्न लेख अकित है—

१. संवत् १६८३ फागुन (फाल्गुन) सु० (सुदि) ३ श्री धर्मकीर्त्ति उपदेशात् समुकुट भ० (भट्टारक) किसुन (किशुन) पुत्र मोदन-स्याम (श्याम)-रामदाम-नंदराम-सुषा (खा)नंद-भगवानदास पुत्र आमा(शा)-

२. जात सि······(साराम) द (दा)मोदर-हिरदेशम किसु(शु)नदास-वैसा(शा)ष(ख) नंदन परवार/एते नमंति।

पाठ टिप्पणी

इस यन्त्र लेख मे सुदि शब्द के लिए सु०, भट्टारक के लिए भ०, खवर्ण के लिए 'ष' तथा 'श' के लिए स वर्ण का व्यवहार हुआ है। देशी बोली में प्रयुक्त फागुन शब्द का व्यवहार भी उल्लेखनीय है।

भावार्थ—सम्वत् १६८३ के फाल्गुन सुदी तृतीया के दिन श्री धर्मकीर्ति के उपदेश से श्रेष्ठ भट्टारक किशुन के पुत्र मोदन, श्याम, रामदास, नन्दराम, सुखानन्द और भगवानदास तथा उसके पुत्र आशाजात, श्रीराम, दामोदर, हिरदेराम, किशुनदास और वैशाखनन्दन के परिवार ने प्रतिष्ठा कराई। वे सब इस यन्त्र को नमस्कार करते हैं। प्राचीन शिलालेख पुस्तक मे इसका लेख नम्बर १२७ है।

(२४) सोलहकारण यन्त्र

यह यन्त्र ७.३ इच गोल ताम्र फलक पर उत्कीर्ण है। यन्त्र का भाग कुछ ऊपर उठा हुआ है। दो पक्ति का निम्न लेख है—

१. संवत् १७२० वर्षे फागुन (फाल्गुन) सुदि १० शुक्रे श्री व० (वलात्कारगणे) म० (मूलसघे) स० (सरस्वती-गच्छे) कुंदाकुंदाचार्यान्वये म० (भट्टारक) श्री सकलकीर्त्ति-उपदेशात् गोलापूर्वान्वये गोत्र पेथवार प० (पण्डित) वसेदास भा० (भार्या) परवति (पार्वती) तत्पुत्र ५ जेष्ट डोगरूदल, विसु(शु)न चैन-उग्रसेनि नित्यं प्रनमम

२. ति सि० (सिघई) ष(ख)रगसेनिक यन्त्र प्रतिष्ठा-मैइयत्र प्रतिष्ठित ॥ सुष(ख)चन ॥

पाठ टिप्पणी

इस यन्त्र मे व, म, स, भ, भा, सि. शब्दो के प्रथम वर्ण देकर शब्दों के सक्षिप्त रूप दर्शाये गये हैं। पूर्ण शब्द लेख मे सक्षिप्त वर्णों के आगे कोष्टक मे लिखे गये है। श के स्थान में 'स' तथा ख स्थान मे 'ष' वर्ण व्यवहृत हुए हैं।

भावार्थ—मूलसघ वलात्कारगण सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दाचार्याम्नाय के भट्टारक सकलकीर्ति के उपदेश से गोलापूर्व पेथवार गोत्र के पण्डित वसेदास और उनकी पत्नी पार्वती के पांच पुत्रों मे ज्येष्ठ डोंगर, ऊदल, विशुन-चैन, उग्रसेन और सुखचैन ने सम्वत् १७२० मे फाल्गुन सुदी १०वीं को सिंघई खरगसेन की यत्र प्रतिष्ठा में इस यन्त्र की प्रतिष्ठा कराई। वे यन्त्र को नित्य नमस्कार करते हैं।

(२५) सिद्धचक्र यन्त्र

ताम्र धातु से निर्मित ६ इंच के चौकोर फलक पर इस यन्त्र में तीन पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है—

१. पं० (पण्डित) मोजीलाल जैन देवराहा मन्दिर जी को भेंट

१. फाल्गुन सुदी १२ रविवार संवत् २०२१ पपौराजी

३. गजरथ महोत्सव।

भावार्थ—पपौरा क्षेत्र में सवत् २०२१ के फाल्गुन शुक्ल द्वादशी रविवार के दिन हुए गजरथ महोत्सव में देवराहा निवासी पंडित मौजीलाल जी जैन को भेंट मे दिया।

(२६) विनायक यन्त्र

यह यन्त्र ५ इंच के चौकोर ताम्र फलक पर उत्कीर्ण है। इस पर कोई लेख उत्कीर्ण नही है।

(२७) तेरहविधचारित्र यन्त्र

यह यन्त्र ताम्र धातु के ६.२ इंच चौकोर फलक पर निर्मित है। यन्त्र का भाग फलक के मध्य मे ४½ इंच वर्तुलाकार है। वाह्य भाग मे गुलाई मे संस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे उत्कीर्ण किया गया छह पंक्ति का लेख है जो यन्त्र के टूटे हुए कोण से आरम्भ होता है। लेख निम्न प्रकार है।

मूल पाठ

१. संवत् (सम्वत्) १६४२ फाल्गुन सित (शुक्ल) १० गुरौ मृगे श्री अवरजलालस्यराज्ये पेरोजावादे श्री मूलसंघे वलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्री ध

२. र्मकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे श्री भट्टारक शीलसूत्रनदेवा-स्तत्पट्टे भट्टारक श्री ज्ञानसूत्रदेवास्तदाम्नाये लंवकंचुक जातौ साधु

३. श्रीहरुजु पुत्रौ-२ दौदि-नगरू तत्र दौदि भार्या प्रभा तत्पुत्राः ५ लोहगु धरणीध-

४. र भायारु-दोसी लो-श्री कमलै तत्र लोह-(गु) भार्या

५. ·········कमलापति भार्या माता तत्पपुत्राः ३ मित्रसेनि-चद्रसेनि-उदयसेनि। तत्र मित्रसेन (न) भार्य(र्या) पराणमती तत्पुत्रौ ससुरामल्ल-चंदसेन भार्या कल्हण एतेषा··· ··

६. ···············सम्यकचारित्र।

पाठ टिप्पणी

यह यन्त्र लेख 'प्राचीन शिलालेख' पुस्तक मे लेख नम्बर १२५ से प्रकाशित हुआ है जिसमे अन्तिम तीन पंक्तियाँ नहीं हैं। इस लेख मे अनुनासिक अनुस्वार के रूप में, संख्या अंकों में और शुक्ल शब्द के लिए 'सित' शब्द का व्यवहार हुआ है।

भावार्थ—सम्वत् १६४२ के फाल्गुन सुदि १० शुक्रवार मृगसिर नक्षत्र में अकबर जलालुद्दीन महाराज के राज्य में उत्तरप्रदेश के फिरोजाबाद नगर मे श्रीमूलसघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ, कुन्दकुन्दाचार्य की आम्नाय के भट्टारक श्रीधर्मकीतिदेव के पट्ट के उत्तराधिकारी भट्टारक शीलसूत्रनदेव और इनके पश्चात् पट्ट पर बैठने वाले भट्टारक ज्ञानसूत्रदेव की आम्नाय के शाह हरजू के पुत्र दौदि और नगरु इनमे दौदि के पाच पुत्र—लोहगु, धरणीधर, भायारु, दोसीलो और श्री कमलै। इनमे कमलापति के तीन पुत्र—मित्रसेनि, चन्द्रसेनि, उदयसेनि तथा मित्रसेनि के पुत्र—ससुरामल्ल और चन्द्रसेन के पुत्र ने इस यन्त्र की प्रतिष्ठा कराई। यह यन्त्र भेंट स्वरूप इस क्षेत्र को प्राप्त हुआ ज्ञात होता है।

(२८) सोलहकारण यंत्र

यह यन्त्र ताम्र धातु के ६ इच चौकोर एक फलक के मध्य मे ऊपर उठे हुए भाग पर सोलह भागो मे उत्कीर्ण है। यन्त्र के ऊपरी भाग मे दो पक्ति का सस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे एक लेख भी अंकित है जिसमे सवत् सूचक अंक अपठनीय है। लेख निम्न प्रकार है—

मूलपाठ

१. इं (ऐ)द्रं पदं प्राप्य पर प्रमोद धन्यात्मतामात्मनि-मान्यमाना (नः)।····· (दृक्) शुद्धि-

२. मुख्यानि जिनेंद्रलक्ष्म्या महाम्यह षोडश-कारणानि ॥१॥ अथ संवत् (अंक नहीं है)

पाठ टिप्पणी

इस यंत्र-लेख में उल्लिखित श्लोक के चारो चरणों में ११-११ वर्ण हैं। प्रथम तीन चरणो मे वर्ण तगण-तगण-जगण दो गुरु के क्रम मे हैं किन्तु अन्तिम चरण में जगण,

तगण, जगण एक गुरु और एक लघु वर्ण के क्रम में वर्ण व्यवहृत हुए हैं। प्रथम तीन चरणों की दृष्टि से इन्द्रवज्रा और अन्तिम चरण की दृष्टि से उपेन्द्रवज्रा छन्द का व्यवहार हुआ ज्ञात होता है। अन्तिम चरण का अन्तिम वर्ण दीर्घ होना चाहिए था। यंत्र लेखो में यही एक लेख है जिसमें पद्य का व्यवहार हुआ है।

भावार्थ—परम प्रमोद रूप इन्द्र के पद को धारण कर अपने अन्दर अपने आपको धन्य मानता हुआ तीर्थंकर लक्ष्मी की मैं पूजा करता हूं। यह पद्य संस्कृत षोडश-कारण पूजा का स्थाप-पद्य है।

(२६) अष्टांग सम्यग्दर्शन यन्त्र

यह यन्त्र ताम्र धातु के ५½ इंच चौकोर एक फलक पर उत्कीर्ण है। इसकी तीन कटनियां हैं। मध्य के दो भाग ऊपर की ओर उठे हुए हैं। दूसरी कटनी की अपेक्षा प्रथम कटनी (मध्य भाग) अधिक ऊँचा है। ऊपरी भाग मे संस्कृत भाषा और नागरी लिपि में तेरह पंक्ति का लेख अंकित है जो ह्रीं बीजाक्षर की ओर से आरम्भ हुआ है। यह सर्वाधिक प्राचीन यंत्र है। 'प्राचीन शिलालेख' पुस्तक मे इसका उल्लेख लेख संख्या १२६ से हुआ है। लेख निम्न प्रकार है—

मूलपाठ

१. कल्पनातिगता बुद्धिः परभावा विभाविका। ज्ञानं निश्चयतो ज्ञे-
२. य तदन्य व्यवहारत.॥ संवत् १५०२ वर्षे का-
३. र्तिग (क) सुदि ५ भौ (यंत्र) मदिने श्री का-
४. ष्ठासंघे भ (यंत्र) ट्टारक श्री गु-
५. णकीर्त्ति (यंत्र) देव तत्प।
६. ट्टे श्री य (यंत्र) स (श) की-
७. र्त्तिदेव
८. तत्पट्टे श्री (यंत्र) मलैकी-
९. र्त्तिदेवाः (यंत्र) अग्रोत्का-
१०. न्वये स० (साहु) नरदेवा (यंत्र) स्तस्य भार्या स० (साहुणी)
११. जैणी ययेः (यो.) पुत्र स० (साहु) विहराज तस्य भार्या साध्वी हरसो स० (साहु) वरदेव-
१२. भ्राता स० (साहु) रूपचंद तस्य पुत्र स० (साहु) नालिगु द्वितीय समलू। स० (साहु) नालिगु पु-
१३. त्र आढू प्रतिष्ठ (तम्)।

पाठ टिप्पणी

इस यंत्र लेख में स० साहु के और सा० साहुणी के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। स के स्थान में स का व्यवहार भी द्रष्टव्य है।

भावार्थ—संवत् १५०२ कार्तिक सुदि पंचमी भौमवार के दिन काष्ठासंघ के भट्टारक श्री गुणकीर्त्तिदेव के प्रशिष्य और श्री यशकीर्त्तिदेव के शिष्य भट्टारक मलय-कीर्त्तिदेव की आम्नाय के अग्रवाल शाह वरदेव के पुत्र शाह विहराज और पुत्रवधू हरसो ने तथा वरदेव के भाई शाह रूपचन्द यो के नालियुग और ममलू दो पुत्रों तथा नालिगु के पुत्र आढू ने इस यंत्र की प्रतिष्ठा कराई।

(३०) धर्मचक्र यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु के ७ इंच वर्तुलाकार एक फलक पर ४६ आरे बनाकर बनाया गया है। इस पर कोई लेख नहीं है। इस यन्त्र के आरे ७-७ दिन तक सात प्रकार के मेघों के बरसने के पश्चात् नयी सृष्टि के धर्म और काल परिवर्तन के चक्र की ओर ध्यान आकृष्ट करते है।

(३१) श्री पार्श्वनाथ चिंतामणि यंत्र

यह यन्त्र चौकोर दो इंच के एक ताम्र फलक पर उत्कीर्ण है। कोई लेख नहीं है। यन्त्र सोलह भागो मे विभाजित है। प्रत्येक भाग में ऐसी संख्या है जिसका बायें से दायें या ऊपर से नीचे चार खण्डों का योग १५२ आता है।

यंत्र निम्न प्रकार है—

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं

६८	७५	२	७
६	३	७२	७१
७४	६९	८	१
४	५	७०	७३

णमो आइरियाण णमो उवज्झायाण

णमो लोए सव्व साहूण

विशेष

यन्त्रो की क्रम सख्या वही रखी गयी है जो संख्या यन्त्रों के पृष्ठ भाग में पेंट से अंकित है। यन्त्रों का विवरण निम्न प्रकार है :—

क्रमाक	नाम यत्र	संख्या	क्रमांक	नाम यत्र	संख्या
१	ऋषिमण्डल	२	११	नयनोन्मीलन	१
२	चिंतामणि पार्श्वनाथ	२	१२	पूजा	१
३	सिद्धचक्र	४	१३	विनायक	२
४	सरस्वती	१	१४	पंचपरमेष्ठी	१
५	मातृका	१	१५	सोलहकारण	४
६	अचल	१	१६	दशलक्षण	२
७	कल्याण त्रैलोक्य सार	१	१७	अष्टांग-सम्यग्दर्शन	२
८	मोक्षमार्गचक्र	१			
९	निर्वाण संपत्कर	१	१८	तेरहविधचारित्र	२
१०	वर्द्धमान	१	१९	धर्मचक्र	१
१५		१५		कुल यन्त्र संख्या	१६ / ३१

नोट :—सभी यंत्र मन्दिर संख्या-२ भोंयरा मन्दिर में सुरक्षित हैं।

मुनि श्री मदनकीर्ति द्वय

☐ ले० श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

जैन वाङ्मय के इतिहास में हमें मदनकीर्ति नाम के दो मुनियो के ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। पहले मदनकीर्ति तो वे हैं जिन्होंने स० १२६२ के लगभग 'शासन चतुस्त्रिंशतिका' (शासन चौतीसी) नामक सुपुष्ट रचना की थी जिसमें विभिन्न ऐतिहासिक सिद्ध क्षेत्रों एवं अतिशय क्षेत्रों का वर्णन है। इन्हें पाठक मदनकीर्ति प्रथम के नाम से पहिचान करें।

दूसरे मुनि मदनकीर्ति वे है जिनके शिष्य ब्र० नरसिंहक ने झुंझुणुपुर मे सं० १५१७ में "तिलोयपण्णत्ती" की प्रतिलिपि की थी तथा सं० १५२१ में इन्ही के शिस्य नेत्रनंदी के लिए 'पउमचरिउ' की प्रतिलिपि की गई थी, इन्हें हम मुनि मदनकीर्ति द्वितीय के नाम से सबोधित करेंगे।

मुनि मदनकीर्ति प्रथम—मुनि मदनकीर्ति प्रथम तेरहवी सदी के विख्यात मनीषी विद्वान् थे जो 'यतिपति' और 'महाप्रामाणिक चूडामणि' शीर्षक विरुदो (उपाधियों-विशेषणों) से सुशोभित थे। इनके गुरु का नाम श्रीविशाल कीर्ति था। "शब्दार्णव चन्द्रिकाकार" मुनि सोमदेव ने विशालकीर्ति का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है वे लिखते हैं कि—कोल्हापुर प्रान्त के अर्जुरका ग्राम मे वादीभवज्रांकुश विशालकीर्ति की वैयावृत्य से वि० सं० १२६२ में यह ग्रन्थ समाप्त किया।" वादीन्द्र मुनि विशालकीर्ति को, पं० आशाधर जी ने, जो धारा नगरी के निवासी थे, न्यायशास्त्र का अभ्यास कराया था अतः विशालकीर्ति और मुनि मदनकीर्ति प्रथम धारा नगरी में ही निवास करते होंगे। प० आशाधर जी ने अपने 'जिनयज्ञकल्प' (प्रतिष्ठासारोद्धार) नामक ग्रन्थ जो वि० सं० १२८५ में समाप्त हुआ था, की प्रशस्ति मे मुनि मदनकीर्ति प्रथम को यतिपति कहा है तथा उनके द्वारा 'प्रज्ञापुंज' की उपाधि प्राप्ति का उल्लेख किया है—

इत्युदय सेनमुनिना कवि सुहृदायोऽभिनन्दितः प्रीत्यः।
प्रज्ञापुञ्जोऽसीति च योऽभिहितो मनदकीर्ति यतिपतिना॥

स० १४०५ मे श्वे० विद्वान् राजशेखर सूरि ने 'प्रबन्धकोष' (चतुर्विंशति प्रबंध) नामक ग्रन्थ लिखा था जिसमें चौबीस विशिष्ट व्यक्तियों के परिचयात्मक प्रबंध लिखे हैं उनमें से एक 'मदनकीर्ति प्रबन्ध' नामक प्रबंध भी है इसमें मुनि मदनकीर्ति प्रथम की विद्वत्ता एवं प्रतिभा का विशिष्ट वर्णन करते हुए उन्हें 'महाप्रमाणिक चूडामणि' लिखा है। साथ ही लिखा है कि वे इतने प्रतिभाशाली थे कि एक दिन मे पाच सौ श्लोक रच लेते थे पर लिख नहीं पाते थे। वे वाद-विवाद में बड़े निष्णांत थे। अपने प्रतिपक्षियों को अकाट्य युक्तियों द्वारा सदैव परास्त कर दिया करते थे इसलिए वे 'महाप्रामाणिक चूडामणि' के विरुद से विख्यात हुए थे।

एक बार वे अपने गुरु विशालकीर्ति जी की आज्ञा विना ही महाराष्ट्र आदि प्रदेशो में वाद विवाद के लिए चल दिये; भ्रमण करते हुए कर्णाटक प्रान्त के विजयपुर राज्य के राजा कुन्तिभोज की राज्यसभा में पहुंचकर उन्होंने अपनी विद्वत्ता और प्रतिभा का परिचय दिया, जिससे राजा प्रभावित हुआ और उसने अपने पूर्वजों के वर्णन का अनुरोध किया तो मुनि जी ने लेखक की मांग की, इस पर महाराज कुन्तिभोज ने अपनी विदुषी पुत्री मदन मंजरी से आग्रह किया और उसने पर्दे के पीछे छिपकर लिखना स्वीकार कर लिया। कालान्तर मे दोनो में प्रेम प्रसंग बढ़ गया, जब गुरु विशालकीर्ति को इसका पता तो उन्होंने प्रताड़ना भरे पत्र लिखकर अपने शिष्यों को उनके पास उन्हें वापिस लिवा लाने को भेजा, पर मुनि जी पर इसका कोई असर न हुआ किन्तु कुछ दिनों बाद उन्हें स्वयं बोध हुआ और आत्मग्लानि से पीड़ित हुए तब उन्होंने इस दुष्कर्म से निवृत्ति लेकर पुनः दीक्षा धारण

की और "शासनचतुस्त्रिंशतिका" की रचना की जिसमे अपनी दुर्बलता को स्वीकार करते हुए आद्य छंद लिखा है—

शासनचतुस्त्रिंशतिका—

यत्पापवासाद्वालो यं यमौ सोपाश्रय स्मय ।
शु(शो)क्षत्यसौ यतिर्जैनभूचु श्रीपूज्यसिद्धयः ॥१॥

इस अनुष्टुप् छन्द के एक-एक अक्षर से प्रारम्भ करते "शासनचस्त्रिंशतिका" के शेष तेतीस छन्दों की रचना की है अंत मे मालिनी छंद मे प्रशस्ति स्वरूप आत्म परिचय दिया है—

इति हि मदनकीर्तिश्चिन्तयन्नात्मचित्ते,
विगलति सति रात्रेस्तु र्यभागार्द्धभागे ।
कपटशतविलासान् दुष्टवागान्धकारान्,
जयति विहरमाणः साधुराजीव बन्धुः ॥३५॥

प्रथम श्लोक के प्रत्येक अक्षर से प्रारम्भ होने वाले शेष तेतीस छदों के विषय मे श्री सोमदेव ने 'यशस्तिलक-चम्पू मे लिखा है—

अग्रेतन वृत्तानामाद्याक्षरैः निर्मितः श्लोकोऽयम् ।
यः पापनाशाय यतते सयतिर्भवेत् ॥७।४४

यहां हम इसी के स्पष्टीकरण हेतु लिखते हैं—किस अक्षर से कौन-सा छद प्रारम्भ होता है तथा उसमें किस क्षेत्र का वर्णन है ? ये सभी छद संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित छंद है—

यत्—यद्दीपस्यशिखेव······ प्रथम छद इसमें कैलास क्षेत्र का उल्लेख है ।

पा—पादाङ्गुष्ठ नख प्रभासु······ द्वि० छंद में पोदनपुर के बाहुबली का उल्लेख है ।

प—पत्र यत्र विहायसि······तृ० छंद में श्रीपुर (शिरपुर) के अतरीक्ष पार्श्वनाथ का उल्लेख है ।

वास—वास सार्थपतेः पुरा······चतुर्थ छंद में हुलगिरि के शखजिन तीर्थ का उल्लेख है ।

सा—सानन्दं निधयो नवाऽपि ···· पंचम छंद में धारा के पार्श्वनाथ का उल्लेख है ।

द्वा—द्वापंचाशदनूनपाणि परमो—छठे छंद में बृहत्पुर के ५७ हाथ ऊँचे बृहद्देव का उल्लेख है ।

लो—लोकैः पचशतीमितैरविरतं····· सातवें छंद में जैनपुर (जैनबद्री) के गोम्मटदेव का उल्लेख है ।

यं—यं दुष्टो न हि पश्यति····· आठवें छद मे पूर्व दिशा के पार्श्वनाथ का उल्लेख है ।

य—यः पूर्वं भुवनैक मण्डनमणि····· नवे छद मे वेत्रवती (वेतवा) के तट पर स्थित शान्तिजिन का उल्लेख है सम्भवतः बजरंगगढ़ या अहार क्षेत्र के शांतिनाथ हो ।

यौ—यौगाः यं परमेश्वर हि कपिल···दशवे छद मे यौगों (कापालिको) का उल्लेख है ।

सो—सोपानेषु सकपर्टमिष्ट ..११वे छंद मे सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त बीस तीर्थंकरों का उल्लेख है ।

पा—पाताले परमादरेण परया १२वे छद मे पुष्पपुर (पटना) के पुष्पदन्त का उल्लेख है ।

स्र(श्रा)—स्रष्टेति द्विजनायकैर्हरिरिति ··१३वें छद मे नागद्रह के पार्श्व का उल्लेख है ।

य—यस्याः पाथसिनामविंशति भिदा···१४वें छंद मे सम्मेदगिरि की अमृतवापी का उल्लेख है ।

स्म—स्मार्ता पाणिपुटोदनादनमिति···१५वे छद मे वेदात वादियो का उल्लेख है ।

यः—यस्य स्नानपयोऽनुलिप्तमखिल १६वे छद मे पश्चिम सागर के चन्द्रप्रभु का उल्लेख है ।

शु(शो)—शुद्धे सिद्धशिला तले सुविमले···१७वें छद मे छाया पार्श्वप्रभु का उल्लेख है ।

क्ष—क्षाराम्भोधिपयः मुधाद्रवइव···१८वें छन्द में पांच सौ धनुष प्रमाण आदिनाथ का उल्लेख है ।

ति—तिर्यञ्चोऽपिनमन्तियं निजशिरा···१६वें छन्द मे पावापुर के महावीर का उल्लेख है ।

सौ—सौराष्ट्रे यदुवंशभूषण मणे:···२०वें छन्द में गिरनार के नेमिनाथ का उल्लेख है ।

य—यस्याऽद्याऽपि सुदुन्दुभिश्वरमलं···२१वें छन्द में चंपापुर के वासुपूज्य का उल्लेख है ।

ति—तिर्यग्वेषमुपास्य पश्यततपो···२२वें छन्द मे वैशेषिकों का उल्लेख है ।

जै—जैनाभासमतं विधाय कुधिया···२३वें छन्द मे श्वेताम्बरों का उल्लेख है ।

न—नाऽभुतं किलकर्म जालमसकृत् ··२४वें छन्द मे शैवो का उल्लेख है ।

भू—भूर्तिः कर्मशुभाशुभं हि···२५वें छन्द में सांख्यों का उल्लेख है ।

चा—चार्वाकैश्चरितोज्झितरभिमतो…२६वें छन्द मे चार्वाकों का उल्लेख है।

श्री—श्रीदेवी प्रमुखाभिरचितपदाम्भोजः—२७वे छन्द मे नर्मदान्डे शान्तिजिन का वर्णन है।

पू—पूर्वं याऽऽश्रमजगाम सरितां…२८वें छन्द में अवरोध नगर के मुनि सुव्रतनाथ का वर्णन है।

ज्य—जायानाम परिग्रहोऽपि भविनां…२९वें छन्द मे अपरिग्रह का वर्णन है।

सि—सिक्ते सत्सरितोऽम्बुभिः शिखरिणः…३०वें छन्द मे विपुलाचल का वर्णन है।

ध—धर्माधर्मशरीर जन्यजनक…३१वें छन्द मे बौद्धों का वर्णन है।

यः—यस्मिन् भूरिविधातुरेकमनसो… ३२वें छन्द में विध्यगिरि का वर्णन है।

आ—आस्ते सम्प्रति मेदपाठविषये…३३वें छन्द में मेवाड के मल्लिनाथ का वर्णन है।

श्री—श्रीमन्मालव देश मगलपुरे… ३४वे छन्द में मालवा के मंगलपुर में स्थित अभिनंदन स्वामी का वर्णन है।

इस तरह मुनि मदनकीर्ति प्रथम ने केवल ३५ छन्दो की रचना कर इतिहास में अपना स्थान बना लिया है जैसे कि हिन्दी मे पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने केवल एक कहानी—'उसने कहा था' लिखकर इतिहास में अपना स्थान बना लिया है। मुनि जी की इस रचना के अतिरिक्त भण्डारों में खोज करने पर सम्भवतः राजा कुन्तिभोज के पूर्वजों की गाथा मिल जावे तो वह इतिहास की बहुमूल्य धरोहर सिद्ध होगी। 'शासन चतुस्त्रिंशतिका' के प्रत्येक छन्द के अन्त में 'दिग्वाससां शासनम्' का प्रयोग कर मुनिश्री ने दिगम्बरत्व की प्रधानता को विशेष रूप से घोषित किया है। इन छन्दों में अनेकों ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश है जैसे ३४वें छन्द मे म्लेच्छ शहाबुद्दीन गोरी का मालवा के आक्रमण का उल्लेख है। २८वें छद में आश्रमपत्तन (केशोराय पाटन) में मुनि सुव्रत नाथ का चैत्यालय ऐतिहासिक है। यहां नेमचन्द्र सिद्धान्तदेव और ब्रह्मदेव रहते थे। यहां सोमराज श्रेष्ठी के लिए नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव ने 'द्रव्यसग्रह' की रचना की थी तथा ब्रह्मदेव ने उसकी टीका की थी। देखो ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसंग्रह की टीका का आद्य गद्यांश। इस तरह और भी कई ऐतिहासिक घटनाएँ इन ३५ छन्दो से जुड़ी हुई हैं। नवम छन्द में वेतवा के शान्ति जिन। लगता है पाड़ा साहु द्वारा निर्मित शान्तिनाथ की प्रतिमा आहार क्षेत्र या बजरंगगढ़ स्थित प्रतिमा हो। उपर्युक्त कृति से यह तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुनि श्री पर्यटक थे और विभिन्न तीर्थस्थलों की उन्होंने यात्रा की थी। स्व० पं० परमानन्द जी का मत है कि मुनिश्री पुनः दीक्षित न होकर अर्हद्दास नाम से गृहस्थ हो गये थे और मुनि सुव्रत काव्य जैसी कृतियों की रचना की पर इसमे कितनी प्रमाणिकता है यह शोध का विषय है पर 'शासनचतुस्त्रिंशतिका' का पहला अनुष्टुप् छन्द निश्चय ही उनके पुनः दीक्षित होने का द्योतक है।

तीसरे छन्द मे वर्णित श्रीपुर महाराष्ट्र के अकोला जिला स्थित वाशिम ताल्लुके का ग्राम शिरपुर है जहां अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की सातिशय प्रतिमा विद्यमान है और दिगम्बरी प्रतिमा है। कहते हैं इसके नीचे से घुड़सवार या सिर पर घड़ा रखे पनिहारिन निकल जाती थी पर अब काल दोष से उतना प्रभाव तो नहीं रहा फिर भी इसके नीचे से अभी भी रुमाल या पतला कपड़ा निकल सकता है। सम्पूर्ण क्षेत्र दिगम्बरी है पर इस सातिशय प्रतिमा पर श्वेताम्बरों ने अपना अधिकार कर लिया है और एक विवादास्पद स्थिति पैदा कर दी है, आशा है लोग मिल बैठकर समुचित समाधान ढूंढ़ निकालेंगे।

मुनि मदनकीर्ति द्वितीय—मुनिश्री मदनकीर्ति द्वि० बलात्कार गण की दिल्ली जयपुर शाखा की आचार्य परम्परा में भट्टारक पद्मनंदी के शिष्य थे। इस शाखा की स्थापना भ० शुभचन्द्र ने सं० १४५० में की थी, वे ५६ वर्ष तक इस पट्ट पर आसीन रहे। वे ब्राह्मण जाति के थे। इसी परम्परा मे मुनि मदनकीर्ति द्वि० के शिष्य नरसिंहक ने झुन्झुणपुर में "तिलोयपण्णत्ती" की मार्गशीर्ष शुक्ला ण भौमवार सं० १५१७ को प्रतिलिपि की थी तथा ज्येष्ठ सुदी १० बुधवार सं० १५२१ को ग्वालियर में "पउमचरिउ" की प्रतिलिपि इन्ही मुनिश्री के शिष्य ने नेत्रनंदी के लिए लिखी थी। इस आचार्य परम्परा में प्रभाचन्द्र पद्मनंदी, शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, पद्मनंदी, मदनकीर्ति, नेत्रनंदी आदि अनेक भट्टारक हुए हैं। पउमचरिउ

की प्रशस्ति मूलरूप से उद्धृत कर रहे हैं—"संवत् १५२१ वर्षे ज्येष्ठ मासे सुदि १० बुधवारे श्री गोपाचल दुर्गे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे·· ···भ० श्री प्रभाचन्द्र देवा: तत्र श्री पद्मनंदि शिष्य श्री मदनकीर्ति देवा: तच्छिष्य श्री नेत्र-नंदी देवा: तन्निमित्रे खंडेलवाल लुहाड़िये गोत्रे संगही घामा भार्या धनश्री······"

तिलोयपण्णत्ती की मूल प्रशस्ति निम्न प्रकार है—"स्वस्ति श्री संवत् १५१७ वर्षे मार्ग सुदि ५ भौमवारे मूलसंघे बलात्कारगणे······भ० पद्मनंदी देवा: तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द देवा: मुनिश्री मदनकीर्ति तच्छिष्य ब्रह्म नर-सिंहकस्य······श्री झुञ्झुणपुरे लिखितमेतत्पुस्तकम् ।"

इस तरह मुनिश्री मदनकीर्ति द्वि० का संक्षिप्त-सा उल्लेख मिलता है, इनकी किसी कृति का कोई पता नही चलता है। पर मुनिश्री मदनकीर्ति प्रथम की विद्वत्ता एवं प्रतिभा से जैन साहित्य का इतिहास जगमगा रहा है। यद्यपि उनकी छोटी-सी एक ही रचना 'शासनचतुस्त्रिंश-तिका' उपलब्ध है पर यदि भण्डारों को खोजा जाय और उसमें महाराज कुन्तिभोज के पूर्वजों की यशोगाथा यदि मिल जाती है तो इतिहास की बहुमूल्य धरोहर हाथ लग सकती है। मुनिश्री मदनकीर्ति प्रथम इतिहासवेत्ता भी थे अपनी छोटी-सी कृति में उन्होने इतिहास की अनेकों घट-नाओं का उल्लेख किया है जिन्हें लोग प्राय: विस्मृति के गर्भ में डुवा चुके हैं। जहां वे इतिहास के वेत्ता थे वहां उन्हें जैनेतर दर्शनों सांख्य, वैशेषिक, चार्वाक, शैव, मीमांसक नैय्यायिक, कापालिक आदि का भी गम्भीर अध्ययन था इसी के बल पर वे वाद-विवाद में कभी परा-जित नहीं होते थे और दिगम्बर शासन की धर्मध्वजा को फहराते हुए निर्भयता पूर्वक विभिन्न प्रदेशों मे विचरण किया करते थे और अपनी यश पताका फहराते रहते थे। उन्होंने गिरकर संभलना सीखा था, ऐसे दृढ़ अध्यवसायी परमपुनीत मुनिश्री के चरणों मे अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूं।

श्रुत कुटीर, ६८ विश्वास मार्ग,
विश्वासनगर, शाहदरा दिल्ली-३२

विगौड़ा (टीकमगढ़) निवासी देवी दास भायजी के दो पद :—

(१)

राग केदारो, राग सोरठ—

तिन्हि निज पर गुन चीन्हौ रे।

चेतन अंक जीव निज लच्छन जड़ सु अचेतन रीन्हों रे।
दरसन ज्ञान चरन जिनके घट प्रकट भये गुन तीनो रे।
जाननहार हुतो सोई जान्यो लखन हार लखि लीन्हो रे।
ग्राहक जोग वस्तु ग्राहज करि, त्याग जोग तजि दीनो रे।
धरने की सु सुधार ना धरि, पुनि करने काज सु कीनो रे।
सत रागादि विभाव परिनमन सो समय प्रति खीनो रे।
देवियदास भयो सिव सनमुख सो निरग्रंथ उछीन्हो रे॥

(२)

राग नट—

नियति लटी हो नियति लटी,
हम देखी जग जीवनि की नियति लटी।
सुमति सखि सरवंग विसरि करि ढोकै दुर्गति नकटी॥१॥
राजकथा तसकर त्रिय भोजन विसवा सर मुख सुठटी।
क्रोध कलित प्रति सुमान मय लोभ लगन अंतर कपटी॥२
सपरस लीन गंध रसना रस वरन रूप सुर नर प्रगटी।
श्रवन सबद सुन मगन रहत पुनि निद्रा जुत अस्नेह हटी॥३
बसत प्रमाद पुरां जुग जुग के छांड़ि सबै निज बल सुभटी।
टुक सुख काज इलाज करत बहु परबस परि मरजाद घटी।
गुरु उपदेश विषै सुन आवत तिनतैं भव परणति उचटी।
देवीदास कहत जिय सींचत फलहृत बेलि नहीं उखटी॥ण॥

—श्री कुन्दन लाल जैन के सौजन्य से

जैन यक्ष-यक्षी प्रतिमाएँ

□ श्री रामनरेश पाठक

शासन देवता समूह में २४ यक्षों और उतनी ही यक्षियों की गणना है। ये यक्ष और यक्षी तीर्थंकरों के रक्षक कहे गये हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं के दायें ओर यक्ष और बायें ओर एक यक्षी की प्रतिमाएँ बनाये जाने का विधान है[1]। पश्चातकाल में स्वतंत्र रूप से भी यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ बनाई जाने लगी थी। यद्यपि तांत्रिक युग के प्रभाव से विवश होकर जैनों को इन देवों की कल्पना करनी पड़ी थी किन्तु इन्हें जैन परम्परा में सेवक या रक्षक का ही दर्जा मिला है न कि उपास्य देव का यक्ष-यक्षियों प्रतिमाएँ सर्वांग सुन्दर सभी प्रकार के अलंकारों से युक्त बनाने का विधान है[2]। करण्ड मुकुट और पत्र कुण्डल धारण किये प्राय: ललितासन में बनायी जाती है। केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ एवं बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के यक्ष-यक्षियों की चार प्रतिमाएँ संरक्षित हैं। जिसका विवरण निम्नलिखित है :—

गोमुख यक्ष—प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के शासन देवता की गंधावल जिला देवास मध्य प्रदेश से प्राप्त गोमुख यक्ष का मुख पशु आकार (गोववक्त्र) और शरीर मानव का है। (सं. क्र. २३०) अप सव्य ललितासन में बैठे हुए शासन देव की दायीं नीचे की भूजा भग्न है। दायीं ऊपरी भुजा में गदा, बायीं ऊपरी भुजा में परशु व नीचे की भुजा में बीजपूरक लिए है। यक्ष आकर्षक करण्ड मुकुट मुक्तावली, उरुबन्ध, केयूर, बलय, मेखला से सुसज्जित है[3]। कलात्मक अभिव्यक्ति ११वीं शती ई० परमार युगीन शिल्प कला के अनुरूप है।

चक्रेश्वरी—प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की शासन यक्षी चक्रेश्वरी की ग्वालियर दुर्गसे प्राप्य मानवरूपी गरुड़ पर सवार है, सिर एवं ऊपर के दो हाथ खंडित हैं। (सं. क्र. ३०५) नीचे के दो हाथ आंशिकरूप से सुरक्षित हैं। दोनों ओर दो चक्र बने हुए हैं, यक्षी एकावली, हार, उरुबंध, केयूर, बलय, मेखला पहने हुए हैं एवं पैरों में अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं। गरुड़ के सिर पर आकर्षक केश, चक्र कुण्डल, हार मेखला पहने हुए है। दोनों पार्श्व में त्रिभंग मुद्रा में परिचारिका, चांवरधारिणी सुशोभित है। बांया हाथ कट्यावलम्बित है। दोनों पार्श्व में अंजली हस्त मुद्रा मे भू-देव और श्रीदेवी का आलेखन है[4]। १०वीं शती की यह प्रतिमा काफी भग्न अवस्था मे है। कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से मूर्ति उत्तर प्रतिहार कालीन शिल्प कला के अनुरूप है।

गोमेघ अम्बिका—बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन यक्ष-यक्षी गोमेघ अम्बिका की प्रतिमा ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त हुई है। (सं. क्र. २६४) गोमेघ अम्बिका सव्य ललितासन मे बैठे हुए है। गोमेघ की दायीं भुजा एवं मुख भग्न है। बायी भुजा से बायी जघा पर बैठे हुए बालक जेष्ठ पुत्र शुभंकर को सहारा दिये है। बालक का सिर भग्न है। वे मुक्तावली एवं केयूर धारण किये है। अंबिका की दायी भुजा में स्थित आम्रलुम्बी भग्न है। बायीं भुजा से बालक कनिष्ट पुत्र प्रियंकर को सहारा दिये हुए है। देवी आकर्षक केश, चक्र एवं पद्म कुण्डल, मुक्तावली, उरुबन्ध, बलय व नूपुर धारण किए है। देवी का दायां पैर पद्म पर रखे हुए है। बायें पार्श्व मे आम्रलुम्बी आंशिक रूप से सुरक्षित है। उसके नीचे एक पुरुष अंकित है, जिसकी दायीं भुजा भग्न है। बायीं भुजा कट्यावलम्बित है। पादपीठ पर दोनों ओर दो कुन्तलित केश युक्त ललितासन मे दो प्रतिमा अंकित है जिसको दायीं भुजा अभय मुद्रा में बायीं, बायें पैर की जघा पर है। मध्य में दो योद्धा युद्ध लड़ रहे है। राजकुमार शर्मा की सूची में इस मूर्ति को स्त्री-पुरुष दो बालक लिखा हुआ है[5]। ११वीं शती ई० की यह मूर्ति कच्छाधात युगीन शिल्प कला के अनुरूप है।

अम्बिका –बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन यक्षी अम्बिका की तुमेन जिला गुना मध्यप्रदेश से प्राप्त हुई है। (स. क्र. ४६) सव्य ललितासन में सिंह पर बैठी हुई है। बायीं जंघा पर लघु पुत्र प्रियंकर खड़ा हुआ है। दायें ओर ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर खड़ा हुआ है। देवी दायीं भुजा में आम्रलुम्बी लिए है एवं बायीं भुजा से अपने लघु

(शेष पृ० २० पर)

की प्रशस्ति मूलरूप से उद्धृत कर रहे हैं—"संवत् १५२१ वर्षे ज्येष्ठ मासे सुदि १० बुधवारे श्री गोपाचल दुर्गे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे……भ० श्री प्रभाचन्द्र देवाः तत्र श्री पद्मनंदि शिष्य श्री मदनकीर्ति देवाः तच्छिष्य श्री नेत्र-नंदी देवाः तन्निमित्रे खंडेलवाल लुहाड़िये गोत्रे संगही धामा भार्या धनश्री……"

तिलोयपण्णत्ती की मूल प्रशस्ति निम्न प्रकार है—"स्वस्ति श्री संवत् १५१७ वर्षे मार्ग सुदि ५ भौमवारे मूलसंघे बलात्कारगणे……भ० पद्मनदी देवाः तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द देवाः मुनिश्री मदनकीर्ति तच्छिष्य ब्रह्म नर-सिंहकस्य……श्री झुंझुणपुरे लिखितमेतत्पुस्तकम् ।"

इस तरह मुनिश्री मदनकीर्ति द्वि० का संक्षिप्त-सा उल्लेख मिलता है, इनकी किसी कृति का कोई पता नही चलता है। पर मुनिश्री मदनकीर्ति प्रथम की विद्वत्ता एवं प्रतिभा से जैन साहित्य का इतिहास जगमगा रहा है। यद्यपि उनकी छोटी-सी एक ही रचना 'शासनचतुस्त्रिंश-तिका' उपलब्ध है पर यदि भण्डारों को खोजा जाय और उसमें महाराज कुन्तिभोज के पूर्वजों की यशोगाथा यदि मिल जाती है तो इतिहास की बहुमूल्य धरोहर हाथ लग सकती है। मुनिश्री मदनकीर्ति प्रथम इतिहासवेत्ता भी थे अपनी छोटी-सी कृति में उन्होने इतिहास की अनेकों घट-नाओं का उल्लेख किया है जिन्हें लोग प्रायः विस्मृति के गर्भ में डुबा चुके हैं। जहां वे इतिहास के वेत्ता थे वहां उन्हें जैनेतर दर्शनों सांख्य, वैशेषिक, चार्वाक, शैव, मीमांसक नैय्यायिक, कापालिक आदि का भी गम्भीर अध्ययन था इसी के बल पर वे वाद-विवाद में कभी परा-जित नही होते थे और दिगम्बर शासन की धर्मध्वजा को फहराते हुए निर्भयता पूर्वक विभिन्न प्रदेशों में विचरण किया करते थे और अपनी यश पताका फहराते रहते थे। उन्होने गिरकर संभलना सीखा था, ऐसे दृढ़ अध्यवसायी परमपुनीत मुनिश्री के चरणों मे अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूं।

श्रुत कुटीर, ६८ विश्वास मार्ग,
विश्वासनगर, शाहदरा दिल्ली-३२

विगौडा (टीकमगढ़) निवासी देवी दास भायजी के दो पद :—

(१)

राग केदारो, राग सोरठ—

तिन्हि निज पर गुन चीन्हो रे।

चेतन अंक जीव निज लच्छन जड सु अचेतन रीन्हों रे।
दरसन ज्ञान चरन जिनके घट प्रकट भये गुन तीनो रे।
जाननहार हुतो सोई जान्यो लखन हार लखि लीन्हो रे।
ग्राहक जोग वस्तु ग्राहज करि, त्याग जोग तजि दीनो रे।
धरने की सु सुधार ना धरि, पुनि करने काज सु कीनो रे।
सत रागादि विभाव परिनमन सो समय प्रति खीनो रे।
देबियदास भयो सिव सनमुख सो निरग्रंथ उछीन्हो रे॥

(२)

राग नट—

नियति लटी ही नियति लटी,
हम देखी जग जीवनि की नियति लटी।
सुमति सखि सरवंग विसरि करि डोकै दुर्गति नकटी॥१॥
राजकथा तसकर त्रिय भोजन विसबा सर मुख सुठटी।
क्रोध कलित प्रति सुमान मय लोभ लगन अंतर कपटी॥२
सपरस लीन गंध रसना रुख वरन रूप सुर नर प्रगटी।
श्रवन सबद सुन मगन रहत पुनि निद्रा जुत असनेह हटी॥३
बसत प्रमाद पुरां जुग जुग के छांड़ि सबै निज बल सुभटी।
टुक सुख काज इलाज करत बहु परबस परि मरजाद घटी।
गुरु उपदेश विषै सुन आवत तिनतैं भव परणति उचटी।
देवीदास कहत जिय सींचत फलहन बेलि नहीं उखटी॥ण॥

—श्री कुन्दन लाल जैन के सौजन्य से

जैन यक्ष-यक्षी प्रतिमाएँ

□ श्री रामनरेश पाठक

शासन देवता समूह में २४ यक्षों और उतनी ही यक्षियों की गणना है। ये यक्ष और यक्षी तीर्थंकरों के रक्षक कहे गये हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं के दायें ओर यक्ष और बायें ओर एक यक्षी की प्रतिमाएँ बनाये जाने का विधान है[1]। पश्चातकाल में स्वतंत्र रूप से भी यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ बनाई जाने लगी थी। यद्यपि तांत्रिक युग के प्रभाव से विवश होकर जैनों को इन देवों की कल्पना करनी पड़ी थी किन्तु इन्हें जैन परम्परा में सेवक या रक्षक का ही दर्जा मिला है न कि उपास्य देव का यक्ष-यक्षियों प्रतिमाएँ सर्वांग सुन्दर सभी प्रकार के अलंकारों से युक्त बनाने का विधान है[1]। करण्ड मुकुट और पत्र कुण्डल धारण किये प्राय: ललितासन में बनायी जाती है। केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ एवं बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के यक्ष-यक्षियों की चार प्रतिमाएँ संरक्षित हैं। जिसका विवरण निम्नलिखित है :—

गोमुख यक्ष—प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के शासन देवता की गंधावल जिला देवास मध्य प्रदेश से प्राप्त गोमुख यक्ष का मुख पशु आकार (गोववत्रक) और शरीर मानव का है। (सं. क्र. २३०) अप सव्य ललितासन में बैठे हुए शासन देव की दायीं नीचे की भूजा भग्न है। दायी ऊपरी भुजा में गदा, बायी ऊपरी भुजा में परशु व नीचे की भुजा में बीजपूरक लिए है। यक्ष आकर्षक करण्ड मुकुट मुक्तावली, उरुबन्ध, केयूर, बलय, मेखला से सुसज्जित है[1]। कलात्मक अभिव्यक्ति ११वीं शती ई० परमार युगीन शिल्प कला के अनुरूप है।

चक्रेश्वरी—प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की शासन यक्षी चक्रेश्वरी की ग्वालियर दुर्गसे प्राप्य मानवरूपी गरुड़ पर सवार है, सिर एवं ऊपर के दो हाथ खंडित हैं। (सं. क्र. ३०५) नीचे के दो हाथ आंशिकरूप से सुरक्षित हैं। दोनों ओर दो चक्र बने हुए हैं, यक्षी एकावली, हार, उरुबंध, केयूर, बलय, मेखला पहने हुए हैं एवं पैरों में अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं। गरुड़ के सिर पर आकर्षक केश, चक्र कुण्डल, हार मेखला पहने हुए है। दोनों पार्श्व में त्रिभंग मुद्रा में परिचारिका, चांवरधारिणी सुशोभित है। बांया हाथ कट्यावलम्बित है। दोनों पार्श्व में अंजली हस्त मुद्रा में भू-देव और श्रीदेवी का आलेखन है[४]। १०वीं शती की यह प्रतिमा काफी भग्न अवस्था मे है। कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से मूर्ति उत्तर प्रतिहार कालीन शिल्प कला के अनुरूप है।

गोमेघ अम्बिका—बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन यक्ष-यक्षी गोमेघ अम्बिका की प्रतिमा ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त हुई है। (सं. क्र. २६४) गोमेघ अम्बिका सव्य ललितासन मे बैठे हुए है। गोमेघ की दायी भुजा एवं मुख भग्न है। बायी भुजा से बायीं जघा पर बैठे हुए बालक जेष्ठ पुत्र शुभंकर को सहारा दिये है। बालक का सिर भग्न है। वे मुक्तावली एवं केयूर धारण किये है। अंबिका की दायीं भुजा मे स्थित आम्रलुम्बी भग्न है। बायीं भुजा से बालक कनिष्ट पुत्र प्रियंकर को सहारा दिये हुए है। देवी आकर्षक केश, चक्र एवं पद्म कुण्डल, मुक्तावली, उरुबन्ध, बलय व नूपुर धारण किए है। देवी का दायाँ पैर पद्म पर रखे हुए है। बायें पार्श्व में आम्रलुम्बी आंशिक रूप से सुरक्षित है। उसके नीचे एक पुरुष अंकित है, जिसकी दायी भुजा भग्न है। बायी भुजा कट्यावलम्बित है। पादपीठ पर दोनो ओर दो कुन्तलित केश युक्त ललितासन में दो प्रतिमा अंकित है जिसकी दायी भुजा अभय मुद्रा में बायीं, बायें पैर की जघा पर है। मध्य में दो योद्धा युद्ध लड़ रहे है। राजकुमार शर्मा की सूची में इस मूर्ति को स्त्री-पुरुष दो बालक लिखा हुआ है[५]। ११वी शती ई० की यह मूर्ति कच्छपधात युगीन शिल्प कला के अनुरूप है।

अम्बिका—बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन यक्षी अम्बिका की तुमेन जिला गुना मध्यप्रदेश से प्राप्त हुई है। (स. क्र. ४१) सव्य ललितासन मे सिंह पर बैठी हुई है। बायीं जंघा पर लघु पुत्र प्रियंकर खड़ा हुआ है। दायें ओर ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर खड़ा हुआ है। देवी दायीं भुजा में आम्रलुम्बी लिए है एवं बायीं भुजा से अपने लघु

(शेष पृ० २० पर)

"कामां" के कवि सेढूमल का काव्य

☐ डा० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

चौरासी खम्भा और पुष्टिमार्गीय कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय के प्राचीन पीठ के रूप में भरतपुर जिले के कामवन कस्बे का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व है। यह कस्बा जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह के पुत्र कीर्तिसिंह की जागीरदारी में भी रहा था। दिगम्बर आम्नाय के सुधारवादी पंथ 'तेरहपंथ' के विकास में इस उपनगर की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। सांगानेर कस्बे मे उत्पन्न जोधराज गोदीका (लेखन काल संवत् १७२३ के आस पास) को रूढ़ाचार के प्रति तीव्र विरोध करने की प्रेरणा सांगानेर के जैन समाज को प्राप्त कांमा के जैन समाज की चिट्ठी से ही मिली थी। क्षत्रियवंशोत्पन्न कवियित्री पानकुंवरि की जिनेन्द्रभक्ति और हेमराजकृत मुक्तक काव्य 'दोहा शतक' ने जैन साहित्य के इतिहास में भी कांमा नगर को गरिमापूर्ण स्थान दिलवाया है। मध्य युग मे उत्तर भारत मे जैन समाज के उत्सव बड़े उत्साह पूर्वक व्यापार स्तर पर मनाये जाते थे। इन उत्सवों में 'कांमा' का रथोत्सव बड़ा प्रसिद्ध था। शताधिक पदों का रचयिता अर्चचित जगराम गोदीका (अभी तक अर्चचित) कांमा आकर श्रद्धापूर्वक रथोत्सव में सम्मिलित हुआ था। उसी के शब्दों में—

सुफल फली मन कामना जब कामा आये।
रथारूढ़ प्रभु देखि कै अति आनंद पाये।
बन बिहार को जब सुन्यौ, वाजित्र बजाये।
तब संघ उछाह सौं जिन मंगल गाये।
मूरति सुन्दर सोहनी, लखि नैन सिराये।
निरखि निरखि चित्त चोप सौं, फिरि फिरि ललचाये।
फुनि पूजा विधि जब लसी, अंग अंग सरसाये।
तब 'जगराम' जिनंद पै अष्टांग नवाये।।

'कांमा' मे प्रति वर्ष आयोजित होने वाली इस 'रथयात्रा' में विभिन्न स्थानों के श्रावकों के भाग लेने की चर्चा कवि सेढूमल ने भी की है—

कामा सैहर सुहावै हो, देखत चित्त न अघावै।
तेरहपंथी दिढ़ सरधानी, और चलन नहिं भावै हो।
जामैं जिनमंदिर शुभ सोहै, देखत चित्त न अघावै।
बरस बरस में होइ जाया, भविजन पुन्य कमावै हो।
देश देश के श्रावग आवै, पूजा देखि लुभावै।
'सेढू' जे परभावना करि है, सो मनवांछित पावै।

कामा नगर के प्रति अधिक झुकाव और आकर्षण रखने वाले कवि सेढूमल दीग के प्रसिद्ध सेठ अमैराम और

(पृ० १६ का शेषांश)

पुत्र प्रियंकर को सहारा दिये हुए है देवी आकर्षक केश कुण्डल, मुक्तावली, केयूर, बलय, मेखला नूपुर पहने हुए है। ऊपर आम्र वृक्ष की छाया है। एस. आर. ठाकुर ने इस मूर्ति को पार्वती लिखा[6] है। जबकि डा. ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा ने इस मूर्ति को अम्बिका ही लिखा है[7]। डा. राजकुमार शर्मा की सूची मे इस प्रतिमा को पार्वती लिखा गया है[8]। उक्त प्रतिमाएँ केन्द्रीय सग्रहालय गूजरी महल में संरक्षित है।

पुरातत्ववेत्ता, पुरातत्व एवं सग्रहलय
नलधर सुभाष स्टेडियम के पीछ,
रायपुर (म० प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. वसुनन्दि ५/१२ २. वसुनन्दि ४/२१
३. शर्मा राजकुमार मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सदर्भ ग्रन्थ भोपाल १९७४ पृ० ४७४ क्रमाक २२९.
४. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृ० ४७६ क्र० ३०१.
५. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृ०४७६ क्र० २९४.
६. ठाकुर एस.आर. कैटलोग आफ स्कल्पचर्स आर्किलोजिकल म्यूजियम एम. बी. पृ० ७.
७. शर्मा बृजेन्द्रनाथ 'जैन प्रतिमाएँ, दिल्ली १९७९ पृ. ७९
८. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृ० ४६८ क्र० ४८.

चेतन के बड़े श्रद्धापात्र थे। कवि ने स्वयं भी उनके द्वारा सहस्रों व्यक्तियों को दिये जाने वाले आहार दान का उल्लेख करते हुए उनके धर्मानुराग की चर्चा इस प्रकार की है—

जैन कुल जन्म खंडेलवाल निरपतेला वीग सहर नांमी
जास घर है।
पिता बालकिस्न जाको, धर्म ही सों राग अति,
और विकल्प जो मन मैं न धर है।
धन सो माता जिन जाये ये भ्रात,
कुल के आभूषण वित्त सारू दुख हर है।
अभयराम्र चेतन नाम करायो श्री जू को धाम,
या तें बड़ाई सेढू ज्यौं की त्यौं करि है॥

दीवान जी मन्दिर, वासन गेट, भरतपुर में प्राप्त एक गुटके में सेढू के ५०-६० पद सारग, सोरठ, गौरी, परभाती, धनाश्री, काफी, ईमन, बसत, धमाल रागों मे उपलब्ध है। इन पदो के अतिरिक्त इन्होंने दोहे भी लिखे। अभी तक केवल १२ दोहे उपलब्ध हैं। जिनेन्द्र देव के प्रति अपनी एक निष्ठता सेढूमल ने इन शब्दो में अभिव्यक्त की है—

जिनराज देव मोहि भावै हो,
कोई कछु न कहौ क्यों न माई।
और न चित्त सुहावै हो॥१
जाको नाव लेत इक छिन मैं कोट कलेस नसावै हो।
पूजत चरन कंवल नित ताके, मनवांछित रिध पावै हो।
इंद्रादिक सुर काकूं सेवत, देखत त्रिपत न पावै हो।
तीन लोक मन वच तन पूजै, 'सेढूं' तिन जस गावै हो।

अन्य आराध्यों की लघुता में कवि सेढूमल ने उनके अवतारी जीवन में भोगे गए दुःख और सुख को महत्त्वपूर्ण कारण माना है। राग और रोष से रहित जिनेन्द्र की आराधना के लिए सेढूमल किसी भी संकल्प-विकल्प की गुञ्जायश नहीं समझते—

कौन हमारो सहाइ प्रभू विन, कौन हमारो सहाइ।
और कुदेव सकल हम देखें, हाहा करत विहाइ।
निज दुख टालन कौ गम नाहीं, सो क्यों परं नसाय।
राग रोष कर पीड़न अत ही, सेवग क्यौं दुखदाय।
यातै संकलप विकलप छांडो, मन परतीत जु लाइ।
सेढूं ये भव भव सुखाइ, सेवो श्री जिनराय॥

नवधा भक्ति के विभिन्न अंगों मे 'पाद सेवन' और 'कीर्तन' में कवि की विशेष आस्था है—

करो हो ध्यान, अब करो हो ध्यान,
प्रभु चरन कमल को करो हो ध्यान।
जातं होय परम कल्यान।
आंन देव सेवो सुख जांन, ति तैं पं हौ अति दुख महान।
जाकी करत इन्द्रादिक सेव आन।
सोहै अघ तम नासन भान।।
'सेढं' जिन गुन नित करो हो गांन,
यही है अब तेरो सयान॥

अपने आराध्य की उपासना के लिए प्रचलित पद्धतियो मे से भक्त सेढूमल ने नाम स्मरण को अधिक चाहा है। उनकी दृष्टि मे संसार के दु.ख-सागर से उबारने और पशु पक्षी तक का उद्धार करने म 'जिन' का नाम ही सार्थक है—

श्री जिन नाम अधार मेरे, श्री जिन नाम अधार।
आगम विकट दुख सागर मैं से, ये ही लेह उबार।
या पटतर और नहि दूजौ, यह हम निहचै धार।
या चित धरते पसु पंषी भी उतरे भवदधि पार।
नर भव जन्म सफल नहीं ता विन, और सब करनी छार।
सोढं मन और वचन काय करि, सुमिरत क्यौं न गंवार।

कवि सेढूमल द्वारा लिखित दोहो मे कुछ ही दोहे प्राप्त है। सत महिमा और नाम महिमा स सम्बन्धित कवि के दो मुक्तक इस प्रकार है—

दुरजन कभी न सुख करै, लाख करो जो होय।
दूध पिलावो सर्प कूं, हालाहल विष होय॥१
श्री जिनवर के नाम की, महिमा अगम अपार।
भाव भगति कर जपत जे, ते पावति भव पार॥१२

सेढूमल कवि होने के अतिरिक्त श्रेष्ठ लिपिकर्त्ता थे। इन्होंने रामचन्द्रकृत चतुर्विशति पूजा को माघ बदि १३ संवत् १८८८ वि. मे लिपिबद्ध किया। इनकी अन्य लिपि-कृत रचना नवलसाहि कृत 'वर्धमान पुराण' संवत् १८७७ का है। दोनों लिपिकृत ग्रन्थो की सुवाच्यता और सुन्दरता को देखकर सेढूमल और उन जैसे सैकड़ों लिपिकर्ताओं के

प्रति मन में यकायक श्रद्धाभाव उमड़ पड़ता है जिन्होंने पिछले चार-पांच सौ वर्षों में अपने कठिन श्रम से भारतीय वाङ्मय को सुरक्षित और चिरजीवी बनाया है। वेल-वेडियर प्रेस प्रयाग ने संत साहित्य और पुष्टिमार्गीय संस्था कांकरौली ने कृष्ण भक्ति साहित्य के प्रकाशन में बड़ी तत्परता दिखलाई है। विभिन्नजिनालयो मे परम्परा से उपलब्ध लक्षाधिक हस्तलिखित कृतियो की उपेक्षा करके उन्हें चूहों और दीमकों की दया पर छोड़ना उचित न होगा। द्यानतराय, विनोदीलाल, नथमल बिलाला, देवीदास जगराम गोदीका जैसे श्रेष्ठ कवियो के काव्य-रत्नों को कब तक हम वेष्ठनों मे कैद रखेंगे? मध्ययुग मे सेढूमल जैसे त्यागी तथा अन्य वृत्तिभोगी ब्राह्मणो से जैन-श्रेष्ठि परम्परागत जैन ग्रन्थो की सहस्रो प्रतिलिपियां करवा कर विभिन्न जिनालयों में भेजा करते थे इसलिए ये कवि गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार सभी क्षेत्रों में बड़े लोकप्रिय हो गए।

इनके ग्रन्थ-रत्नों की चमक ने ब्रजभाषा अथवा पश्चिमी हिन्दी को बड़ा लोकप्रिय बनाया तथा विषम परिस्थितियों मे भी देश की भावात्मक एकता मे योगदान किया। आज वैज्ञानिक और सुविधा सम्पन्न युग में भी प्राचीन परम्परा से मिलता-जुलता रूप सुगमता से व्यव-हार्य हो सकता है। श्रेष्ठ कवियों की खोज, प्रकाशन और हिन्दी साहित्य मे उन्हें स्थान दिलवाने के लिए श्रेष्ठिजनों, शोधक और प्रतिष्ठित विद्वानो का समन्वित प्रयास अपे-क्षित हो गया।

□□

परिग्रह-पाप

परिग्रह ग्रहग्रस्तः सर्वं गिलितुमिच्छति।
धनं न तस्य संतोषः, सरित्पूरमिवार्णवः॥

—परिग्रहरूपी ग्रह से ग्रसित प्राणी समस्त धन को निगलना चाहता है उसे सन्तोष उसी प्रकार नही होता जिस प्रकार नदियो की बाढ़ से समुद्र को सन्तोष नही होता।

परिग्रहममुक्त्वा यो मुक्तिमिच्छति मूढधीः।
खपुष्पैः कुरुते सारं स बन्ध्यासुतशेखरम्॥

—जो मूर्ख 'परिग्रह' को छोड़े बिना मुक्ति (आत्मशुद्धस्वरूप) प्राप्त करना चाहता है, वह बन्ध्या के सुत और आकाश पुष्पों से मुकुट बनाना चाहता है।

द्रव्यं दुःखेनचायाति स्थितं दुःखेन रक्ष्यते।
दुःख शोककरं पापं धिक् द्रव्यं दुःख भाजनम्॥

—धन दुःख से आता जाता है, दुख से ठहरता है और दुख से रक्षा किया है। दुख-शोक को कराने वाले पापरूप द्रव्य को धिक्कार है—द्रव्य दुख का भाजन है।

शय्याहेतुं तृणादानं मुनीनां निन्दितं बुधैः।
यः स द्रव्यादिकं गृण्हन् किं न निन्द्यो जिनागमे॥

—विद्वानों से शय्या-हेतु तृण को ग्रहण करने वाले मुनि की निन्दा की गई है—जो मुनि द्रव्यादि को ग्रहण करता है वह जिन-आगम मे निन्द्य है।

सम्यग्दर्शन के तीन रूप

□ श्री मुन्नालाल जैन 'प्रभाकर'

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का मूल कारण तत्त्वविचार है। तत्व विचार के अभ्यास के बल तें मिथ्यात्व कर्म के निषेकों की स्थिति अनुभाग शक्तिहीन होय है और हीन होते-२ कुछ निषेक आगामी काल में उदय आने योग्य सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यग्प्रकृति रूप हो जाते हैं और कुछ निषेक बाद में उदय आने योग्य हो जाते हैं। उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व के कुछ निषेक भी सम्यक्प्रकृति रूप हो जाते हैं कुछ सम्यग्मिथ्यात्वरूप में ही रहते हैं। ये सम्यग्मिथ्यात्व के निषेक तथा मिथ्यात्व के वो निषेक जिनको बाद में उदय आने योग्य किये थे सत्ता में रहते हैं इनको सदवस्था रूप उपशम कहते हैं और जिन मिथ्यात्व तथा मिश्रमिथ्यात्व के निषेकों को सम्यक्प्रकृति रूप किये थे उनका स्वमुख से उदय का अभाव होता है तथा परमुख सम्यक्प्रकृति के रूप में उदय आता है और निर्जरा हो जाती है जिससे मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के निषेक बिना फल दिये खिर जाते है। उसके बाद जब इन मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व के निषेकों का उदय काल आता है तो इनका अभाव होता है और सम्यग्प्रकृति का उदय रहता है। उस समय जो सम्यग्दर्शन होता है वह क्षयोपशम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। क्योंकि इसमे मिथ्यात्व के कुछ सर्वघाती निषेको का उदयाभावी क्षय हो गया, कुछ का सदवस्था रूप उपशम है तथा इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व के कुछ निषेक सम्यक्प्रकृति रूप होकर खिर गये उनका अभाव है और कुछ निषेको का उपशम है तथा सम्यक्प्रकृति का उदय है इसलिए इस सम्यग्दर्शन को क्षयोपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सब क्रिया अंतरकरण विधान ते (तत्वविचार में उपयोग लगाने से) अनिवृत्तिकरण के समय अपने आप होती है। इस सम्यग्दर्शन मे सम्यक्प्रकृति का उदय बना रहता है परन्तु इसके उदय रहने से सम्यक्त्व की विराधना नहीं होती चल, मल, अगाढ़ दोष लगते रहते हैं इसका विशेष वर्णन लब्धिसार ३ में देखें तथा मोक्षमार्ग प्रकाश पृ० ३१६ में तत्वविचार के विषय मे कहा है देखो तत्वविचार की महिमा। तत्वविचार बिना देवादिक की प्रतीति करें, बहुत शास्त्र अभ्यासै, बहुत व्रत पाले, तपश्चरणादि भी करे तब भी सम्यक्त्व की प्राप्ति का अधिकारी नही है। तथा तत्वविचार वाला इन सब क्रियाओं के बिना सम्यग्दर्शन का अधिकारी हो हैं। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए तत्वविचार करना ही मुख्य कारण हो है, हां बहुत से जीव पहिले देवादिक की प्रतीति करें, शास्त्र अभ्यासें, व्रत पालें तथा तपश्चरण भी करें और बाद में तत्वविचार करने लग जाएँ तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के अधिकारी हो जाते हैं क्योंकि तत्वविचार में उपयोग को लगाने से अंतरकरण के द्वारा विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरितन स्थितियों को छोड़ मध्यवर्ती अंतरमुहूर्त मात्र स्थितियों का परिणाम विशेष के द्वारा अभाव हो जाता है (मो. मा. पृ. ३२१)।

यह क्षयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान में होता है इस क्षयोपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ हजार सागर है और यदि बीच में मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाता है तो मिथ्यात्व में आ जाता है। क्योंकि मिथ्यात्व के निषेकों की सत्ता है और यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाता है तो तीसरे मिश्रगुणस्थान को प्राप्त हो जाता है क्योंकि इसकी भी सत्ता है। इस अंतरमुहूर्त बाद चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। ऐसी क्रिया होती रहती है जब तक सम्यग्मिथ्यात्व वा मिथ्यात्व के निषेकों का क्षय नही होता। इस जीव का पुरुषार्थ तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए तत्वविचार करना मात्र है। बाकी कार्य स्वयं होता रहता है जैसे अग्नि के संयोग से मक्खन पिघल जाता है तथा सूर्य के प्रकाश के कारण से अंधकार नष्ट हो जाता है। अब सम्यक्त्व होने के पश्चात इस

जीव का कर्तव्य आत्मचिंतन करना है जिसके निमित्त से चरित्रमोह के निषेक भी क्रम से हीन होते-२ क्षय को प्राप्त हो जाते हैं तथा बाद में ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी और अंतराय कर्म का भी क्षय हो जाता है जो अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण मलिन हो रहा था। इस मलिनता के नाश हो जाने से अपने निज स्वभाव पारिणामिक भाव को प्राप्त हो जाता है जैसा उमा स्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र के १०वें अध्याय मे कहा है—'औपशमकादि भव्यत्वानां च, फिर केवलज्ञान तथा केवलज्ञान के पश्चात् सिद्ध पर्याय प्रगट हो जाती है। जहां सम्मत्त, णाण, दंसण, वीर्यत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरु लघुत्व, अव्याबाधत्व तथा अवगाहनत्व आदि आठ गुण प्रकट हो जाते हैं। ये गुण सदा स्थिर रहते हैं।

अब उपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। अंतरकरण विधान तें अनिवृत्ति करण के द्वारा मिथ्यात्व (दर्शन मोह) के परमाणु जिस काल में उदय आने योग्य थे तिनको उदीर्णा रूप होकर उदय न आ सके। ऐसे किये; इसको उपशम कहते हैं। इसके बाद होने वाले सम्यक्त्व को ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते है। ये अनादि मिथ्यादृष्टि के होता है। यह सम्यग्दर्शन चतुर्थादि गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान पर्यन्त पाइये है। बहुरि सप्तम गुणस्थान मे उपशम श्रेणी के सम्मुख होने पर जो क्षयोपशम सम्यक्त्व से सातवें गुणस्थान मे जो सम्यक्त्व होता है उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन मे दर्शनमोहनी की तीनों प्रकृतियां उपशम रहती है।

अब क्षायिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहिये हैं यहां दर्शनमोहनी की तीनों प्रकृतियों के सर्व निषेकों का पूर्ण नाश होने पर जो निर्मल तत्व श्रद्धान होता हैउसे क्षायक सम्यग्दर्शन कहते है। यह सम्यग्दर्शन चतुर्थादि गुणस्थाननि विषे कही क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के होता है।

क्षायक सम्यग्दर्शन कैसे होता है सो कहते है। प्रथम तीन करण अधःकरण, अपूर्वकरण तथा अवृत्तिकरण के द्वारा मिथ्यात्व के परमाणुओं को मिश्र मोहनीय रूप वा सम्यक्त्व प्रकृतिरूप परिणमावे वा निर्जरा करें। इस प्रकार मिथ्यात्व की सत्ता नाश करे, फिर मिश्र मोहनीय के परमाणुओं को सम्यक्त्व प्रकृति के परमाणु रूप करें वा निर्जरा करें इस प्रकार मिश्र मोहनी का नाश करें। तत्पश्चात सम्यक्त्वप्रकृति के परमाणु उदय आकर खिर जाते हैं। अगर इन परमाणुओं की स्थिति बहुत बाकी होय तो स्थिति कांडादिक के द्वारा घटावें और जब स्थिति अंतरमुहूर्त मात्र रह जाती है तब उसको कृत-कृत वेदक सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व के सर्व निषेकों का नाश होने के पश्चात क्षायक सम्यग्दर्शन होता है। यह सम्यग्दर्शन प्रतिपक्षी मिथ्यात्व कर्म के अभाव होने से अत्यन्त निर्मल है तथा वीत राग है। जहां से यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है सिद्ध अवस्था तक रहता है इसका कभी नाश नही होता।

जैनाचार्यों ने सम्यग्दर्शन की बड़ी महिमा बतायी है। इसके बिना मुनि के व्रत पालन करने पर भी केवलज्ञान नहीं होता चाहे कितना कठोर तपश्चरण भी क्यों न करें। व्रतों के पालन करने में रंच मात्र भी दूषण न लगने दें। कहा भी है—इसलिए कोटि उपाय बनाय भव्य ताकों उर लाओ। लाख बात की बात यह निश्चय उर लाओ। तोरि सकल जंग द्वंद फंद निज आतम ध्याओ।

दैव योग से (विशेष पुण्योदय से) कालादि लब्धियों के प्राप्त होने पर तथा संसार समुद्र निकट रह जाने पर और भव्य भाव का विपाक होने से इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का अत्यन्त सूक्ष्म गुण है जो केवल ज्ञानगम्य होने पर भी मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी के स्वानुभवगम्य है। पंचाध्यायी गा. ४६२ तथा सम्यग्दर्शन के विषय में पचाध्यायी की उ., गाथा ३७२ में प्रश्न किया है कि ऐसा कोई लक्षण है जिससे जाना जा सके कि यह सम्यग्दृष्टि है। उसके उत्तर में गाथा ३७४ में कहा है प्रशमसंवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य आदि और भी अनेक गुण हैं। जिनसे सम्यग्दृष्टि पहिचाना जा सकता है वे गुण सम्यग्दर्शन के अविनाभावी है जो सम्यग्दर्शन के साथ अवश्य होते हैं उन गुणो के बिना सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होता तथा मिथ्यादृष्टि के कदापि होते नहीं जैसे जितना भी इन्द्रियजन्य सुख तथा ज्ञान है वह सम्यग्दृष्टि के लिए हेय है, त्याज्य है क्योंकि प्रशम गुण के होने से पंचेन्द्रिय संबन्धी विषयों में तथा असंख्यात लोक प्रमाण कषायों की

स्वभाव से ही शिथिलता हो जाती है तथा अनंतानुबंधी कषाय के अभाव होने से अपराधी जीवो पर भी क्षमा-भाव आ जाता है। तथा संवेग गुण के होने से आत्मा के धर्म और धर्म के फल तथा साधर्मियों में अति उत्साह और अनुराग हो जाता है। और सभी प्रकार की संसारिक भोगों की अभिलाषायें शान्त हो जाती हैं क्योंकि ससारिक सुखो की अभिलाषायें मिथ्यात्व के उदय मे ही होती हैं। सम्यग्दृष्टि के संसार में न कोई शत्रु है न कोई मित्र इस कारण अपने कुटुबीजनों से तथा अन्य सबन्धियों से राग न होने के कारण ससार के सभी जीवों के प्रति करुणा का भाव होता है, सबके हित की भावना होती है। इस गुण को अनुकंपा गुण कहते हैं।

जिसकी जीव संज्ञा है वही आत्मा है। आत्मा स्वयं सिद्ध है अमूर्त है, चेतन है। इसके अतिरिक्त जितना भी अजीव है वह सब अचेतन है ऐसी बुद्धि होती है। जिस व्यक्ति में ये बाह्य चिन्ह देखे जाते हैं वह अनुमान से जाना जाता है कि अमुक व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि ? इतना विशेष है कि अनुमान ज्ञान सत्य भी होता है और असत्य भी हो सकता है। यदि हमने उसकी परीक्षा ठीक नहीं की हो तथा इसके लिए छह ढाला में भी कहा है — 'पर द्रव्यन ते भिन्न आपमे, रुचि सम्यक्त्व भला है।' अर्थात् सम्यग्दृष्टि की परद्रव्यो में अरुचि तथा स्व-आत्मा में रुचि हो जाती है। उसकी पर द्रव्यों की चाह नहीं रहती ये सम्यग्दृष्टि के अविनाभावी चिन्ह हैं, जिनसे सम्यग्दृष्टि जाना जाता है और अपने आपका तो निश्चित पता चल जाता है कि मैं कौन हूं सम्यग्दृष्टि या मिथ्या-दृष्टि ? जैसे किसी व्यक्ति के शरीर के किसी अंग में पीड़ा होती है तो क्या उसको मालूम नही पड़ता कि मेरे को फलाने अंग में पीड़ा हो रही है। जिसको पीड़ा होती है उसको अवश्य ही पता लगता है। इसी प्रकार जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब उसको अवश्य ही पता लग जाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् स्वयं को पता न चले और यदि अपने सम्यग्दर्शन होने में उसको संदेह है तो निश्चित मिथ्यादृष्टि है जैसे कोई मिश्री खाये और उसको उसका स्वाद न आए ऐसा नहीं हो सकता, परन्तु ठीक पता सम्यग्दर्शन होने के बाद ही पता चलता है। इससे पहिले हर एक व्यक्ति अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है परन्तु अन्तर सम्यग्दर्शन होने के पश्चात ही पता चलता है। इन चिन्हों के द्वारा अपने आप में देखकर पता लगा सकता है कि मैं कहां हूं ? देखें—कि मेरी रुचि, चाहना पर-द्रव्यों के संग्रह की कुछ कम हुई है या नहीं। यदि शरीर कुटुंबीजनों तथा धन आदि में लालसा कम नही हुई तो निश्चित ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि नही है। ये बात अपने सम्यक्त्व के पहिचान की है। अमुक व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है या नहीं ? इसकी क्या पहिचान है ? इसके उत्तर के लिए मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृ० ३:४ पर कहा है 'वचन प्रमाण तें पुरुष प्रमाण हो है' तथा पुरुष के वचनों का भाव सच्ची प्रतीति हो है जिससे पुरुष की प्रमाणता हो जाती है फिर उसके वचनों में किसी भी प्रकार का संदेह सम्यग्दृष्टि को नहीं होता और यदि है तो वह निश्चित रूप से सम्यग्दृष्टि नहीं है। सम्यग्दृष्टि द्वारा रचित शास्त्रो मे कही भी आगम के विरुद्ध कोई भी वचन नहीं पाया जाता, जिससे उनके सम्यक्त्व मे किसी भी प्रकार की शंका की जाय। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना ऐसी व्याख्या नहीं हो सकती। सारांश यह है कि इस मनुष्य भव को सार्थक बनाने के लिए हमें अपने उपयोग को तत्व विचार में लगा कर भेद ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। भेद ज्ञान होने के पश्चात अपने उपयोग को आत्म चिंतन में लगा कर अपनी आत्मा से कर्मों को पृथक करना चाहिए।

आत्मा से कर्मों को पृथक करने के लिए सर्व प्रथम कुछ समय के लिए एकान्त में बैठ कर जहां किसी प्रकार का संसार संबन्धी बाधा न हो सभी प्रकार प्रारंभ परि-ग्रह का त्याग करके बैठना चाहिए, और विचार करना चाहिए यह देह अचेतन है, यह देह में नहीं हूं इस देह में रहने वाला इस देह से किंचित न्यून ज्ञायक स्वरूपी चैतन्य का जो पिंड है वह मैं हूं। मैं एक हूं अकेला हूं मेरा कोई साथी सगा नहीं है, मैं अकेला जन्म लेता हूं अकेला ही मरण को प्राप्त होता हूं। इसके अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं चाहे चेतन हों अथवा अचेतन। सब पर हैं मैं उन सबसे भिन्न हूं ऐसा वचन तथा मन से चिन्तवन करते

(शेष पृ० २६ पर)

पद्मावती पूजन, समाधान का प्रयत्न

☐ जस्टिस एम० एल० जैन

अनेकान्त वर्ष ४३ कि० ३ जुलाई-सितंबर १९९० पृ० १६-१७ पर "भगवान पार्श्वनाथ के उपसर्ग का सही रूप" इस शीर्षक का एक लेख छपा है। लेखक हैं क्षुल्लक चित्तसागर जी महाराज। पद्मावती पूजन पर उनकी दो आपत्तियां हैं —

पहली तो यह कि मूर्तियो मे से नागकुमार देव धरणेन्द्र का लोप हो गया है और मात्र पद्मावती ही दिखाई देती हैं :

दूसरी यह कि "मुनिराज आर्यिका से भी ५-७ हाथ दूर रहे ऐसा विधान होते हुए भी पद्मावती स्त्री पर्यायी ने महाव्रती मुनिराज पार्श्वनाथ को उठाकर अपने सिर पर कैसे बिठाया और उसमे क्या कोई प्रकार का औचित्य है? समझ मे नहीं आता ऐसा भद्दा और विचित्र विकल्प मूतिकारो को कैसे आया? उनका प्रेरक कौन रहा होगा? उसमें क्या कोई बुद्धिमानी है या स्टट रूप फरेब कार्य है? यह सब विचारणीय है।"

पद्मावती प्रकरण में गुणभद्र ने अपने उत्तर पुराण में लिखा है कि शम्बर नामक असुर ने तपोलीन पार्श्वनाथ को देखा तो—

[लोकमानो विभङ्गेन स्पष्ट प्राग्वैरबन्धनः
रोषात्कृत महाघोषो महावृष्टिमपातयत्।
व्यधात्तदैव सप्ताहान्यन्यांश्च विविधान्विधिः
महोपसर्गान् शैलोपनिपातान्तानिनिवान्तकः] ॥३२॥

अर्थात् उस असुर ने विभंगावधिज्ञान से पूर्वभव का वैर बन्धन स्पष्ट देखा तो महाघोष किया और महावृष्टि की, सात दिन तक लगातार भिन्न-भिन्न प्रकार के महा उपसर्ग किए, छोटे मोटे पहाड़ तक लाकर उनके समीप गिराए, तब धरणेन्द्र भगवान् को फणाओं के समूह से आवृत कर खड़ा हो गया और उसकी पत्नी मुनिराज पार्श्वनाथ के ऊपर बहुत ऊचा वज्रमय छत्र तानकर स्थित हो गई, लेकिन—

स पातु पार्श्वनाथोऽस्मान् यन्महिम्नैव भूधरः,
न्यषेधि केवल भक्तिभोगिनी छत्र धारणम्।

अर्थात् उपसर्ग का निवारण धरणेन्द्र पद्मावती ने किया था परन्तु इसी उपसर्ग के बीच उन्हें केवल ज्ञान हो गया और नागदपति का कार्य अपने आप समाप्त हो गया।

गुणभद्र ने आगे बताया कि पर्वत का फटना, धरणेन्द्र का फणामण्डल का मण्डप तानना, पद्मावती के द्वारा छत्र लगाया जाना, घातिया कर्मों का क्षय होना, केवलज्ञान की प्राप्ति होना, धातुरहित परमौदारिक शरीर की प्राप्ति होना, जन्म-मरण रूप संसार का विघात होना, शम्बर देव का भयभीत होना, तीर्थंकर नामकर्म का उदय होना, सब विघ्नो का नष्ट होना, ये सब कार्य एक साथ प्रगट हुए।

इस वर्णन से यह सिद्ध होता है कि पार्श्वनाथ को सात दिन तक महा उपसर्ग जिसमें महावृष्टि भी शामिल थी, अपने ध्यान से न डिगा सका। डिगाता भी तो कैसे? जन्माभिषेक के समय जिन बालक भगवान के श्वास निश्वास से इन्द्र झूले के मानिंद झूलते रहते थे और जिनका शरीर वज्र वृषभनाराच संहनन का बना था ऐसे बली प्रभु को शम्बर का उपसर्ग क्या कंपायमान कर सकता था? फिर नागदंपति तो आया भी सात दिन की देरी से और वह भी उस समय जब केवलज्ञान होने में कुछ क्षण ही शेष थे। इसलिए नागदंपति का कोई योगदान उपसर्ग निवारण में नही था और थोड़ा था भी तो केवलज्ञान होते ही उनका प्रयत्न (केवलं निषेधि) विफल हो गया। इसके अतिरिक्त धरणेन्द्र किस कृतज्ञता को प्रगट करने आया था? जिस समय पार्श्वनाथ का मामा महिपाल पत्नी वियोग के कारण पञ्चाग्नि तप कर रहा था उस समय पार्श्वनाथ के मना करने पर भी उसने लकड़ी को काटा तो लकड़ी के भीतर स्थित सर्पदंपति के

(पृ० २५ का शेषांश)

करते अपने उपयोग को पर पदार्थों से हटावे और निरंतर हटाने का प्रयास करे। यही अपने में रहना है तथा यही केवलज्ञान व मुक्ति प्राप्ति का उपाय है। उत्तम संहनन के बिना मुक्ति भी नही होती। पर से हटने का उद्यम करें तो हमारे कर्मों की शक्ति क्षीण हो सकती है और आगामी भवो मे उत्तम संहनन की प्राप्ति और मुक्ति भी हो सकती है। इसलिए पर-पदार्थों से विरक्ति कर सम्यग्दर्शन प्राप्ति का उद्यम करना चाहिए। 卐卐

दो-दो टुकड़े हो गए। वही नागयुगल धरणेन्द्र पद्मावती हुए। इसमें पार्श्वनाथ का सर्पदंपति पर क्या अनुग्रह हुआ जिससे वे पाताल लोक से चलकर प्रभु सेवा में उपस्थित हुए। मरणासन्न नागदपति को णमोकार सुनाने की बात गुणभद्र ने नही लिखी है।

खैर, जिस समय की यह पौराणिक घटना है वह नागपूजा का युग था। इस कारण महेन्द्र दम्पति बुद्ध की रक्षा करते है, विष्णु शेषनाग पर सोए हैं, शिव का शरीर तो सर्पों से घिरा हुआ है ही, कृष्ण काले नाग के फण पर त्रिभगी मुद्रा मे खड़े बंशी बजा रहे हैं; इन सब रूपो को पार्श्वनाथ की मूर्तियों में यत्र तत्र सम्मिलित कर लिया गया है। धरणेन्द्र शेषनाग का ही दूसरा नाम है क्योंकि शेषनाग के सर पर धरणि स्थित है ऐसी हिन्दू मान्यता है और पद्मावती विष्णु की सहशायिनी लक्ष्मी का अपर नाम है। सर्प शिव की भांति पार्श्वनाथ के शरीर को वेष्टित करता है और सर पर फण ताने हुए है। कृष्ण की भांति सर्पिणी के सर पर प्रभु विराजमान किए गए हैं। मूर्तिकार की कल्पना व जैनेतर अन्य मूर्तियो की तरह सर्प के एक से लेकर १४ फण तक उनकी मूर्तियों मे पाए जाते हैं। इस प्रकार नागपूजा के आधार पर पार्श्वनाथ की मूर्तियों मे विष्णु, शिव, कृष्ण व बुद्ध चारों की नागसंबंधी पूजा का काल्पनिक योग से ही पद्मावती की मूर्ति कला का रूप बना है ऐसा जान पड़ता है। जैनेतर विद्वान तो यहां तक कहते है कि नागपूजा ईरान (पारस) की सर्पपूजा के आधार पर खड़ी की गई है। संस्कृतियों का परस्पर विनिमय कोई नई बात नही है।

क्षुल्लक महाराज को सकलकीर्ति की इस कल्पना पर कि नाग ने पार्श्वनाथ को फणों पर उठा लिया एतराज नहीं है। स्त्री पर्यायी पद्मावती पूजन में भी उन्हें एतराज नहीं है उन्हें एतराज है स्त्री पर्यायी पद्मावती के सर पर प्रभु के रखे जाने से, किन्तु जब पार्श्वनाथ के शरीर का स्पर्श करती हुई सर्पिणी उन पर फणाछत्र तान रही है तो इससे यही सिद्ध होता है कि महाव्रती पर स्त्री-स्पर्श का कोई प्रभाव नही पड़ता चाहे वह एक या अनेक फणों वाली विषधरा नाग महिला पद्मावती कितनी ही सुन्दर रही हो। यदि महाव्रती परम तपस्वी तीर्थंकर को भी स्त्री-स्पर्श से व्यतीचार हो सकता है तो उसके थोड़ी दूर पास मे खड़े रहने से, देखने से, गाने से, भजन गान ही सही, विकार उत्पन्न होना मानना पड़ जाएगा। ध्यानस्थ प्रभु को तो स्त्री-स्पर्श के उपसर्ग परीषह का पता भी न चला होगा।

दर असल जैन धर्मावलंबियो ने प्रचलित नागपूजन को भी जिन पूजा का साधन बनाया है क्योंकि—

> चारित्रं यदभाणि केवलदृशादेव त्वया मुक्तये
> पुंसां तत्खलु मादृशेन विषये काले कलौ दुर्धरम्
> भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपार्जितैः
> संसारार्णव तारणे जिन तत: सैवास्तु पोतो मम !

जिनेन्द्र भक्ति संसार सागर से पार उतारने वाली है। जिन बिंब किसी आसन पर हो सिंहासन हो चाहे सर्पासन या पद्मासन, पूज्य है। पद्मावती के शीर्ष पर जिनबिंब की ही पूजा होती है। स्वयं पद्मावती भी भक्त साधर्मी होने के कारण आदरणीय है प्रतिष्ठा पाठ व मंत्र-तंत्र की साधना में भी उसके आह्वान और आराधन किए जाते हैं क्योंकि यह सब विधान जिनवाणी के दृष्टिवाद अंग के विद्यानुवाद पूर्व में सम्मिलित हैं।

पद्मावती के सर पर विराजमान पार्श्वनाथ की मूर्ति यही घोषित करती है कि वह देवाधिदेव जिनेश्वर की भक्तिमयी सेविका है। बुद्ध महायान पंथ मे तारादेवी के केशमुकुट मे बुद्ध की मूर्ति रखी हुई दिखाई जाने वाली प्रतिमायें आठवीं शताब्दी की श्री लंका मे अनेकों पाई जाती हैं। यदि यह जैनाचरण विधान के विपरीत है तो पद्मावती की इसी प्रकार की मूर्तियों की कल्पना तारादेवी की उक्त मूर्तियो के प्रचलन के पश्चात ही की गई होगी, किन्तु इसमें न कोई भद्दापन है, न विचित्रता न फरेब। सर पर प्रभु की मूर्ति रखना भक्ति रूप का उच्चतम सकेत है। अपने चिंतन-ध्यान मे सिर में निहित प्रभु की मूर्ति का ही यह बाह्य कलात्मक रूप है।

धरणेन्द्र का लोप हो जाना यह ही दर्शाता है कि तंत्र मंत्र के प्रभाव के कारण पद्मावती पति से आगे बढ़ गई किन्तु इस कारण से पौराणिक नागदम्पति और जैन श्रावकों की जिनेन्द्र भक्ति मे कोई कमी नहीं आती।

२१५, मंदाकिनी एन्क्लेव,
नई दिल्ली-११००१९

काशी के आराध्य सुपार्श्वनाथ

☐ डॉ० हेमन्तकुमार जैन, वाराणसी

वाराणसी ने अनेक विभूतियों को जन्म दिया है, बाराणसी मन्दिरों का शहर कहा जाता है, यहां पर वरुणा से अस्सी के बीच हर दूसरे तीसरे मकान के बाद एक छोटा मन्दिर मिल जायगा। भदैनी में स्थित गंगा के सुरम्य तट जैन घाट पर श्री सुपार्श्वनाथ का जिनालय है, यहां प्रसिद्ध मन्दिरो मे श्री छेदीलाल का दि० जैन मन्दिर, भदैनी का श्वेताम्बर जैन मन्दिर, भेलूपुर के दिगम्बर, श्वेताम्बर जैन मन्दिर और धर्मशाला, मैदागिन दिगम्बर जैन मन्दिर और धर्मशाला ग्लालदास साहू लेन पंचायती दिगम्बर जैन मन्दिर भाट की गली जैन मन्दिर, खोजवा जैन मन्दिर, नरिया जैन मन्दिर और अन्य धर्मावलम्बियो में विश्वनाथ मन्दिर, गोपाल मन्दिर, भैरोनाथ मन्दिर, तुलसी मानस मन्दिर, संकटमोचन मन्दिर, बौद्ध मन्दिर, दुर्गा मन्दिर, कबीर मन्दिर, कीनाराम समाधि, अन्नपूर्णा, शीतला, काली मन्दिर आदि सभूके नगर को गौरवान्वित करते हैं। इन्ही कारणों से कहा जाता है कि यहां कदम-कदम पर मन्दिर हैं।

तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की जन्म भूमि भदैनी वाराणसी में है, यहां पर एक दिगम्बर जैन मन्दिर का निर्माण श्री मान् स्व० बाबू देवकुमार जी रईस आरा वालों ने कराया था। एक बार क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी वाराणसी यात्रा पर आये, उन्होंने समाज के सामने एक संस्कृत विद्यालय खोलने की योजना का प्रस्ताव रखा। जिसमे पहले सह-योग देने वाले श्री झम्मनलाल जी कामावाले थे इन्होंने वर्णी जी को एक रुपया दान दिया। वर्णी जी ने एक रुपये के ६४ पोस्टकार्ड खरीद कर ६४ स्थानो पर डाल दिया सभी जगह से सहायता राशि आने लगी। ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी दिनांक १२ जून १६०५ ई० को श्री स्याद्वाद विद्यालय का उद्घाटन हुआ। वर्णी जी की तरह महामना मदनमोहन मालवीय ने एक रुपये के ६४ पोस्टकार्ड खरीद कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की थी जो एशिया के विश्वविद्यालयों में तीसरे स्थान पर विश्व-विख्यात है। श्री स्याद्वाद विद्यालय के प्रथम छात्र श्री वर्णी जी ही बने। इस महाविद्यालय ने ८५ वर्ष में हजारों विद्वानों को उच्च शिखर तक पहुंचाया है।

तीर्थंकरों में भगवान सुपार्श्वनाथ सर्वाग्रणी हैं। आज भारत में अन्य धर्म संभवतः कुछ विस्मृत अथवा लोगों की दृष्टि से ओझल हो गये हों परन्तु जैन धर्म तो प्रत्येक भारतीय के मानव-मानस मे ओतप्रोत होता जा रहा है। अहिंसा के मार्ग से चलने वाले हर प्राणी की दीर्घायु होती है। तीर्थंकरो का जन्म भारत की धर्म-ह्रास बेला में हुआ था, उस काल में धर्म, अर्थ एवं काम के क्षेत्र में सामाजिक अस्त-व्यस्तता को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का समस्त श्रेय तीर्थंकरों को ही है।

सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में हुआ था। इनके पिता का नाम सुप्रतिष्ठ तथा माता का नाम पृथिवी था। हरिवंश पुराण में इनके माता-पिता का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है—

पृथिवी सुप्रतिष्ठोऽस्य, काशी वा नगरी गिरिः।
स विशाखा शिरीषश्च सुपार्श्वश्च जिनेश्वरः॥

अर्थात् पृथिवी माता, सुप्रतिष्ठ पिता काशी नगरी, सम्मेदशिखर निर्माण क्षेत्र, विशाखा नक्षत्र, शिरीष वृक्ष और सुपार्श्व जिनेन्द्र ये सब तुम्हारे लिए मंगल स्वरूप हों।

श्री कविवर वृन्दावन जी कृत श्री वर्तमान जिन चतुर्विंशति जिन पूजन में कहा गया है—

नृप सुपरतिष्ठ वरिष्ठ इष्ट, महिष्ट शिष्ट पृथी प्रिया।

सुपार्श्वनाथ का पूर्व भव में जन्म जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में हुआ था। धातकीखण्ड द्वीप की नगरी क्षेमपुरी थी। इसका नाम नन्दिषेण था। तथा महामण्डलेश्वर और ग्यारह अंग के वेत्ता थे। इन्होंने सिंह निष्क्रीडित तप कर

एक माह के उपवास के साथ प्रायोपगमन सन्यास धारण किया था साधना के अनुसार स्वर्ग में उत्पन्न हुए थे। इनके गुरू का नाम अरिन्दम था आप मध्यग्रैवेयक स्वर्ग से चयकर भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए थे।

सुपार्श्वनाथ का जन्म ज्येष्ठ शुक्ल की द्वादशी को हुआ था। आपका जन्म विशाखा नक्षत्र में होने का योग है। इनके चैत्यवृक्षों की ऊंचाई इनके शरीर से बारहगुनी ऊंची मानी गयी है। आप सामान्य राजा थे। आपके शरीर का वर्ण प्रियंग वृक्ष की मंजरी के समूह के समान हरित था। आपने राजा बनने के बाद दीक्षा धारण की थी। इनका कुमार काल पाच लाख पूर्व माना गया है। शरीर की ऊंचाई २०० धनुष या चार हाथ प्रमाण की थी। राज्य १४ लाख २० पूर्वांग किया है।

आपका दीक्षा कल्याणक जन्मभूमि मे मनाया गया था। ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को वसन्तवन लक्ष्मीबास का स्मरण हो जाने के कारण विशाखा नक्षत्र मे, अपराह्न काल मे, नगर के सेहेतुक वनमें जाकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। आपका ९ वर्ष तक छद्मस्थ काल चलता रहा। इनकी पालकी का नाम सुमनोरमा था इनने दीक्षा धारण करने के बाद दो दिन का उपवास किया, फिर नृभक्त ने पारणा देकर गाय के दूध से बनी खीर का आहार दिया था। प्रथम पारणा के स्थान का नाम पाटली खण्ड था और प्रथम पारणा मे दान देने वाले का नाम महादत्त था। इनकी आदि पारणा मे नियम से रत्नवृष्टि उत्कृष्टता से साढ़े बारह करोड़ और जघन्य रूप से साढ़े बारह लाख प्रमाण की होती थी। आपके दानी पुरुष तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्ति वाले वर्ण के थे। आपके दानी पुरुष तपश्चरण कर मोक्षगामी हो गए थे।

फाल्गुन कृष्ण सप्तमी की वेला के बाद अपराह्न काल में सहेतुक वन मे विशाखा नक्षत्र में केवल ज्ञान हो गया था। इनका केवलि काल एक लाख पूर्व अट्ठाइस पूर्वांग नौ वर्ष माना गया है।

भगवान् सुपार्श्वनाथ को पूर्वाह्न काल में एक माह पूर्व अनुराधा नक्षत्र मे ५०० मुनियों के साथ योगनिवृत्ति सम्मेद शिखर पर विराजमान हो गये। फाल्गुन कृष्ण षष्ठी को मोक्षगामी हुए। इनकी मुख्य आर्यिका का नाम मीना था। इनके तीन लाख श्रावक, पांच लाख श्राविकाएँ, पनचावनवेह गणधर, तीन लाख ऋषि, दो हजार तीस पूर्वधर, दो लाख चवालिस हजार नौ सौ बीस शिक्षक, नौ हजार अवधिज्ञानी, ग्यारह हजार तीन सौ केवली, पन्द्रह हजार एक सौ पचास विक्रिया ऋषिधारी, नौ हजार छः सौ विपुलमतिमन: पर्यय ज्ञानी, आठ हजार वादी, तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ थी। मुख्य गणधर का नाम बलदत्त था। मुख्य यक्ष का नाम विजय, यक्षिणी पुरुषदत्ता थी। इनके अशोक वृक्ष का नाम शिरीष था। समवशरण भूमि नौ योजन की थी।

> इक्ष्वाकु प्रथमः प्रधान मुदगादादि वंशस्तत्-
> स्तस्मादेव च सोमवंश इति यस्त्वन्यकुरुग्रादयः।

अर्थात् सर्वप्रथम इक्ष्वाकु वंश उत्पन्न हुआ फिर उसी इक्ष्वाकुवंश से सूर्यवंश और चन्द्रवंश उत्पन्न हुए। उसी समय कुरुवंश तथा उग्रवंश आदि अन्य अनेक वंश प्रचलित हुए।

(१) पूर्वाह्न काल मे, अष्ट कर्मों को नष्ट करने वाले संसार भ्रमण का अन्त करने वाले कायोत्सर्ग आसन का धारण जिनेन्द्र सुपार्श्वनाथ सिद्धि को प्राप्त हुए। इन्होंने एक माह पूर्व विहार करना बन्द कर दिया था।

सभी गणधर सात ऋषियों से युक्त तथा समस्त शास्त्रों के पारगामी थे।

तीर्थङ्कर का संघ—(१) पूर्वधर (२) शिक्षक (३) अवधिज्ञान (४) केवल ज्ञानी (५) वादी (६) विक्रय ऋषि के धारक और (७) विपुलमत्ति मन: पर्यय के भेद से सात प्रकार का होता है।

□□

वर्तमान के संदर्भ में विचारणीय

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री संपादक 'अनेकान्त'

यह तो सर्व विदित है कि हम ऐसे स्थान पर बैठे हैं जहां से जैन शोध का मार्ग प्रशस्त हुआ, समीचीन धर्म-शास्त्र—रत्नकरन्ड श्रावकाचार जैसे आचार ग्रन्थ का सपादन और मेरी-भावना जैसी कृति का निर्माण तथा आगम ग्रन्थों के उद्धार का कार्य सपन्न होता रहा। हम इन्ही माध्यमों के सहारे समाज को विविध संबोधन देते रहे हैं। निःसन्देह, उन्हें किन्ही ने तथ्यरूप में स्वीकार किया होगा और कुछ हमसे रुष्ट हुए होंगे—उनकी तुष्टि का हमारे पास उपाय नही। हम 'हित मनोहारि च दुर्लभं वच.' का अनुसरण कर चलते रहे हैं—'कह दिया सो बार उनसे जो हमारे दिल मे है।'—हाँ, हम यह भी कहते रहे है कि हमारा कोई आग्रह नही, ग्रहण करें या छोड़ दें। अस्तु,

आज प्राय: सभी धर्म प्रेमी अनुभव कर रहे है कि जैन की स्थिति दिनोदिन चिन्तनीय होती जा रही है। जनता मे न वैसा दृढ श्रद्धान है, न वैसा ज्ञान और ना ही वैसा चारित्र है जैसा लगभग ६० वर्ष पूर्व था। समाज मे तब धर्म की धुरी को थामने और वहन करने वाले दो प्रमुख अग थे—त्यागी और विद्वान पण्डित। इन्हे श्रावकों का सहयोग रहता था और ये आगमानुसार प्रभावना मे तत्पर थे—धर्म-धुरा को खीचते रहे। दुर्भाग्य से आज त्यागी तो हैं, पर त्यागी कम। पण्डित तो हैं विद्वान् कम। ये हम इसलिए कह रहे हैं कि आज त्याग, राग से लिपटा जा रहा है और पण्डिताई पैसे कमाने या गुजारे का पेशा मात्र बनकर रह गई है—दो-चार अपवाद हुए तो क्या? जब कि राग और पैसा दोनों ही धर्म नही, परिग्रह हैं और परिग्रह की बढ़वारी मे धर्म का विकास रुद्ध हो जाता है—तीर्थंकरादि महापुरुषों ने परिग्रह का सर्वथा त्याग किया।

हमने पूर्ववर्ती दिगम्बराचार्यों के जीवन भी पढ़े हैं और दिगम्बर मुनियों, त्यागियों की चर्या का शास्त्रों में अवलोकन भी किया है। वे क्रमशः परिग्रह से रहित और परिग्रह परिमाण में रहते हैं—आदर्श होते हैं। इसी प्रकार धर्म प्रभावना मे अग्रसर विद्वान् भी परिग्रह तृष्णा के स्थान पर परिग्रह-परिमाण और सतोष के सहारे धर्म की गाड़ी को खीचते रहे। जैसे—श्री टोडरमल जी, सदासुख जी और बीते युग के निकटवर्ती गुरु गोपाल दास बरैया आदि। बरैया जी के विषय में तो श्री नाथूराम प्रेमी ने लिखा है—"धर्म कार्यों के द्वारा आपने अपने जीवन मे कभी एक पैसा भी नही लिया। यहां तक कि इसके कारण आप अपने प्रेमियों को दुखी तक कर दिया करते थे। पर, भेंट या विदाई तो क्या, एक दुपट्टा या कपड़े का टुकड़ा भी ग्रहण नही करते थे।"—जब कि आज के अधिकांश पण्डित प्राय: इसके अपवाद हैं—बड़े वेतन पाने वाले तक पर्यूषणादि में अच्छा पैसा लेते है—प्रतिष्ठा, विवाह आदि सस्कारों की बात तो अलग।

यह समाज का दुर्भाग्य रहा कि उक्त दोनो धाराएँ क्षीण होती गयी। ऐसा क्यों और किन कारणो से हुआ? यह ऊहापोह और तत्तत्कालीन परिस्थितियो पर विचार करने से स्पष्ट हो सकेगा—उसमे मतभेद भी रहेंगे। अत: हम उस प्रसग में नहीं जाते हैं। इतना ही पर्याप्त है कि उक्त दोनों धाराओं का ह्रास धर्माचार तथा धर्मज्ञान के पंगु होने का कारण हुआ। यह विडम्बना ही है कि जिन्होंने धर्म की प्रभावना की उनके हमसफर ही ह्रास में कारण हुए—बाड़ ने ही खेत पर धावा बोल दिया। ऐसे में 'पल्लवग्राहि पाण्डित्यम्' ने धर्म के ज्ञानदान का बीड़ा उठाया और उसमें कई वर्ग सम्मिलित हुए—कुछ नाम-धारी पण्डित, कुछ स्वाध्यायी तथा कुछ धनिक वर्ग भी। इस प्रकार धर्म की गाड़ी चलती-सी दिखती रही। लोगों ने संतोष किया—'एरण्डोऽपि द्रुमायते।' पर, आचार

फिर भी गिरता गया और आज स्थिति यह है कि ऊँची-ऊँची तत्त्वचर्चा, खोज और प्रचार की बातें करने वाले कई व्यक्तियों को रात्रिभोजन और अपवित्र होटलों तक से परहेज नहीं रह गया है। यहां तक कि प्रथम तीर्थंकर के नाम से स्थापित एक प्रतिष्ठान ने तो निर्वाण उत्सव की रूपरेखा बनाने के लिए बुलाई मीटिंग हेतु छपाए निमन्त्रण पत्र में साफ शब्दों में यह तक छपाने में गौरव समझा कि—'बैठक के पश्चात् आप सभी रात्री भोजन करने की कृपा करें।'—खेद !

आज हर व्यक्ति की दृष्टि आचार पर उतनी केन्द्रित नहीं है जितनी प्रचार पर। वह स्वयं आचारादर्श न होकर दूसरों के संस्कार और आचार सुधार की बातें करने लगा है। यहां तक कि 'अपने को देखो, अपना लोटा छानो, कोई किसी दूसरे का कर्ता नहीं है" आदि, जैसे गीत गाने वाले कई लोग भी दूसरों मे प्रचार करके उन्हें सुधारने की धुन मे हैं। कई यश-ख्याति या अर्थ-अर्जन हेतु अपने तत्त्व ज्ञान-संबधी बीसियो पुस्तके तक छपवाकर बेचने और वितरित कराने की धुन मे है—पैसा समाज का हो और नाम उनका। पर सर्वज्ञ ही जाने—उन पुस्तकों में कितनी आगमानुसारी हैं और कितनी लेखकों के गृहीत स्व-मनोभावों से कल्पित या कितनी कालान्तर में जैन तत्त्व-सिद्धान्तों को विचार-श्रेणी मे ला खड़ा करा देने वाली ?

कुछ लोग निश्चय से आत्मा के अदृश्य, अरूपी और अकर्ता होने की एकांगी बाते भले ही करते हों, पर हमने तो ऐसी अनेकों आत्माओं को व्यावहारिक प्रतिष्ठाओं, रात्रि के विवाह समारोहों, सगाई आदि मे प्रत्यक्ष रूप में देखा है—कईयों को परिग्रह संग्रही और कषायों के पुंज भी देखा है—भगवान ही जाने ये निमित्त को भी किस रूप में मानते और क्यों जुटाते हैं ? अब तो कई लोग परिग्रह समेटे आत्मोपलब्धि—आत्मदर्शन की धुन मे हैं। ऐसे लोगों को विदित होना चाहिए कि—परिग्रह मे आत्म-दर्शन दिगम्बरों का सिद्धान्त नहीं है—इस चर्चा में तो सवस्त्र मुक्ति और स्त्री-मुक्ति जैसे विष की गन्ध है। यदि परिग्रह में आत्म-दर्शन होता तो दिगम्बर मत ही न होता—क्योंकि आत्मदर्शन, आत्मा के अखण्ड होने से अधूरा नहीं होता और संसार में ही पूरा आत्मदर्शन होने पर मुक्ति की आवश्यकता ही न होती। इस तरह सात तत्त्वों में से मोक्ष तत्त्व ही न मानना पड़ेगा और परिग्रही संसार मे ही मुक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी—जैन का घात ही होगा।

कुछ लोग अपनी संयम सम्बन्धी कमजोरी को दूर करने के मार्ग की शोध को छोड़ जड़-मात्र की खोज मे लग बैठे। कहने को आज जैनियो में सैकड़ों पी-एचडी. डिग्रीधारी होंगे। खोजना पड़ेगा कि कितनो की थीसिसें मात्र संयम-चारित्र की शोध मे हैं ? कितनो ने श्रावकाचार और श्रमणाचार पर स्वतंत्र शोध-ग्रन्थ लिखे हैं ? और कितनों ने अपने चारित्र को शोधों के अनुसार ढाला है ? केवल लिखने से इतिश्री मानने से कुछ होना-जाना नहीं है—असली प्रचार तो आचार से होता है जैसा कि तीर्थंकरों और त्यागियों ने आदर्श सामने रखकर किया—'अवाग्वपुषा मोक्षमार्गं निरूपयन्तम्।'—ध्यान रहे—आचार की बढ़वारी ही प्रचार का पैमाना है। यदि आचार गिर रहा है तो प्रचार कैसा ?

यदि पुस्तकें बनाने, वितरण कराने से प्रचार माना जाय, तब तो साठ वर्ष पहिले न तो इतनी पुस्तके थी और ना ही प्रचार में आयी, जितनी भरमार आज है। इसके अनुसार तो तब से आज आचार की स्थिति सैकड़ों गुना श्रेष्ठ होनी चाहिए, जब मात्र बालबोध, छहढाला आदि जैसी चन्द पुस्तकें ही उपलब्ध थी। फलतः हम तो विद्वानों, त्यागियो और आगमों की रक्षा मे प्रचार देखते हैं। क्या, हम ऐसा मान लें कि "तीन रतन जग मांहि" में अब वीतराग देव हैं नहीं, और सजीव गुरुओ के सुधार पर हमारा वश नहीं—हम भयभीत या कायर है। तब अजीव आगमरूपी रत्न को हम मनमर्जी से छिन्न-भिन्न कर डालें—उनकी मनमानी व्याख्याएँ करें। हमारी दृष्टि से तो मूल आगम को अक्षुण्ण रख, उनके शब्दार्थ किये जाएँ और गलत रिकार्ड से बचाव के लिए उनकी मौखिक व्याख्याएँ ही की जायें। हमारी समझ में व्याख्याओं में भ्रान्ति हो सकती है। ये कोई तुक नहीं कि आगम-भाषा को लोग नहीं समझते। यदि नहीं समझते, तो समाज को उस भाषाके ज्ञाता तैयार करने चाहिए—भला

जो समाज बनावट-दिखावटमें पैसोंको पानीकी तरह बहाता हो—क्या वह कुछ आचारवान विद्वानों के तैयार करने में उसे नहीं लगा सकता ? क्या वह नई-नई सस्ती किताबों को छपाकर प्रचार करने मे आगम और धर्म की रक्षा मानता है ? यदि ऐसा होता रहा तो धर्म प्रभाव का सर्वथा लोप ही समझिए। यह धर्म किन्ही इधर-उधर झांकने वालों का नही, यह तो त्यागियों-व्रतियों और आगम ज्ञाताओ क्रियावानों का धर्म है, जो उन्ही के सहारे कायम रहा है और कायम रह सकता है। यह समाज को समझना है कि इसे कैसे कायम रखा जाय ?

अपनी बात और क्षमायाचन :

'अनेकान्त'की ४४वें वर्ष की अन्तिम किरण पाठको को देते हुए हमे सन्तोष हो रहा है कि उनके और लेखको के सहयोग से हम 'अनेकान्त' देते रहने मे समर्थ रहे। सस्था के अधिकारियों का पूरा योग रहा। हम सभी के आभारी हैं।

पाठकों को विदित हो कि हम 'अनेकान्त' पत्रिका में विभिन्न-शीर्षकों द्वारा जितना हम जानते हैं—संस्था की रीति-नीति, जन मान्य-आचार-विचार और सिद्धान्त संबंधी वास्तविक शोधो को देने का भरसक प्रयत्न करते रहे हैं। हमारा लक्ष्य अन्य शोधो के साथ समाज में जनाचार-पालन और सिद्धान्त-ज्ञान के प्रति व्याप्त उपेक्षाभाव का निरसन भी रहा है। हमारा दृढ़ निश्चय है कि जैनधर्म व्यावहारिक और निश्चय दोनो रूपों में स्व-पर शोध का धर्म है और इसमे मुख्यता स्व-शोध की ही है—मात्र जड-शोधो की नही। जब कि आज जैनियों में भी मात्र जड़-शोधें व्याप्त हो गई हैं और जिसका फल स्पष्ट समक्ष है—आचार-विचार और धर्म-ज्ञान में गिरावट। हम स्मरण करा दें कि संस्था की स्थापना मे एक उद्देश्य यह भी रहा है—

"ऐसी सेवा बजाना जिससे जैनधर्म का समीचीनरूप, उसके आचार-विचारों की महत्ता, तत्त्वों का रहस्य और सिद्धान्तों की उपयोगिता सर्व साधारण को मालुम पड़े—उसके हृदय पर अंकित हो जाय—और वे जैनधर्म की मूल बातों, उसकी विशेषताओ तथा उदार नीति से भले प्रकार परिचित होकर अपनी भूल को सुधार सकें।"

पत्रिका-संचालन के समय प्रकाशित हुआ अनेकान्त की स्थापना का उद्देश्य :—"जैन समाज में एक अच्छे साहित्यिक तथा ऐतिहासिक पत्र की जरूरत बराबर महसूस हो रही है और सिद्धान्त विषयक पत्र की जरूरत तो उससे भी पहिले से चली आती है। इन दोनों जरूरतों को ध्यान में रखते हुए समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) ने अपनी उद्देश्य सिद्धि और लोकहित साधना के लिए सबसे पहिले 'अनेकान्त' नामक पत्र को निकालने का महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में लिया है।"

चूंकि पत्रिका अपने ४४ वर्ष पूर्ण कर रही है और संपादक का कर्तव्य है कि वह सम्पादन मे जान-अजान या अज्ञानतावश हुई भूलो पर पाठको से क्षमा याचना करे—हालां कि हमारी अल्पबुद्धि से हम उचित ही लिखते रहे हैं और प्रबुद्धजनों ने उसे सराहा भी है।

वैसे तो हमारे केश, जैन आगम-पठन और समाज मे ही श्वेत हुए हैं ऐसे में यदि कोई श्याम केश, चिंतनक्षेत्र मे हमारी अवमानना भी करे तो वह हमें हमारी परम्परा तक पहुंचाने मे हमारा सहकारी ही होगा। क्योंकि अपमानित होना तो निरीह विद्वानो की परम्परा रही है—हम बुरा न मानेंगे। हां, ऐसे मे भी हमें अनुभव मे आई यह बात फिर भी कचोटती रहेगी कि समाज मे सयम के शिथिलाचार का मर्ज हद पार कर, बेहद हो चुका है। फलत: बिहारी का दोहा चरितार्थ होने जा रहा है—

"रे गन्धी मति अन्ध तू अतर दिखावत काहि।"

फिर भी दया-पात्रों से भी दया याचना के साथ हमारी बुढ़ापे की नम-आखे नेताओं, थोथे नारेबाजों और धर्म-धुरन्धर बनने वालों की ओर निहार रही हैं कि वे समझें—सही रास्ते में आएं—जैनाचार और मूल-आगमों की रक्षा और विद्वानों की बढ़वारी करें। वरना, हम तो मिट जाएँगे और धर्मह्रास का पाप उनके ही माथों पर होगा।

अगर अब भी न सँभले तो, मिट जाओगे जमाने से।
तुम्हारी दास्तां तक भी न होगी दास्तानों में।।'

"हमने क्या खोया क्या पाया"

आज अकस्मात मुझे अपना बचपन याद आ गया जब मैं जैन पाठशाला में पढ़ता था। और स्कूल के नियमानुसार धर्म की परीक्षा से उत्तीर्ण होना अनिवार्य था। छहढाला, रत्नकरंड श्रावकाचार व मोक्षशास्त्र तो छठी-सातवी व आठवीं कक्षा मे ही पढ़ लिए थे।

जैनियों की पहिचान के तीन मुख्य चिन्ह है :—

(१) नित्य देवदर्शन।

(२) पानी छान कर पीना।

(३) रात्री भोजन का त्याग।

गर्मी में प्यास लगती, जिस स्थान या दुकान पर लोटे पर छनना लगा होता, निश्चिन्त होकर जल पी लेते सन्तोष रहता शुद्धता का। आज तीनो चिन्ह प्राय: लुप्त हो है। पानी छानकर पीना तो जैनी भूल ही गये है। रात्री मे भोजन युवक और वृद्ध सबके लिए अनिवार्य-सा हो गया है विवाह आदि मे स्पष्ट देख सकते है। ज्यादा वैभवशाली व ऐश्वर्यपूर्ण विवाहो मे तो कही-कही मदिरा अभक्ष भी चलने लगा है। देव दर्शन न होकर मात्र भिक्षुकवृत्ती होती जा रही है। शायद भगवान हमसे प्रसन्न होकर हमे धन-दौलत, लौकिक ऐश्वर्य प्रदान कर दे और हमारे परिग्रह व सांसारिक सुख मे बढ़ोतरी हो जाए, पुत्र पौत्र की प्राप्ति हो जाए। यद्यपि यह सब पूर्व संचित पुण्य के योग से ही प्राप्त होते है। पाप का उदय हो तो अभाव के ही दर्शन होते है।

पुण्य के विषय में निम्न बाते विचाराधीन है :—

(१) पुण्यानुबंधी पुण्य—पुण्य के उदयकाल मे समस्त अनुकूलता धन-सम्पत्ति, वैभव, सतान सुख, समाज म मान्यता प्राप्त होने पर भी निरन्तर देव पूजा, गुरू उपासना, दीन-दुखियों की सेवा, चारो प्रकार के दान, सत्-समागम, शुद्ध आचरण, श्रुत अभ्यास, आत्म-साधना द्वारा आत्मोन्नति करना, अपने आचरण से दूसरो को धर्म मार्ग की ओर प्रभावित करना यह सब कार्य पुण्य के उदय मे नवीन पुण्य संचयकर उज्ज्वल भविष्य प्रदान करते है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ की सिद्धि करते हैं।

(२) पापानुबंधी पुण्य—जिसके उदय में पूर्व संचित पुण्य के कारण समस्त अनुकूलताएँ धन ऐश्वर्य प्राप्त है। फिर भी क्रोध, मान, मायाचारी और लोभ के वशीभूत पाँच इन्द्रियों के भोगो में लिप्त प्राणी धर्म से विमुख आत्म-कल्याण से रहित कार्यों में अग्रसर होकर भविष्य को अधकारमय बनाता है जैसा आज प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। बाहर धार्मिकता का दिखावा है। अंतरग मे आचार विहीनता, अभक्ष भक्षण आदि धर्म विमुख कार्यों से निरन्तर शासन की अप्रभावना कर पाप बधकरता है और अपने भविष्य को अंधकारमय बनाता है।

(३) पुण्यानुबंधी पाप—पाप के उदय मे कोई अनुकलता प्राप्त नही, जीवनयापन भी दुष्कर है। फिर भी सन्तोष पूर्वक अपने कर्म का उदय जान शान्ति पूर्वक जीवन चलाता है। धर्म मार्ग से विचलित नही होता शासन की अप्रभावना अवहेलना भूल कर भी नही करता सबसे प्रेम का बर्ताव करता है। आत्मकल्याण में निरन्तर लगा रहता है इस प्रकार प्रतिकूलता मे ही आगामी भविष्य उज्ज्वल बनाता है।

(४) पापानुबंधी पाप—आज भी पाप का उदय दुखी कर रहा है। आगामी मे भी क्रोध की आग मे जल रहा है। धर्म मे विमुख होकर पापकार्य मे लगा है। ऐसे जीव को शान्ति सुख के दर्शन होने सम्भव ही नही है। वह अनत काल कुगति मे दुख भोगता है अनंत संसारी होता है।

जरा हम भी विचारें कि हम किस श्रेणी मे चल रहे हैं। क्या हमारा जीवन जैसा हम प्रदर्शित कर रहे हैं वैसा ही है। क्या हममे जैनत्व (जीतने वालों) के चिन्ह हैं क्या हम भगवान जिनेन्द्र देव की आज्ञानुसार शासन की प्रभावना कर रहे हैं क्या हम अपना आगामी मार्ग प्रशस्त व कल्याणकारी बना रहे हैं। कही ऐसा तो नही हमारे दैनिक चर्या खान-पान रहन-सहन अतिथि सत्कार धार्मिक क्रिया द्वारा हमें देखने वाले हमारे विषय मे गलत धारणा बनाकर जिनेन्द्र देव के शासन की निन्दा करें और हम अपने तीर्थंकरों के प्रशस्त मार्ग पर दोषारोपण के कारण बन जाये। जिन शासन की प्रभावना को धूमिल कर अपने आप को अयोग्य पुत्र साबित करे, जरा सोचने का विषय है।

—श्री प्रेमचन्द जैन

७/३२, दरियागज, नई दिल्ली

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयो पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन**, सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट